टूट गयी। मुझे प्यास लगी है। घास हरी है। इसमें मिठास थोड़ी है। उसने लम्बी साँस ली। ईख मीठा है। मुझे भूख लगी है। राख शेष रह गयी। उसकी चीख से घबड़ाहट पैदा हुई। उसकी काँख (कोख) में घाव हो गया है। बाजार में उसका बड़ी साख है। भाई की देख-रेख (देख-भाल) में वह पाला गया। शराब महँगी है। घर की मिहराब अच्छी है। किताब (पुस्तक) पुरानी है। उसने नालिश (कोशिश) की। उसका लाश की तलाश की गयी। बड़ी बारिश (वर्षा) हुई। जोश (आग, अग्नि) ठण्ढी पड़ गयी। उसकी आँखें बड़ी बड़ी हैं। उसका पूँछ (मूँछ) लम्बी है। उसकी कमर (बाँह) टूट गयी। उसकी नाक कट गयी। बाल का खाल मत खींचो। उसकी गर्दन लम्बी है। चाँदी सस्ती है। मणि कहाँ मिली? यह टेढ़ी खीर है। वहाँ की मूँग (अरहर) की दाल है। सरसों पीली हैं। चाय ठण्ढी है। गंदगी से लीख (जूँ) होती है। चील उड़ती है। बटेर (मैना) उड़ गयी। कोयल (कोकिला) कूकती है। जोक खून चूसती है। उसकी आत्मा शांत हुई है। उसकी आय (आयु) कितनी है? उसे बहुत औषधि दी गयी। रात में ओस गिरती है। किसी की उपेक्षा (अपेक्षा) मत करो। मै बड़ी उलझन में हूँ। ऋतु सुहावनी है। कलम भूल गयी। मेरी कसम कि तुम जाओ। सूर्य की किरण (रश्मि) पड़ रही थी। उसकी कमीज फट गयी। लम्बी गल्प मत हाँको। शीशे की चमक खतम हो गयी। पृथ्वी की चट्टान कई तरह की होती है। चप्पल पुरानी है। यहाँ चुंगी वसूल होती है। घाव में बड़ी जलन है। भाइयों में झंझट (तकरार) कैसी? उसकी तकदीर पर तरस आती है। तकिया गंदी है। उसकी ताबीज भूल गयी। तोप (बन्दूक) छूट रही है। बड़ी थकान हुई। उसने दंगा दी। दीमक बरसात में लगती है। यह भारतीय सभ्यता की देन है। दालचीनी तरकारी को स्वादिष्ट बनाती ह। आने मे देर हुई। उसने देह त्याग दी। नदी की धार (धारा) तेज है। घर की नीव कमजोर है। किसकी जय (विजय, पराजय, जीत, हार) होती है? उसकी पहचान न हुई। गज की पुकार पर श्रीकृष्ण दौड़े थे। पुलिस शांति कायम रखती है। यहाँ

की पाठशाला में प्रार्थना नित्य होती है। नाली से बदबू आती है। बूंद पड़ती है। बोतल फूट गयी। उसने भौं टेढ़ी की। मशाल जलती है। वह मिसाल बेजोड़ थी। मेज पुरानी है। राह (सड़क) अच्छी है। गर्मी में रेणु उड़ती रहती है। गंगा की रेत में जहाज कभी कभी फँस जाता है। यहां रेल चलती है। आजकल लू गिर रही है। आज सरकारी पैसे की लूट हो रही है। उसकी लिखावट सुन्दर है। मैंने उसे शरण दी। मेरी शंका मिटाओ। यह मेरी सामर्थ्य के बाहर है। अपनी संतान की रक्षा करो। उसे दो माह की सजा हुई। नमाज समाप्त हुई। विदेश में उसने तालीम पायी। यह तस्वीर किसकी है। उसकी गोद सूनी थी।

(ग) विपरीत लिंग वाले शब्द :—ऊँट-ऊँटिनी; कहार-कहारिन, चमार-चमारिन, छात्र-छात्रा, ताऊ-ताई, देवर-देवरानी, नायक-नायिका, पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका, बच्चा-बच्ची, बालक-बालिका, भाई-भौजाई, माता-पिता, मौसी-मौसा, मोर-मोरिनी, रानी-राजा, ससुर-सास, स्त्री-पुरुष।

Q 2. विशेषण बनाइए :—अग्नि—आग्नेय, अंत—अंतिम, अभिषेक—अभिषिक्त, अर्थ—आर्थिक, आत्मा—आत्मीय, आदर—आदृत (आदरणीय), आदि—आदिम, आनन्द—आनन्दित, आश्रय—आश्रित, इच्छा—इच्छित, इतिहास—ऐतिहासिक, उपज—उपजाऊ, उत्कर्ष—उत्कृष्ट, उन्नति—उन्नत (उन्नतिशील), कंटक—कंटकाकीर्ण (कंटकमय, कँटकित), कल्पना—कल्पित, कुल-कुलीन, क्षय-क्षयी, क्षण—क्षणिक, गान—गेय (गेतव्य), ग्राम—ग्राम्य (ग्रामीण), गुण—गुणी (गुणवान्), गौरव—गौरवान्वित, ज्ञान—ज्ञानी, घर—घरेलू, चलना—चलायमान, जटा—जटावान्, जल—जलीय, झगड़ा—झगड़ालू, तप—तपित, त्याग—त्यागी, तट—तटीय, तरंग—तरंगित, तिरस्कार—तिरस्कृत, तृषा—तृषित, त्रास—त्रस्त, दर्द—दर्दनाक, दर्शन—दर्शनीय, दिन—दैनिक, दूध—दूधैला (दुधिया, दुधारू), देव—दैविक, देह—दैहिक, धन—धनी (धनवान्), धर्म—धार्मिक, नगर—नागरिक (नागर), नाव—नाविक, निर्वासन—निर्वासित, निसर्ग—नैसर्गिक। पंक—पंकिल, पक्ष—पाक्षिक, पत्थर—पथरीला, पतन—पतित (पतन—

शील), पराजय-पराजित, परिवर्द्धन-परिवर्द्धित, परिवार-पारिवारिक, परिष्कार —परिष्कृत, पशु—पाशविक, पश्चिम—पश्चिमी, प्रकृत—प्राकृतिक, प्रमाण—प्रामाणिक, प्रसंग—प्रासंगिक, प्रथम—प्राथमिक, प्रयोजन—प्रयोजनीय, पृथ्वी—पार्थिव, पिता—पैतृक, पुष्प—पुष्पित, पूजा—पूजित (पूज्य), पेट—पेटू ,फल—फलित, बुद्धि—बौद्धिक, भूगोल—भौगोलिक, भूत—भौतिक, भ्रम—भ्रमित, मन—मनस्वी, मर्म—मार्मिक, मानस—मानसिक, मुख—मौखिक (मुखर), मूल—मौलिक, मंगल—मांगलिक (मांगल्य), मांस—मांसल, यंत्र—यांत्रिक, लात—लतखोर, वर्ष—वार्षिक, व्यवहार—व्यावहारिक, व्यक्ति—वैयक्तिक, वन-वनैला (वन्य) वायु—वायवी (वायवीय), विज्ञान—वैज्ञानिक, विजय—विजयी, विपत्ति—विपन्न, विश्वास—विश्वासी(विश्वस्त, विश्वसनीय), विधि-वैध, विधान-वैधानिक, शिक्षा—शिक्षित, शिशु—शैशव श्रम—श्रमित, श्रद्धा—श्रद्धालु, शोषण—शोषित, सप्ताह—साप्ताहिक, समय—सामयिक, समाज—सामाजिक, सूत-सूती, सम्पादक—सम्पादकीय, स्तुति—स्तुत्य (स्तुत), स्वर्ग—स्वर्गीय, स्वभाव—स्वाभाविक, स्वास्थ्य —स्वस्थ, संसार—सांसारिक, सूर्य—सौर, सेवा—सेवित, हृदय—हार्दिक।

Q. 3. शब्द युग्म—(१) लक्ष्मी बाई वीरांगना (वीर + अंगना) थी। घर का आँगना छोटा है। (२) यह मेरे अंश में नहीं है। उसके अंस पुष्ट हैं। (३) यह परमाणु (अणु) बम का युग है। अनु उपसर्ग का अर्थ पीछे होता है। (४) एक अनल कण में असीम शक्ति है। मलयानिल (अनिल) बह रहा है। (५) मैं उसके अभिराम नयन पर मुग्ध हो गया। अविराम परिश्रम करो। (६) कच विलोकि अलि अवली लजाहीं। हे अली (आली)! मैं तुम्हें खोज रही थी। (७) राम वनवास की अवधि चौदह वर्ष थी। रामायण अवधी भाषा में है। (८) अवृत्ति लोगों की संख्या बढ़ रही है। मैंने इस पुस्तक की आवृत्ति की। (९) अशित भोजन मत खाओ। वह असित वसना है। (१०) अंबुज का अर्थ है कमल। अंबुद का अर्थ है बादल। (११) मनु आदि पुरुष हैं। जाड़े में आदो खाओ (वह बात सुनने का आदी है)। (१२) मो समान आरत नहीं आरति हर तोसों। मैंने शिव की आरती-वन्दना की। (१३) वह आसन पर बैठा है। इन आसन्न कोणों का

योग बताओ। (१४) मैं इतर लोक की बात नहीं करता। जौनपुर में इत्र बनता है। (१५) राजा ने उन्हें यह उपाधि दी। वह बड़ा उपाधी लड़का है। (१६) इसका क्रय-मूल्य क्या है? यह कार्य आपके कर-कमलों द्वारा हुआ। केहरी करि का दुश्मन है। (१७) यह कलि युग है। कली खिल पड़ी। (१८) वह कुल कलंक है। नदी-कूल पर एक नाव थी। (१९) यह तुलसी कृत रामायण है। वह क्रीत दास है। (२०) उसका कृति का यह फल है। वह कृती पुरुष है। (२१) आप चिरायु हों। द्रौपदी का चीर-हरण हुआ था। (२२) गर्म तावे पर पानी 'छन्न' करता है। राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। (२३) वह होनहार छात्र है। क्षात्र धर्म का पालन करो। (२४) 'तप्त-गृह' काव्य ग्रन्थ है। जल पीकर मैं तृप्त हुआ। (२५) तरणि-तनुजा-तट तरणीपर तरुणी बैठी थी। (२६) आप राज दूत हैं। वह द्यूत में हार गया। (२७) मुफ्त दीन का दिन बुरा है। (२८) दीप जलाओ। इस द्वीप में द्विप मिलता है। (२९) तुम-सा पुत्र पाकर मैं धन्य हुआ। वह धन-धान्य से पूर्ण था। (३०) उसका नाम-निशान न रहा। शादी के अवसर पर निसान बज रहा था। (३१) पंछी नीर पीने के लिए नीड़ से निकला। (३२) पंच तत्व से बना शरीर पंचत्व को प्राप्त हुआ। (३३) सुशील पुरुष परुष वचन नहीं बोलता। (३४) विद्यालय के प्रधान श्वेत परिधान पहने हुए थे। (३५) इसका परिमाण अच्छा हुआ। घी थोड़ परिमाण में है। (३६) पानी गंदा है। वीणा-पाणि की पूजा करो। (३७) माँ के पार्श्व (पास) बच्ची खड़ी है। वह प्रेम-पाश में बँधा है। (३८) दूध पेय है। प्रेय एक अलंकार है। (३९) गुरु-प्रसाद से यह प्राप्त हुआ। यह राज प्रासाद है। (४०) यह हिंदी-प्रचारक पत्रिका है। उसे कई परिचारक थे। (४१) परिणय से उनका प्रणय दृढ़ हो गया। (४२) बलि का बकरा बड़ा बली है। (४३) वह बोझ वहन नहीं कर सका। वह राम की बहन (बहिन) है। (४४) यह अच्छी बात है। वह वातरोग से पीड़ित है। (४५) रविवार को मैं वहाँ कई बार गया। (४६) राम पूर्णब्रह्म थे। उसने लोह वर्म धारण किया। (४७) भारतीय भारती की पजा करते हैं। (४८) किसी छद के एक ही चरण की ठहराव यति कहलाती है। इस कुटिया में एक

यती रहता है। (४९) यह कविता सरस है। परहित सरिस धर्म नहीं भाई। (५०) रसना कसना राम रटै। रशनोपम उपमा अलंकार का भेद है। (५१) श्वेत वर्ण का वस्त्र पहनो। स्वयंवर में संयुक्ता ने पृथ्वीराज को वरण किया। (५२) वर्णों के दो भेद हैं-स्वर और व्यंजन। व्यजन का अर्थ है पंखा। (५३) तरकस में शर भर लो। सर में कमल खिले हैं। (५४) सब विद्यार्थियों के सामने शव-परीक्षा की गयी। (५५) नदी में शुक्ति मिलती है। यह किस कवि की सूक्ति है? (५६) आज शूची भेद्य अन्धकार है। इस पुस्तक में सूची नहीं है। शूचि मन से राम बोले। (५७) यह शुक्ल पक्ष है। निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा बच्चों को दी जायेगी। (५८) वह शूर बालक है। सूरदास हिन्दी के सूर थे। इन्द्र सुरराज हैं। (५९) शंकर-पार्वती को पूजो। वह वर्ण संकर है। (६०) इसकी शकल अच्छी है। यह सकल समाज जान गया। (६१) उसने सप्त वर्षों तक शप्त जीवन विताया। (६२) यशोदा सुत ने सूत का काम किया। (६३) हनुमान ने सीता-सुधि के लिए समुद्र लाँघा। यह सुधी-सूक्ति है।

Q. 4. विपरीतार्थक-शब्द—असाम-ससीम, आशा-निराशा, कोमल-कठोर, अक्षम-सक्षम, अचर-सचर, अतिवृष्टि-अनावृष्टि, अनाथ-सनाथ, अनुकूल-प्रतिकूल, अनुरक्त-विरक्त, अनुराग-विराग, भिज्ञ (अभिज्ञ)—अनभिज्ञ, अमावश्या-पूर्णिमा, आकाश-पाताल, आकर्षण-विकर्षण, आदर-अनादर(निरादर), आदान-प्रदान, आदि-अनादि (अवसान, अन्त), आमिष-निरामिष, आयात-निर्यात, आयास-अनायास, आवृत-अनावृत, आसक्ति-विरक्ति, आस्तिक-नास्तिक, इष्ट-अनिष्ट, उत्कृष्ट-निकृष्ट, उत्कर्ष-अपकर्ष, उत्थान-पतन, उन्नति-अवनति, उत्तम-अनुत्तम, उपकार-अपकार, एकता-अनेकता, ऋजु-वक्र, क्रय-विक्रय, कृतज्ञ-कृतघ्न, कृष्ण-शुक्ल (श्वेत), खारा-मीठा, चेतन-अचेतन, ज्येष्ठ-कनिष्ठ, दुर्गम-सुगम, देव-दानव, निंद्य-स्तुत्य, निंदा-स्तुति, निषध-विधि, नूतन-पुरातन, निर्दोष-अपराधी, निश्चेष्ट-सचेष्ट, परतन्त्र-स्वतंत्र, पुरस्कार-तिरस्कार, सायं-प्रातः, प्रसन्न-विषण्ण (खिन्न, अप्रसन्न), प्राचीन-नवीन (अर्वाचान), प्राची-प्रतीची, प्रख्यात-कुख्याति, भौतिक-अध्यात्मिक, मूक-वाचाल, यश-अयश (अपयश), योग-वियोग, राम-रावण,

रुग्न-निरुग्न, लोभ—निर्लोभ, लौकिक-अलौकिक, व्यष्टि-समष्टि, व्यर्थ-स्वर्थ, वहिष्कार-अंगीकार, विकीर्ण-संकीर्ण, विरह-मिलन, विधि-निषेध, विजय-पराजय, विग्रह-निग्रह (शान्ति), वैध-अवैध, शुष्क-आर्द्र, सज्जन-दुर्जन, समास-असमास, संत-असंत, संधि-विग्रह, संकीर्ण-विकीर्ण, सम्पन्न-विपन्न, स्वर्ग-नरक, स्थावर-जंगम, सचेष्ट-निश्चेष्ट, सफल-विफल, साकार-निराकार, साक्षर-निरक्षर, सुलभ-दुर्लभ, सूक्ष्म-स्थूल, स्वस्थ-अस्वस्थ, हर्ष-विषाद, ह्रास-वृद्धि। भाव-अभाव, नीरव-सरव, सत्साहस-दुस्साहस।

Q. 5. संधि (क) स्वर संधि—कंटक + अरि = कंटकारि। राम + अवतार = रामावतार। राम + अयन = रामायण। प्र + आंगन—प्रांगण। मुग्ध + अवस्था = मुग्धावस्था। अन्य + अन्य = अन्यान्य। विद्या + अर्थी = विद्यार्थी। उप + आदान = उपादान। इच्छा + अनुकूल = इच्छानुकूल। सह + अनुभूति = सहानुभूति। महा + आशय = महाशय। विद्या + आलय = विद्यालय। उपदेश + अंतः + गत = उपदेशान्तर्गत। गिरि + इन्द्र = गिरीन्द्र। मही + इन्द्र = महीन्द्र। नदी + ईश = नदीश। परि + ईक्षा = परीक्षा। मातृ + ऋण = मातृण। गज + इन्द्र = गजेन्द्र। सुर + इन्द्र = सुरेन्द्र। परम + ईश्वर = परमेश्वर। गण + ईश = गणेश। महा + ईश = महेश। राज + ईश्वर = राजेश्वर। लोक + उन्नति = लोकोन्नति। वर्ग + उन्नति = वर्गोन्नति। पर + उपकार = परोपकार। ग्राम + उद्धार = ग्रामोद्धार। हित + उपदेश = हितोपदेश। महा + उत्सव = महोत्सव। सर्व + उच्च = सर्वोच्च। परम + उन्नति = परमोन्नति। सप्त + ऋषि = सप्तर्षि। महा + ऋषि = महर्षि। राजा + ऋषि = राजर्षि। एक + एक = एकैक। सदा + एक = सदैव। तथा + एव = तथैव। परम + औषध = परमौषध। महा + औषधि = महौषधि। उपरि + उक्त = उपर्युक्त। यदि + अपि = यद्यपि। प्रति + अय = प्रत्यय। इति + आदि = इत्यादि। वि + आकुल = व्याकुल। अति + आचार = अत्याचार। प्रति + उपकार = प्रत्युपकार। नि + ऊन = न्यून। प्रति + एक = प्रत्येक। वि + आकरण = व्याकरण। वि + अंजन = व्यंजन। वि + अय = व्यय। वि + आयाम = व्यायाम। सु + अल्प = स्वल्प। सु + आगत = स्वागत। अनु +

अय = अन्वय । सम् + अनु + अय = समन्वय । अनु + अर्थ = अन्वर्थ । अनु + एषण = अन्वेषण । सु + अर्ग = स्वर्ग । पितृ + आज्ञा = पित्राज्ञा । ने + अन = नयन । गै + अक = गायक । नै + अक = नायक । गै + अन = गायन । पो + अन = पवन । गो + एषणा = गवेषणा । पो + इत्र = पवित्र । पौ + अन = पावन । भौ + उक = भावुक ।

(ख) व्यंजन संधि :—वाक् + मय = वाङ्मय । जगत् + नाथ = जगन्नाथ । प्राक् + मुख = प्राङ्मुख । सत् + निहित = सन्निहित । चित् + मय = चिन्मय । तत् + मय = तन्मय । उत् + नायक = उन्नायक । उत् + नति = उन्नति । दिक् + गज = दिग्गज । दिक् + अम्बर = दिगम्बर । दिक् + दर्शन = दिग्दर्शन । वाक् + ईश = वागीश । अप् + ज = अब्ज । तत् + आकार = तदाकार । जगत् + ईश = जगदीश । उत् + घाटन = उद्घाटन । सत् + ऐव = सदैव । सत् + आनन्द = सदानन्द । कृत् + अंत = कृदंत । उत् + योग = उद्योग । सत् + भावना = सद्भावना । उत् + भव = उद्भव । सत् + चरित्र = सच्चरित्र । उत् + चारण = उच्चारण । सत् + जन = सज्जन । उत् + लास = उल्लास । तत् + लीन = तल्लीन । परि + छेद = परिच्छेद । वि + छेद = विच्छेद । उत् + हार = उद्धार । उत् + शिष्ट = उच्छिष्ट । तत् + हित = तद्धित । उत् + शृंखल = उच्छृंखल । उत् + श्वास = उच्छ्वास । सत् + शास्त्र = सच्छास्त्र । सम् + चय = सञ्चय । सम् + तोष = सन्तोष । सम् + गठन = संगठन । शम् + कर = शंकर । सम् + कल्प = संकल्प । सम् + गीत = संगीत । सम् + भव = सम्भव । सम् + देह = सन्देह । सम् + हार = संहार । सम् + सार = संसार । सम् + योग = संयोग । सम् + रक्षा = संरक्षा । किम् + वा = किंवा । पृष् + थ = पृष्ठ । सम् + कार = संस्कार । सम् + कृत = संस्कृत । सम् + करण = संस्करण । परि + कृत = परिष्कृत ।

(ग) विसर्ग संन्धि—निः + चल = निश्चल । निः + चय = निश्चय । मनः + ताप = मनस्ताप । धनुः + टंकार = धनुष्टंकार । निः + सहाय = निस्साहय । दुः + साहस = दुस्साहस । निः + अर्थक = निरर्थक । निः + बल = निर्बल । निः + आधार = निराधार । निः + विवाद = निर्विवाद । निः +

रव = नीरव। निः + रस = नीरस। निः + आशा = निराशा। निः + आमिष = निरामिष। निः + भर = निर्भर। निः + रोग = नीरोग। अतः + एव = अतएव। यशः + दा = यशोदा। यशः + धरा = यशोधरा। मनः + कामना = मनोकामना। तपः + वन = तपोवन। सरः + वर = सरोवर। मनः + हर = मनोहर। निः + कपट = निष्कपट। निः + प्राण = निष्प्राण। निः + काम = निष्काम। श्रेयः + कर = श्रेयष्कर। प्रातः + काल = प्रातःकाल।

Q. 6. समास—(क) तत्पुरुष स०—विद्यार्थी-विद्या को चाहने वाला, सुखद-सुख को देने वाला, चिड़ीमार-चिड़ियों को मारने वाला, पाकिटमार पाकिट मारने वाला, आशातीत-आशा से परे, पारदर्शी (द्वि०), पददलित-पद से दलित, दुखसंतप्त-दुःख से संतप्त, जन्मांध-जन्म से अंधा, शोकाकुल-शोक से आकुल, मुँहमाँगा-मुँह से माँगा, कण्टकावृत-कण्टक से आवृत, तुलसीकृत-तुलसी के द्वारा किया गया, मदमाती-मद से मत्त (तृ०)। हथकड़ी-हाथ के लिए कड़ी, देशभक्ति—देश के लिए भक्ति, राहखर्च-राह के लिए खर्च (च०)। धनहीन-धन से हीन, शक्तिहीन-शक्ति से हीन, पथभ्रष्ट-पथ से भ्रष्ट, पदच्युत-पद से च्युत, ऋणमुक्त-ऋण से मुक्त (पं०), । राजपथ-राजा का पथ, राजभवन (गृह) राजा का भवन (गृह), राजपुत्र-राजा का पुत्र, पाठशाला-पाठ करने की शाला, गंगाजल—गंगा का जल, सभापति-सभा का पति, भृगुसंहिता-भृगु की संहिता, रामायण-राम का अयन, ग्रामोद्धार-ग्राम का उद्धार, पतझड़-पत्तों का झड़ना, मालगोदाम-माल का गोदाम, चरित्र-चित्रण (ष०)। रणशूर-रण में शूर, दानवीर-दान में वीर, नराधम-नरों में अधम, गृहस्थ-गृह में रहने वाला, मनगढत-मन में गढ़त, कामचोर-काम में चोर, पुरुषोत्तम-पुरुषों में उत्तम, कविश्रेष्ट-कवियों में श्रेष्ट (स०)। ग्रंथकार-ग्रंथ बनानेवाला, पंकज-पंक से जन्म लेनेवाला (उपपद त०)।

(ख) कर्मधारय स०—नील कमल-नीला कमल, नवयुवक-नव युवक, भलेमानुस-भला मानुस, सज्जन-सत्‌जन, वीरबाला-वीर बाला, महाकवि-महाकवि, घनश्याम-घन के समान श्याम, मृग नयनी-मृग के समान नयनवाली, लौह पुरुष-लौह सदृश पुरुष, भवसागर-भव रूपी सागर, गगनाँगन-गगन, रूपी आँगन,

पर्णकुटी-पर्ण निर्मित कुटी, दहीबाड़ा-दही मिश्रित बाड़ा, देवघर-देवता के लिए बना हुआ घर, कमलनयन—कमल के समान नयन।

(ग) द्विगु स०—त्रिभुवन-तीन भुवन, त्रिकोण-तीनकोण, त्रैलोक्य-तीन लोक, दोपहर-दो पहर, अठन्नी-आठ आना, दुअन्नी-दो आना, चतुर्मास-चारमास, छमाही-छ माह का, पंचपात्र-पाँच पात्र, षट्रस-छः रस, चौपाई-चार पाई।

(घ) द्वन्द्व स०—राजा-रानी, दिन-रात, सोच-विचार, अन्न-जल, मोटा-ताजा, भूल-चूक, लेन-देन, राधा-कृष्ण, सीता-राम, पाप-पुण्य, रुपया-पैसा, पच्चीस, आहार-व्यवहार। इन सब के बीच 'और' लुप्त है, जैसे पच्चीस-पाँच और बीस।

(ङ) बहुव्रीहि स०—पीताम्बर-पीलावस्त्र है जिसका(श्रीकृष्ण), नीलाम्बर नीला है वस्त्र जिसका (बलराम), दिगम्बर-दिक् है वस्त्र जिसका (जैन की एक शाखा, शिव), आशुतोष-आशु तुष्ट होता है जो (शिव), त्रिलोचन (त्रिनेत्र, त्रिनयन)-तीन नेत्र हो जिसे (शिवजी), मृत्युञ्जय-मृत्यु पर जय प्राप्त की है जिसने (शिवजी), चन्द्रशेखर-चन्द्र है शिखा पर जिसके (शिवजी), चतुर्भुज-चार हैं भुजाएँ जिसकी (विष्णु), पंचानन-पाँच हैं आनन जिसके (शिवजी) या चौड़ा है आनन जिसका (सिंह), इसी तरह चतुरानन (ब्रह्मा), षडानन (कार्त्तिकेय), दशानन (रावण), सहस्त्रानन (शेषनाग)। गोपाल-गो को पालता है जो (श्रीकृष्ण), पंकज (जलज, जलजात)-पंक-से उत्पन्न है जो (कमल), देशरत्न-देश का रत्न है जो (डा० राजेन्द्र प्रसाद), त्रिफला-तीन फलों का समूह है जो (आँवला, हर्रे, बहेड़ा का मिश्रण), राजगृह-राजाओं का गृह है जो (स्थान विशेष राजगीर)। रामचरितमानस, रामायण, तुलसीदास, गीतावली।

(च) नञ् स०—इसके विग्रह में अ, अन्, नि, बे को हटाना पड़ता है, जैसे-अधर्म-न धर्म। अक्षत, अद्वितीय, अनाथ, अलौकिक, अनादि, अनभिज्ञ, अनायास, अनर्थ, अनंत, अनपढ़, अनावश्यक, निर्विवाद, निस्सन्देह; बेगरज़, बेलाग, बेइज्जत, बेईमान, बेहोश, अनजान,

(छ) अव्ययी भाव स०—भरपेट-पेट भरकर, यथाशक्ति-शक्ति के अनुसार,

यथासाध्य-साध्य के अनुसार, विलग (अलग); प्रतिदिन-दिन-दिन; प्रतिबिम्ब-बिम्ब के सदृश, प्रतिशत-प्रतिशत, सापेक्ष-अपेक्षा सहित, समूल-मूल सहित, सविनय, सहाय; ससैन्य; आसेतुहिमाचल-सेतु से हिमाचल तक, आजीवन, आमूल, आजन्म, आमरण; यावज्जीवन-जीवन पर्यंत, लाठा-लाठी, हाथों-हाथ।

Q. 7. मुहावरा :—(क आप का पत्र उसने आँखों नहीं लगाया (हृदय से नहीं लगाना)। जब किसीने ओखली में सिर डाला, तब भला वह मूसलों को क्या गिने (विपत्ति में जानकर पड़ना)। सिर-दर्द से कल नहीं पड़ रहा है (चैन मिलना)। मृत्यु समाचार सुनते ही लोगों ने कुहराम मचा दिया (रोना पीटना करना)। उसकी पढ़ाई के खर्च ने तबाह कर दिया (परेशान करना)। बात छोटी थी, पर उसने राई को पर्वत बना दिया (छोटी बात को वहुट बड़ा देना)। होली में लोग दुश्मन को अङ्क देते (लेते, लगाते) हैं (गले लगाना)। काम करते-करते अङ्ग टट गये (थक जाना)। उसके चरित्र पर कौन उँगली उठा सकता है (दोषी ठहराना)? श्रीकृष्ण ने गोपोंको अंगुलियों पर नचाया था (इच्छानुसार चलाना)। वह माँगता रह गया पर राम अँगूठा दिखाकर चलता बना (तिरस्कारपूर्वक न देना)। इस नदीमें पुल बांधना आकाश के तारे तोड़ना है (असंभव काम करना)। जीवन में प्रवेश करने पर ही आटे-दाल का भाव मालूम होता है (कठिनाई का अनुभव होना)। मैंने उसे आज आड़े हाथों लिया (खरी-खोटी सुनाना)। कालेज जीवन में मेरा और सुनीता की आँखें अटक गयी हैं (मुहब्बत होना)। दो दिनों से मेरी आँख आ गयी है (दर्द और लाली होना)। आँख चार हुई और उनमें प्रेम पैदा हुआ (नजर मिलना)। अपनी सेवा के कारण वह जनता की आँखोंकी पुतली (आँखों का तारा) हो गया (अत्यन्त प्रिय होना)। तुम्हारे आँख दिखाने से मैं डर नहीं सकता (क्रोध करना)। पद पाते ही उसकी आँखें बदल गयीं (ख्याल बदलना)। वह लोगों की आँखों में धूल डालकर (धोखा देना) नौ-दो ग्यारह हो गया (चंपत हो जाना)। तुम तो आजकल ईद के चाँद हो गये हो (बहुत कम दिखायी पड़ना)। आज का छोकड़ा और मुझे उल्लू बनाता है (मूर्ख बनाना)। हाकिम की खुशामद करके वह उल्लू सीधा करता है (काम

बनाना)। तुम तो आधे तीतर आधे बटेर हो, तुम्हारा किसको विश्वास ? (दोरंगा होना)। उसका मृत्यु-संवाद सुनकर डाक्टर उल्टे पाँव लौट गया (शीघ्र ही लौट जाना)। एकमात्र पुत्र की मृत्यु से उसकी कमर टूट गयी (असहाय होना)। इसे पूरा करने के लिए मैंने कमर कस लिया है (दृढ़ निश्चय करना)। कलई खुल जाने पर ठग न ठहरा (रहस्य प्रकट होना)। कराहते हुए बच्चे को देखकर माँ का कलेजा मुँह को आ गया (अति व्याकुल होना)। उसकी उन्नति देखकर दुश्मन के कलेजे पर साँप लोटने लगा (ईर्षा से जलना)। वह चोरी करने में बापका कान काट रहा है (बुरे काम में बढ़ जाना)। खतरेकी घंटी पड़ते ही लोगोंके कान खड़े हो गये (सावधान होना)। कई बार प्रार्थना करने पर भी उनके कानपर जू नहीं रेंगता है (तनिक भी ध्यान न देना)। उसके खिलाफ तुम मेरा कान न भरो (शिकायत करना)। तू किस्मत को रोता है, हिम्मत करके पुनः उद्योग कर (पछताना)। करनी कुछ नहीं सिर्फ गाल बजाना जानते हो (लंबा-चौड़ा हाँकना, डींग मारना)। उसकी सफलता पर मैं घी के दीये जलाऊँगा (उत्सव मनाना)। खोये पुत्र के मिलनेसे उसे जी में जी आया (शांति मिलना)। करनी कुछ नहीं सिर्फ हर काम में वह टाँग अड़ाता है (फजूल दखल देना)। हाकिमों के तलवे सहलाकर आज वह इस पद पर पहुँच गया (खुशामद करना)। शिवाजी से लड़ने में औरंगजेब के दाँत खट्टे हो गये (हैरान होना)। शिवाजी ने औरंगजेब के दाँत खट्टे कर दिये (हराना)। उस बच्चे का दुस्साहस देखकर वे दाँतों तले अँगुली दबाने लगे (दंग रह जाना)। कई बार की असफलता से उसका दिल बैठ गया (हिम्मत हारना)। आदमी की आहट पाकर चोर दुम दबाकर भागा (डरकर भागना)। उसके कुकर्मों से वंश की नाक कट गयी (इज्जत जाना)। राम आपकी नाक का बाल हो गया है (अतिप्रिय होना)। हुमायूँ को नाकों चने चबाना पड़ा या नाकों दम कर दिया (बहुत तंग होना या करना), जब शेरशाह ने उसके विरुद्ध सिर उठाया (बगावत करना)। मैं नाक रगड़ता रहा, पर वह नहीं पसीजा (खुशामद करना)। वह किताब लेकर नौ-दो ग्यारह हो गया (झट चल देना)। चोरी पकड़ाने पर वह पानी-पानी (पसीना-पसीना) हो गया

(अति लज्जित होना)। शत्रु ने मैदाने जंग में पीठ दिखायी (हार कर भागना)। यह समाचार सुनते ही उसके पैर तले की मिट्टी खिसकने लगी (स्तब्ध-सा हो जाना)। वह मुझे देखते ही बगलें झाँकने लगता है (भागने की कोशिश करना)। अध्यवसायी जीवन-युद्ध में मैदान मारता है (सफल होना)। अकेले उससे कौन लोहा ले सकता है ? (सामना करना)। औरंगजेब शिवाजी का लोहा मानता था (कायल होना)। इसकी प्राप्ति के लिए लोहे के चने चबाना पड़ेगा (कठोर परिश्रम करना)। उसने युद्ध में वीरगति पाया (डटकर मृत्यु का सामना करना)। पुलिस हाथ गरम करने में बाज नहीं आती (घूस लेना)। डकैती में उसे एक दिन जान से हाथ धोना पड़ेगा (खो देना)। बाप के काम में वह हाथ बटाता है (मदद करना)। दूसरे की सम्पत्ति पर वह हाथ मारना चाहता है (हड़पना)। जहाँगीर पूर्णतः नूरजहाँ के हाथ में हो गया (अधीन होना)। नाना की सम्पत्ति उसे हाथ लगी (मिलना)। धोबी का कुत्ता न घर का, न घाट का (कहीं का नहीं)। इस प्रस्ताव पर मैंने हामी भर दी (मंजूर करना)। अवसर निकल जाने पर हाथ मलता रह गया (पछतावा करना)। छः पांच मत करो, शीघ्र रवाना हो जाओ (उधेड़ बुन में पड़ना)।

(ख) सिर उठाना (विरोध के लिए खड़ा होना)—अंगरेजों के मुकाबला के लिए कुंअर सिंह ने सिर उठाया। सिर आँखोंपर लेना (सादर स्वीकार करना) आप पधारें, मैं आप को सिर-आँखों पर लूँगा। सिर आँखों पर बैठाना (बहुत सम्मान करना)—वे मेरे पूज्य हैं, मैं उन्हें सदा सिर आँखों पर बैठाताहूँ। सिर खाना (बार-बार पूछकर तंग करना)—चुप रहो, घंटों से सिर क्यों खा रहे हो ? सिर चढ़ाना (गुस्ताख बनाना)—लड़के को तुमने सिर चढ़ा लिया है। सिर झुकाना (नतमस्तक होना)—मैं किसी के आगे सिर झुकाना नहीं जानता। सिर देना (जान देना)—गुरु तेग बहादुर ने अपना सिर दे दिया। सिर धुनना (पछताना)—अवसर निकल जाने पर वह सिर धुनता रह गया। सिर पर खून सवार होना (जान लेने पर उतारु होना)—उसे ऐसा गुस्सा आया कि सिर पर खून सवार हो गया। सिर पर सवार होना (पीछे

पड़ना)—सिर पर सवार हुए बिना वह काम नहीं करेगा। सिर मढ़ना (जबर्दस्ती जिमेदार बनाना)—उसने अपनी गलती मेरे सिर मढ़ दी। सिर मारना (अति प्रयत्न करना)—इस काम के पीछे वे सिर मारते रहे। सिर से कफन बाँधना (मरने को तैयार होना)—वह सिर से कफन बाँधकर घर से निकला है। सिर मूड़ना (ठगना)—हाट में दलाल ने मुंशी जी का भी सिर मूड़ लिया। सिर पटकना (जी तोड़ प्रयत्न करना) वह सिर पटककर रह गया, पर काम न हुआ। सिर फिरना (पागल होना)—मुफ्त की दौलत पाकर उसका सिर फिर गया है। सिर मुड़ाते ही ओले पड़ना (प्रारम्भ में ही हानि उठाना)—तुम्हें व्यापार में लाभ हुआ, पर यहाँ सिर मुड़ते ही ओले पड़े। सिर की खाज होना (बोझ हो जाना)—उसकी पत्नी उसके लिए सिर की खाज हो गयी है।

(ग) नाक कटना (बदनामी होना)—चोरी में पकड़े जाने से उसके खानदान की नाक कट गयी। नाक काटना (बदनाम करना)—झूठा अपराध लगा कर उसने तो आपकी नाक काट ली। नाक भौं चढ़ाना (क्रोध करना)—बात-बात में नाक भौं चढ़ाना अच्छा नहीं है। नाक में (नाकों) दम करना (परेशान करना)—जंगली जानवरों ने तो नाकों दम कर दिया है। नाक में दम आना—(परेशान होना)—मुझे तो तुमसे अब नाकों दम आ गया। नाक रख लेना (इज्जत बचा लेना)—तुमने रुपये देकर मेरी नाक रख ली। नाक रगड़ना (दीनतापूर्वक प्रार्थना करना)—उसने बहुत नाक रगड़ी, पर सुनवाई न हुई। नाकों चने चबाना (तंग करना)—शेरशाह ने हुँमायूँ को नाकों चने चबवाया। नाक का बाल होना (अति प्रिय होना)—तुम उसकी नाक के बाल हो गये हो जब से तुमने उसकी जान बचायी।

(घ) मुँह उज्ज्वल करना (प्रतिष्ठा बढ़ाना)—शुभ कार्यों से उसने अपने कुल का मुँह उज्ज्वल कर दिया। मुँह की लाली रहना (इज्जत रहना या बचना)—आपकी बदौलत मेरे मुँह की लाली रह गयी। मुँह छिपाना या चुराना (लज्जा से सामने न आना)—अपने कुकर्मों के कारण वह मुँह छिपाये फिरता है। मुँह देखी करना (खुशामद की बातें करना)—खुश करने के लिए

वह मुँह देखी करता है। मुँह की खाना (बुरी तरह हारना)—मुकदमे में उसे मुँह की खानी पड़ी। मुँह फुलाना (असंतोष प्रकट करना)–बात-बात पर तुम मुँह फुला लेते हो। मुँह में कालिख लगाना (अपमानित होना)—झूठ बोलकर सबके सामने उसने मुँह में कालिख लगा ली। मुँह मोड़ना (विरक्त होना)–सांसारिक भोगों से उसने मुँह मोड़ लिया। मुँह लगाना (उद्दण्ड बनाना)–मुँह लगाने से लड़का बरबाद हो गया। मुँह बन्द करना (निरुत्तर कर देना)—अपने तर्कों से मैंने उसका मुँह बन्द कर दिया। मुँह लाल करना (बहुत पीटना)—मारते-मारते उसने लड़के का मुँह लाल कर दिया।

Q. 8. (क) प्रत्यय और उपसर्ग में अंतर दिखाइए :—

Ans. (क) उपसर्ग :—(i) ये शब्दों के पहले जोड़े जाते हैं। (ii) ये क्रिया शब्दों के पहले नहीं आते हैं। (iii) भिन्न-भिन्न उपसर्गों के संयोगसे एक ही मूल शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं, अर्थात् इनके लगते ही मूल शब्द के अर्थ में विशेषता उत्पन्न हो जाती है, कभी-कभी उसका अर्थ बिल्कुल बदल जाता है। जैसे—संस्कृत के मूल धातु 'हृ (हार) का अर्थ है हरण करना, चुराना पर विभिन्न उपसर्गों के साथ इसका अर्थ विभिन्न हो जाता है—प्रहार (आघात), आहार (भोजन), संहार (विनाश), उपहार (भेंट) उद्धार = मुक्ति, विहार = भ्रमण, विचरण; (iv) मूल शब्द में चार-चार उपसर्ग भी एक साथ जोड़े जा सकते हैं। 'समभिव्याहार' में जो चार उपसर्ग हैं—सम् + अभि + वि + आ।

प्रत्यय—(i) ये शब्दों के अन्त में लगाये जाते हैं। (ii) ये क्रियाओं, संज्ञाओं और विशेषणों के अन्त में लगाये जाते हैं। जिससे नये संज्ञा तथा विशेषण शब्द बनते हैं। (iii) इनके लगाने से शब्दों के अर्थ और स्वरूप बदल जाते हैं, जैसे—तैराना से तैराक, मनुष्य से मनुष्यता या मनुष्यत्व, लाल से लालिमा, लाली। (iv) प्रायः एक प्रत्यय लगने के बाद केवल 'चरम प्रयत्य' (विभक्ति) ही लग सकते हैं। चरम प्रत्यय (विभक्तियों और काल-रचना में प्रयुक्त शब्दांशों) के आगे कोई दूसरी विभक्ति या शब्दांश फिर नहीं लग सकता है जैसे सुन्दर से "सौन्दर्य" बना, पर सौन्दर्य से

'सौन्दर्यता' करना गलत है; हाँ, 'सौन्दर्य ने' 'सौन्दर्य से' आदि बनते हैं। 'जाता है' में 'ता है' लगा है। अब 'सौन्दर्य ने' या 'जाता है' के आगे कोई प्रत्यय नहीं लग सकता है।

(ख) दिये हुए उपसर्गों और प्रत्ययों से शब्द बनाकर प्रयोग करें।

नीचे उपसर्ग और प्रत्यय ब्राकेट में दिये गये हैं और उनसे बने हुए शब्दों का प्रयोग वाक्यों में किये गये हैं :—

उपसर्ग :—अतिवृष्टि (अधि) से फ़सल नष्ट हो गयी। वह अपने देश का अधिनायक (अधि) है। मैंने उसका अनुसरण (अनु) किया। दीनता अभिशाप (अभि) है। मैं आजीवन (आ) आपके उपकार (उप) को नहीं भूल सकता। उत्कर्ष (उत्) अपकर्ष (अप) संसार के नियम हैं। यह उसका अवगुण (अव) (दुर्गुण-दुर्) है। मैंने उपवन (उप) में निवास (नि) किया। निर्गुण (निर्) और सगुण (स) भक्ति का प्रचार (प्र) प्रतिदिन (प्रति) बढ़ता गया। सुकर्म (सु) एवं संस्कार (सम्) के विषम (वि) पराभव (परा) का यह फल है। पुरोहित (पुरस्) ने अन्तः पुर (अन्तर्) की परिक्रमा (परि) की। उसने सर्वसाधारण (सर्व) को पुनर्जन्म (पुनर्) की भावना के बहिष्कार (बहिर्) का उपदेश (उप) दिया। कुकर्म (कु) के प्रादुर्भाव (प्रादुर्) से यह अधोगति (अधस्) (दुर्दशा-दुर्) हुई। चिरकालीन (चिर) अज्ञान (अ) स्वतंत्रता का दुश्मन है। यह पुरातन (पुरा) सभ्यता का अवशेष (अव) है। सत्कर्म (सत्) के सहयोग (सह) से वह सफल (स) हुआ। अकाल (अ) में या दुकाल (दु) में भरपेट (भर) भोजन नहीं मिलता। अधपक्का (अध) अन्न अवगुन (औ) करता है। वह उनतीस (उन) वर्ष तक अनब्याहा (अन) रहा। कमजोर (कम) आदमी को खुशदिल (खुश) रहना गैरमुमकिन (गैर) नामुमकिन (ना) है। हर रोज (हर) की हमदर्दी (हम) और नेकनीयती (नेक) दरअसल (दर) हमें बेजोड़ (बे) इन्सान बनाती है। यह सरहद (सर) लूटमार के लिए बदनाम (बद) है। हेडऑफिस (हेड) में लावारिस (ला) माल बाकायदा (बा) बदस्तूर (ब) नीलाम किया गया।

प्रत्यय :—वह तैराक है (आक)। कपड़ा टिकाऊ है (आऊ)। तू बड़ा खिलाड़ी है (आड़ी)। वह झगड़ालू है (आलू)। वह घुनिया है। (इया)। वह लुटेरा है (एरा)। वह भुलक्कड़ है (अक्कड़)। वह भिक्षुक है (उक)। आप नायक हैं (अक)। बिछौना लेते चलो (औना)। उसकी सजावट सुन्दर है (वट)। यह घबड़ाहट कैसी ? (हट)। लिखावट सुन्दर है (आवट)। उसने मुझे भुलावा दिया (लावा)। घर का निकास उत्तर की ओर है (आस)। पढ़ने की लगन होनी चाहि ;। इसकी चौड़ाई बतलाओ (आई)। लड़कपन (पन) और बुढ़ापा (पा) जीवन के साथ हैं। सूर्य की लालिमा भी समाप्त हुई (आप्त)। पुरुषत्व (त्व) में आलस्य (य) नहीं है। भिखारी (आरी) को पनिहारा (हारा) पानी पिला रहा था। डकैत (ऐत) गँजेड़ी (एड़) है। उस पहलवान (वान) ने अपनी जिन्दगी (गी) लड़ाई (आई) में बिता दी। मेरे घर का किरायेदार अफीमची (ची) है। बड़ों से मित्रता (ता) मत करो।

(ग) 'आहार' की तरह 'हार' के पूर्व और 'संसार' की तरह 'सार' के पूर्व उपसर्गों को जोड़कर पाँच-पाँच शब्द बनाकर उनके अर्थ लिखें।

'हार' —उद्धार = मुक्ति; उपहार = इनाम, प्रहार = आक्रमण, विहार = विचरण, भ्रमण, संहार = नाश।

'सार'—अनुसार = अनुकूल, अभिसार = नायक या नायिका को संकेत स्थान पर मिलने के लिए जाना। प्रसार = फैलाव। असार = तथ्यहीन, विसार = विस्मृति।

Q 9. शब्द-समूहों के लिए एक शब्द—जो किसी के हित की कामना करता हो—हिताकांक्षी। जिसका कोई अवलंब न हो—निरवलम्ब। दूसरों के लिए बोलनेवाला—प्रतिनिधि। जो पहले कभी न देखा गया हो—अदृष्ट पूर्व। जो पहले कभी न हुआ है—अभूतपूर्व। जो पहले कभी न किया गया है—अकृतपूर्व। देखने योग्य—दर्शनीय। जो दया करता हो—दयालु। समय पर आनेवाली बुद्धि—प्रत्युत्पन्नमतित्व। सिर से पैर तक—आपाद मस्तक। देने योग्य—देय। जो पीने योग्य हो—पेय। खाने योग्य हो—खाद्य। जो वचन द्वारा कहने योग्य न हो—अकथनीय, अनिर्वचनीय। जिसकी तुलना नहीं

है—अतुल्य। जिसके बराबर दूसरा न हो—अद्वितीय। जो दूर तक सोचता हो—दूरदर्शी, दूरंदेश। जो अपनी हत्या करे—आत्मघाती, आत्महन्ता। जीवनभर—आजीवन। प्रतिष्ठा प्राप्त किया हुआ—लब्ध प्रतिष्ठ। इतिहास जाननेवाला—इतिहासज्ञ। राजनीति जाननेवाला—राजनीतिज्ञ। जो कल्पना से परे हो—कल्पनातीत। याचना करनेवाला—याचक। अपनी पुत्री का पुत्र—दौहित्र, नाती। जिसका पति जीवित हो—सधवा। जिसका पति मर गया हो—विधवा। जिसकी स्त्री मर गयी हो—विधुर। जो सब कुछ जानता हो—सर्वज्ञ। किये हुए उपकार को मानने वाला—कृतज्ञ। किये हुए उपकार को न माननेवाला—कृतघ्न। किये हुए उपकार का बदला—प्रत्युपकार। जिसकी याद न हो—विस्मृत। शिव का उपासक—शैव। शक्ति का उपासक—शाक्त। विष्णु का उपासक—वैष्णव। मानव को छोड़कर—मानवेतर। वह जो तेज चलता हो—द्रुतगामी। आशा से अधिक—आशातीत। जिसके आर-पार देखा जा सके—पारदर्शक। पत्नी के भाई की स्त्री—सरहज। घुटनों तक लटकनेवाली भुजा—आजानु भुज (बाँह)। आकाश में गमन करनेवाला—खग, नभचर। पति की बहिन का पति—नन्दोई। क्षमा करने योग्य—क्षम्य। पूजा करने योग्य—पूज्य। जो दिया न जा सके—अदेय। जिस पर विश्वास किया जा सके—विश्वस्त, विश्वसनीय। जिसका शत्रु उत्पन्न नहीं हुआ है—अजातशत्रु। जो पशीने से उत्पन्न हुआ हो—स्वेदज। पाने की इच्छा—लिप्सा। रंगमंच के पीछे की जगह—नेपथ्य। वेद जाननेवाला—वेदज्ञ। प्रजाओं की राय के अनुसार जहाँ शासन हो—प्रजातंत्र राज्य। आकाश को चूमनेवाला—गगन चुम्बी। मृदुवचन बोलनेवाला—मृदु भाषी। जिसका दमन कठिन हो—दुर्दम्य। वह जो भेदा न जा सके—अभेद्य। मुक्ति का अभिलाषी—मुमुक्षु। मांस-मछली न खाने वाला—निरामिषाशी। हिमालय से सेतुबंध रामेश्वर तक—आसेतुरामेश्वर हिमालय। जमीन फोड़कर जन्म लेने वाला—उद्भिज। कुश के अग्र भाग के समान तीव्र बुद्धि वाला—कुशाग्र बुद्धि।

Q 10 शुद्ध कीजिए:—(१) वान एक सस्त्र की नाम है। (२) कोई देश कि उन्नती उसकी निवासीयों पर निरभर करती है। (३) लड़का भात

खाया है (४) राजा रानी आयी थी। (५) मुझको खुश नहीं हुआ। (६) वे कई बाघो को मारा। (७) हम तुम्हारी बात नहीं समझे। (८) सीता ने एक ग्रन्थ लाई है (९) मैं, तुम और वह चलेगा। (१०) यह बात कोई को मत कहना। (११) अन्धेरी रात को मुझको सड़क नहीं लोकता। (१२) वह ऐसा बात बोला कि जी खुशी हो गया। (१३) मेरी प्रान सूख गयी। (१४) उसकी दर्शन हुई। (१५) राम की राज्य में बाघ बकरी एक घाट पानी पीती थी। (१६) सीता मुस्करा दी। (१७) बाबूजी लिखिन है की माँ बिमार हो गये हैं। (१८) मैं आप से सविनयपूर्वक निवेदन करता हूँ। (१९) वह धैर्य नहीं हुआ। (२०) लड़की लोग आ रहे हैं। (२१) अधिकारी गण को इस ओर ध्यान देना आवश्यकीय है। (२२) यह काम में कभी शैथिल्यता न की जाय। (२३) तुम बोला कि नहीं? (२४) हम क्या करने सकता है?

Ans:—(१) बाण एक शस्त्र का नाम है। (२) किसी देश की उन्नति उसके निवासियों पर निर्भर करती है। (३) लड़केने भात खाया है। (४) राजा रानी आये थे। (५) मैं खुश नहीं हुआ या मुझे खुशी नहीं हुई। (६) उन्होंने कई बाघ मारे। (७) मैंने तुम्हारी बात नहीं समझी। (८) सीता ग्रन्थ लायी है। (९) वह, तू और मैं चलूँगा। (११) यह बात किसी से मत कहना। (११) अन्धेरी रात में मुझको सड़क नहीं लौकती। (१२) वह ऐसी बात बोला कि जी खुश हो गया। (१३) मेरे प्राण सूख गये। (१४) उसके दर्शन हुए। (१५) राम के राज्य में बाघ-बकरी एक घाट पानी पीते थे। (१६) सीता ने मुस्कुरा दिया। (१७) बाबूजी ने लिखा है कि माँ बीमार हो गयी है। (१८) मैं आप से सविनय निवेदन करता हूँ। (१९) उसे धैर्य नहीं हुआ। (२०) लड़कियाँ आ रही हैं। (२१) अधिकारीगण को इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। (२२) इस काम में कभी शिथिलता न की जाय। (२३) तुम बोले या नहीं? (२४) मैं क्या कर सकता हूँ?

Essays:—१. श्रमदान, सर्वोदय, समाज सेवा, ग्रामपंचायत। २. वसंत, चाँदनी रात, प्रकृति सुषमा। ३. समाचारपत्र, अध्ययन से लाभ। ४. विजयादशमी, होली, वसंत पंचमी, दुर्गा पूजा, हमारे त्योहार, सांस्कृतिक समारोह,

आपके विद्यालय की तुलसी जयंती। ५. नागरिक के कर्त्तव्य। ६. सहकारी खेती, भू-दान यज्ञ, सामुदायिक विकास योजना, पंचवर्षीय योजना, ७. राष्ट्र भाषा, राष्ट्रीय झंडा, राष्ट्र गान, स्वतन्त्रता दिवस, गणतन्त्र दिवस, ८. अनुशासन, व्यायाम, एकता, परोपकार, विनम्रता, समय का महत्त्व । ९. रिक्शा-वाला, भारतीय किसान । १०, देश की बेकारी समस्या और उसका समाधान, ११. निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा, बुनियादी शिक्षा, अनिवार्य सैनिक शिक्षा । १२. आप का सबसे अधिक प्रिय लेखक, कवि, ग्रन्थ या खेल, १३. ऐतिहासिक स्थान, औद्योगिक प्रदर्शनी या सर्कस जो आपने देखा हो, १४. विश्वशान्ति और उसके साधन, विज्ञान अभिशाप और वरदान, १५. देशाटन, नौका विहार, १६. महापुरुषों का जीवन चरित्र ।

साहित्यालाप

Q. 1 'साहित्य की महत्ता' के सम्बन्ध में द्विवेदी जी के विचार लिखें। या साहित्य का समाज से क्या सम्बन्ध है ?

Ans. द्विवेदी जी ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि साहित्य ज्ञान-राशि के सञ्चित कोष का नाम है। यदि कोई भाषा निर्दोष है, उसमें भावों को प्रकट करने की योग्यताएँ भी हैं किन्तु उसका निजी साहित्य नहीं है तो वह रूपवती भिखारिनी की तरह है और कुछ नहीं। साहित्य में हम सामाजिक शक्ति या सजीवता, अशक्ति या निर्जीवता और सभ्यता और असभ्यता की झलक पाते हैं। साहित्य बराबर समाज को नया जीवन, नयी शक्ति और नयी चेतना देता आया है। जब-जब सामाजिक व्यवस्थाएँ असफल हुई हैं, समाज में संघर्ष हुआ है, विप्लव मचा है, तब साहित्य में भी संघर्ष हुआ है, विप्लव मचा है। द्विवेदी जी ने लिखा है—'जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्य रूपी आईने ही में मिल सकती है।' इतना ही नहीं, बल्कि जिस प्रकार भोजन छोड़ देने से शरीर क्षीण हो जाता है उसी प्रकार साहित्य के रसास्वादन बिना मस्तिष्क भी धीरे-धीरे निष्क्रिय होकर बेकार हो जाता है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि जिस प्रकार विकृत भोजन से शरीर रुग्न हो जाता है उसी

प्रकार विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त हो जाता है। अतः स्वस्थ मस्तिष्क के लिये स्वस्थ साहित्य जरूरी है। यदि हमें सभ्यता की दौड़ में आगे बढ़ना है तो प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए।

जब कभी भी समाज की गति रुद्ध हुई है, साहित्यिक प्रवाह ने उमड़कर धक्का मारा है और जीवन के रास्ते का कूड़ा कर्कट साफ किया है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है उसके आगे तोप, तलवार और बम के गोलों की शक्ति भी निष्फल सिद्ध होती है। इसका जीता-जागता उदाहरण यूरोप में एक नहीं, अनेकों हैं। अतः जो व्यक्ति इतने महत्वशाली साहित्य की अभिवृद्धि नहीं करता, वह समाज-देश-द्रोही तो है ही आत्मद्रोही भी है।

साहित्य की उन्नति के साथ भाषा की उन्नति भी जरूरी है। विदेशी भाषाओं के दवाव से हमारी भाषा न दब जाय—यह भी ध्यान देने की बात है। किसी भी देश की भाषा का ज्ञानार्जन अनुचित नहीं, किन्तु प्रधानता अपनी ही भाषा को मिलनी चाहिए।

Q. 2 मातृभाषा की महत्ता का वर्णन करें।

Ans. मनुष्य की माता, मातृभूमि और मातृभाषा का महत्त्व एक समान है। माता जन्म देती है, मातृभूमि खेलने-कूदने, विचरण करने और सांसारिक जीवन-निर्वाह के लिए स्थान देती है और मातृभाषा मनोविचारों और मनोभावनाओं को व्यक्त करने की शक्ति देकर मनुष्य जीवन को सुखी बनाती है। मातृभाषा का आदर नहीं करनेवाला, उससे प्रेम नहीं करने वाला, उसके साहित्य की उन्नति नहीं करने वाला मनुष्य मातृभूमि की उन्नति कदापि नहीं कर सकता। उसकी देशभक्ति निस्सार है, निरर्थक है। राजनीतिक अभिलाषाओं की पूर्ण पूर्त्ति के लिए मातृभाषा की उन्नति करके एकता, जातीयता और राष्ट्रीयता के भावों को झोपड़ी में रहने वालों के हृदय में भी जागृत करना होगा। मातृभाषा सम्बन्धी स्वराज्य के बिना शासन सम्बन्धी स्वराज्य निस्सार है, लक्ष्य हीन है, क्षणिक है। किसी अंग्रेज से पूछा गया कि तुम्हें यदि स्वराज्य और शेक्सपियर की रचना में एक चुनना हो, तो किसे चुनोगे। उत्तर था

शेक्सपियर की रचना। कारण, शेक्सपियर की रचनाओं से प्रेरणा प्राप्त कर खोयी हुई स्वाधीनता अवश्य लौटायी जा सकती है, पर उसके अभाव में प्राप्त स्वाधीनता की रक्षा करने की क्षमता भी नहीं रह जायेगी। ये ही कारण है कि विजेता विजित देशों पर अपनी भाषा लाद देता है, जैसे अंग्रेजों ने भारत आदि देशों पर, इटली ने आस्ट्रिया के विजित प्रान्तों पर और जर्मनी ने दलित देशों पर अपनी-अपनी भाषा लाद दी थी। इसका कारण है स्वराज्य और स्वभाषा का घना सम्बन्ध। यदि भाषा गयी, तो अपनी जातीयता और सत्ता भी गयी। स्वभाषा की दृढ़ नींव पर ही स्वराज्य की नींव की दृढ़ता सम्भव है। इसलिए जिनमें राष्ट्रीयता का भाव जागृत है, जो जातीयता के महत्व को समझते हैं। जो एकता के जादू को जानते हैं, वे प्राण रहते मातृ-भाषा का त्याग नहीं करते; दूसरों की भाषा को अपनी भाषा कभी नहीं बनाते। जिन्दा देशों में यही होता है। मुर्दा अभागे देशों में तो ठीक इसका विपरीत होता है।

Q. 3 (क) देश में एक लिपि की आवश्यकता और उपयोगिता क्या है? (ख) देवनागरी लिपि की उत्कृष्टता या उसके गुणों पर प्रकाश डालिए।

Ans. (क) देश व्यापक लिपि का प्रश्न जब से भूतपूर्व जज श्री शारदा चरण मित्र ने उठाया तब से इस विषय में सजीवता आने लगी। उनके इस प्रस्ताव का वहुत हद तक समर्थन भी हुआ और कुछ हदतक विरोध भी। यूरोप में इङ्गलैंड, फ्रांस, स्पेन, जर्मनी, रूस, इटली, स्वीडन आदि अनेक देश हैं। इन देशों की भाषा अलग-अलग है, पर लिपि सबों की एक है। यही नहीं, बल्कि वही लिपि अमेरिका में भी है और आस्ट्रेलिया में भी। एक ही लिपि में सभी देश की भाषाएँ आसानी से लिखी जाती हैं। धर्म, परिच्छेद और देश भिन्न होने पर भी लिपि एकहोने से पारस्परिक सहानुभूति बढ़ती है। जहाँ भी किसी तरह की समता होती है, ममता जरूर होती है और इससे एकता आती है जो देश का बल है।

किसी देश में एक भाषा प्रचलित करने के लिए एक लिपि का होना

जरूरी है। द्विवेदी जी ने लिखा है–'एक भाषाका होना अधिक कष्टसाध्य है पर एक लिपि का होना उतना कष्टसाध्य नहीं।' हिन्दुस्तान में भी एक लिपि का प्रचार संभव है, असंभव नहीं। जिनकी भाषा संस्कृत से सम्वन्धित है और लिपि देवनागरी लिपि से मेल खाती है उनके लिए देवनागरी लिपि स्वीकार करने में कोई दिक्कत नहीं। वंगला, गुजराती तथा मराठी भाषाओं के लिए तो और भी इसे ग्रहण करना सहज है। डा० ग्रीयर्सन की तालिका से पता चलता है कि तीस करोड़ आदमियों में सवा वाइस करोड़ आदमी संस्कृत मूलक भाषा बोलते हैं। शेष पौने आठ करोड़ तामिल, तेलगू इत्यादि ऐसी भाषाएँ बोलते हैं जो संस्कृत से नहीं मिलती जुलती। कहने का तात्पर्य यह है कि आर्य भाषा बोलने वालों की अपेक्षा अनार्य भाषा बोलने वालों की संख्या सिर्फ एक चौथाई से कुछ ही अधिक हैं। जो लोग अरबी से निकली हुई फारसी लिपि लिखते हैं उनकी संख्या और भी मुट्ठी भर से अधिक नहीं। अतः हिन्दुस्तान के लिए देवनागरी लिपि ही सहज और उत्तम लिपि है। इससे बढ़कर दूसरी कोई वैज्ञानिक लिपि नहीं।

Q. 4 (क) देश-व्यापक भाषा (राष्ट्रभाषा) होने के लिए हिन्दी की योग्यता प्रमाणित कीजिए। (ख) हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का परिचय दें। (ग) हिन्दी-काव्य साहित्य की गरिमा का परिचय दीजिए।

Ans. (क) देश में एकरूपता लाने के लिये एक देशव्यापक भाषा का होना आवश्यक है। जब तक देश में एक भाषा न होगी, एक भाषा में देश के लोग अपना विचार व्यक्त न करेंगे, तब तक देश में एकता आना कठिन है। देश-व्यापक भाषा होने की क्षमता हिन्दी में ही है। क्योंकि देश के दो तिहाई लोग इस भाषा को बोलते और समझते हैं। शेष थोड़े दिनों के परिश्रम से ही इसे सीख सकते हैं।

समस्त भारत की भाषाएँ दो भागों में विभक्त है–एक आर्य भाषा और दूसरी द्राविड़ भाषा। आर्य भाषाओं में हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला, आदि हैं। इनका सम्वन्ध संस्कृत से है। हिन्दी और मराठी का निकट सम्पर्क है। दोनों की लिपि एक है। दोनों ही भाषाओं के बोलने वालों में

व्यावहारिक आदान-प्रदान है। सामाजिक सम्बन्ध है। गुजराती की लिपि और हिंदी की लिपि में पूर्ण समता है। गुजराती हिन्दी को और हिन्दी जाननेवाले गुजराती को दो-तीन दिनोंमें आसानी से सीख सकते हैं। राजपूताना के निकट होने के कारण गुजरातियों को हिन्दी बोलने वालों से अधिक सम्पर्क है। बंगला और मैथिली में बहुत कुछ समानता है। मैथिली हिन्दी का एक अंग है। दूसरी बात यह है कि बंगला लिपि देवनागरी लिपि का ही बिगड़ा हुआ रूप है। यदि बंगला भाषा का क्रिया पद हिन्दी कर दिया जाय तो हिन्दी और बंगला में बहुत कम अन्तर रह जाय। गुजराती के क्रिया-पद की भी यही हालत है। देश में एकरूपता लाने के लिए, देश को ठोस बनाने के लिये इन भाषाओं के पक्षपातियों को तो इतना-सा त्याग करना ही चाहिए।

अब रही अनार्य भाषाओं के तामिल और कनारी की बात। कनारी बोलने वालों की संख्या नगण्य है। दक्षिण में तामिल बोलने वालों की संख्या अधिक है। पर साथ-साथ यहाँ संस्कृत का अधिक प्रचार है। रामानुज, शंकर और वल्लभ के अनुयायी यहाँ अधिक पाये जाते हैं। संस्कृत से अधिक परिचय होने के कारण यहाँ के शिक्षित लोग देवनागरी लिपि से अधिक परिचित हैं। अत: यहाँ के शिक्षित लोग आसानी से हिन्दी सीख सकते हैं और इस प्रकार देश में एकरूपता ला सकते हैं।

देवनागरी लिपि भी संसार की सभी लिपियों से अधिक स्वस्थ है। सरलता, शुद्धता और पूर्णता में इसकी बराबरी संसार में कोई भी लिपि नहीं कर सकती है। वेडन, मौनियर विलियम्स, बम्बई हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस सर आर्किन वेरी और शमसुलुल्मा सैयद अली बिलग्रामी आदि विद्वानों ने इसकी पूर्णता की प्रशंसा मुक्त कंठ से की है। अत: देश में एकरूपता लाने के ख्याल से यदि देश के निवासी पक्षपात को छोड़ कर केवल देवनागरी लिपि को ही अपना लें और अपनी-अपनी भाषा के साहित्य को देवनागरी लिपि में ही लिखने की चेष्टा करें तोभी देश का बहुत कल्याण हो सकता है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने इस प्रकार अनेक सुन्दर अखण्ड्य और स्वस्थ दलील देकर हिन्दी की देशव्यापक भाषा होने की क्षमता को प्रमाणित किया है।

जरूरी है। द्विवेदी जी ने लिखा है—'एक भाषाका होना अधिक कष्टसाध्य है पर एक लिपि का होना उतना कष्टसाध्य नहीं।' हिन्दुस्तान में भी एक लिपि का प्रचार संभव है, असंभव नहीं। जिनकी भाषा संस्कृत से सम्बन्धित है और लिपि देवनागरी लिपि से मेल खाती है उनके लिए देवनागरी लिपि स्वीकार करने में कोई दिक्कत नहीं। बंगला, गुजराती तथा मराठी भाषाओं के लिए तो और भी इसे ग्रहण करना सहज है। डा० ग्रीयर्सन की तालिका से पता चलता है कि तीस करोड़ आदमियों में सवा बाइस करोड़ आदमी संस्कृत मूलक भाषा बोलते हैं। शेष पौने आठ करोड़ तामिल, तेलगू इत्यादि ऐसी भाषाएँ बोलते हैं जो संस्कृत से नहीं मिलती जुलती। कहने का तात्पर्य यह है कि आर्य भाषा बोलने वालों की अपेक्षा अनार्य भाषा बोलने वालों की संख्या सिर्फ एक चौथाई से कुछ ही अधिक हैं। जो लोग अरबी से निकली हुई फारसी लिपि लिखते हैं उनकी संख्या और भी मुट्ठी भर से अधिक नहीं। अतः हिन्दुस्तान के लिए देवनागरी लिपि ही सहज और उत्तम लिपि है। इससे बढ़कर दूसरी कोई वैज्ञानिक लिपि नहीं।

Q. 4 (क) देश-व्यापक भाषा (राष्ट्रभाषा) होने के लिए हिन्दी की योग्यता प्रमाणित कीजिए। (ख) हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का परिचय दें। (ग) हिन्दी-काव्य साहित्य की गरिमा का परिचय दीजिए।

Ans. (क) देश में एकरूपता लाने के लिये एक देशव्यापक भाषा का होना आवश्यक है। जब तक देश में एक भाषा न होगी, एक भाषा में देश के लोग अपना विचार व्यक्त न करेंगे, तब तक देश में एकता आना कठिन है। देश-व्यापक भाषा होने की क्षमता हिन्दी में ही है। क्योंकि देश के दो तिहाई लोग इस भाषा को बोलते और समझते हैं। शेष थोड़े दिनों के परिश्रम से ही इसे सीख सकते हैं।

समस्त भारत की भाषाएँ दो भागों में विभक्त है—एक आर्य भाषा और दूसरी द्राविड़ भाषा। आर्य भाषाओं में हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला, आदि हैं। इनका सम्बन्ध संस्कृत से है। हिन्दी और मराठी का निकट सम्पर्क है। दोनों की लिपि एक है। दोनों ही भाषाओं के बोलने वालों में

व्यावहारिक आदान-प्रदान है। सामाजिक सम्बन्ध है। गुजराती की लिपि और हिंदी की लिपि में पूर्ण समता है। गुजराती हिन्दी को और हिन्दी जाननेवाले गुजराती को दो-तीन दिनोंमें आसानी से सीख सकते हैं। राजपुताना के निकट होने के कारण गुजरातियों को हिन्दी बोलने वालों से अधिक सम्पर्क हैं। बंगला और मैथिली में बहुत कुछ समानता है। मैथिली हिन्दी का एक अंग है। दूसरी बात यह है कि बंगला लिपि देवनागरी लिपि का ही बिगड़ा हुआ रूप है। यदि बंगला भाषा का क्रिया पद हिन्दी कर दिया जाय तो हिन्दी और बंगला में बहुत कम अन्तर रह जाय। गुजराता के क्रिया-पद की भी यही हालत है। देश में एकरूपता लाने के लिए, देश को ठोस बनाने के लिये इन भाषाओं के पक्षपातियों को तो इतना-सा त्याग करना ही चाहिए।

अब रही अनार्य भाषाओं के तामिल और कनारी की बात। कनारी बोलने वालों की सख्या नगण्य है। दक्षिण में तामिल बोलने वालों की संख्या अधिक है। पर साथ-साथ यहाँ संस्कृत का अधिक प्रचार है। रामानुज, शंकर और वल्लभ के अनुयायी यहाँ अधिक पाये जाते हैं। संस्कृत से अधिक परिचय होने के कारण यहाँ के शिक्षित लोग देवनागरी लिपि से अधिक परिचित है। अतः यहाँ के शिक्षित लोग आसानी से हिन्दी सीख सकते हैं और इस प्रकार देश में एकरूपता ला सकते हैं।

देवनागरी लिपि भी संसार की सभी लिपियों से अधिक स्वस्थ है। सरलता, शुद्धता और पूर्णता में इसकी बराबरी संसार में कोई भी लिपि नहीं कर सकती है। वेडन, मौनियर विलियम्स, बम्बई हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस सर आर्किन वेरी और शमसुलुल्मा सैयद अली विलग्रामी आदि विद्वानों ने इसकी पूर्णता की प्रशंसा मुक्त कंठ से की है। अतः देश में एकरूपता लाने के ख्याल से यदि देश के निवासी पक्षपात को छोड़ कर केवल देवनागरी लिपि को ही अपना लें और अपनी-अपनी भाषा के साहित्य को देवनागरी लिपि में ही लिखने की चेष्टा करें तोभी देश का बहुत कल्याण हो सकता है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने इस प्रकार अनेक सुन्दर अखण्ड्य और स्वस्थ दलील देकर हिन्दी की देशव्यापक भाषा होने की क्षमता को प्रमाणित किया है।

Q. 5 (क) 'पुरातत्व विषयक साहित्य' की आवश्यकता बतलाइए। (ख) जीवित (सजीव) भाषा से आप क्या समझते हैं? प्रमाणित करें कि हिन्दी जीवित (सजीव) भाषा है। या हिन्दी साहित्य की ग्राहिका शक्ति के बारे में द्विवेदी जी के विचार लिखिए।

Q. 6 कवि और कवि-सम्मेलन के बारे में द्विवेदीजी के विचार क्या हैं?

Ans. कवित्व-शक्ति की प्राप्ति प्रकृति या परमेश्वर की कृपा से ही होती है। उसे अलौकिक दान कहना चाहिए। ब्रह्मा की तरह कवि भी अपनी अलग सृष्टि का सृजन करता है। वह अपनी रचना से क्षुद्र को भी अमर और प्रतापियों को भी कलंकित कर सकता है। उसकी कृति अनन्त काल तक बनी रहती है। कवि की शक्ति एवं प्रभुता अनन्त है। प्रकृत कवि रोनेवालों को हँसा सकता है, हँसनेवालों को रुला सकता है। वह कायरों के नसों में वीरता का संचार करता है, देश-द्रोही को देशभक्त बना सकता है, पथभ्रष्ट को सुमार्ग पर ला सकता है

प्रकृत कवि के हृदय में कवित्व का संस्कार जन्म से ही होता है। वह थोड़ ही परिश्रम एवं परिशीलन से अपनी कवित्व-शक्ति को विकसित कर सकता है। पर बना हुआ कवि बहुत परिश्रम और परिशीलन से भी थोड़ी ही कवि-शक्ति प्राप्त कर सकता है। श्रम, शिक्षा और अध्ययन दोनों के लिए आवश्यक हैं।

उर्दू के कवियों और मुशायरों की देखादेखी हिन्दी-कवियों के भी सम्मेलन होने लगे। उपहार और पुरस्कार के लालच में विवाद बढ़ता है, वैमनस्य उत्पन्न होता है, दलबन्दी होती है। पर कवि- सुकवि और कुकवि भावी सफलता की आशा में अधिक उत्साह एवं श्रमपूर्वक रचना में लग जाते हैं। उपहार न सही, शाबाशी मिलने से भी कवियों का उपकार होता है। रचना के अभ्यास से छंदशास्त्र एवं नये शब्दों के ज्ञान और मनोभावों को चुस्त भाषा में व्यक्त करने की शक्ति का प्रचार होता है। अतः कवि सम्मेलनों और समस्या-पूर्तियों की वृद्धि व्यर्थ या साहित्य को हानि पहुँचानेवाली नहीं कही जा सकती हैं। कई कवि-सम्मेलनों की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी ने

लिखा है कि आपस की दलबन्दी दूर करनी चाहिए। हिन्दी भाषा से सम्बद्ध सभी बोलियों के कवियों को प्रत्येक कवि-सम्मेलन में आमंत्रित करना चाहिए।

प्रदक्षिणा

Q. 1. (क) प्रदक्षिणा के आधार पर भरत, लक्ष्मण, सीता, उर्मिला, हनुमान या विभीषण का चरित्र-चित्रण कीजिए। (ख) "पुरुषों में पितृपक्ष प्रबल है, मातृपक्ष कैसा ही हो'—इसकी पुष्टि कीजिए। (ग) प्रदक्षिणा की कथा वस्तु संक्षेप में लिखें।

(क) भरत का चरित्र-चित्रण—भरत महाराज दशरथ और महारानी कैकेयी के पुत्र हैं। इनकी समता कुछ हदतक राम से ही हो सकती है, अन्य भाइयों से नहीं। वे राम की तरह सांवले वर्ण के हैं और उन्हीं की तरह वीर, गंभीर और विवेकी भी। राम के निर्वासित काल में वे अयोध्या में उपस्थित न थे। जब वे ननिहाल से लौटे तो राम के विना उन्हें शान्ति न मिली। वे राम के दर्शनार्थ सीधे चित्रकूट की ओर दल-बल के साथ चल पड़े। वहाँ पहुँचकर राम के चरणों को पकड़कर तथा लक्ष्मण को प्रेम-पाशों में बाँधकर' उन्होंने अपने को धन्य माना। भरत की माँ यद्यपि तिरस्कृत थी किन्तु भरत ने प्रगाढ़ भातृ-प्रेम द्वारा पाठकों के समक्ष यह सिद्ध कर दिया कि 'पुरुषों में पितृपक्ष प्रबल है, मातृपक्ष कैसा ही हो।' भरत को अपनी माँ के कुकर्मों के लिए काफी ग्लानि है, पश्चाताप है, खीझ है, टीस है, कसक और वेदना भी। निर्विकार रूपसे हृदय चीर कर मानों राम के आगे रख देते हैं और कहते हैं—भाईसे दुराव कैसा, हिचक कैसी तथा संकोच कैसा ? राम उनकी दर्दभरी बातों से काफी प्रभावित होते हैं और कह उठते हैं 'तुम अनन्य नागर हो मेरे, मैं वनमें ही आज हरा ?' राम उन्हें प्रजा की ओर ध्यान देने को कहते हैं। अपकीर्त्ति तो मृत्यु के समान है ही, किन्तु कर्त्तव्यहीन होना तो और भी बुरा है। राम का एकमात्र यही आदेश है। भरत राम की आज्ञा शिरोधार्य मानते हैं, उनकी खड़ाऊँ को ही उनके प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार करते हैं और प्रजापालन के कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। भरत की शीलता, विनम्रता तथा चारित्रिक दृढ़ता से राम गद्-गद् तथा सजल नेत्र होते दीख

ड़ते ही हैं, लक्ष्मण भी स्पष्ट रूप से कह उठते हैं। 'भुवन में तुम्हीं भरत भैया हो धन्य'। अतः स्पष्ट है कि राजा दशरथ ने राम के लिए जान दे दी और भरत ने भी भ्रातृप्रेम के कारण गृह में रहकर सन्यासी का जीवन यापन किया। ठीक ही है – "पुरुषों में पितृपक्ष प्रबल है, मातृपक्ष कैसा ही हो"।

(ख) देखें उत्तर (क) भरत का चरित्र-चित्रण।

Q. 2. (क) प्रदक्षिणा के आधार पर सीताहरण, लक्ष्मण-परशुराम-संवाद, सीता-हरण के पूर्व सीता-लक्ष्मण-संवाद, राम-रावण युद्ध का वर्णन करें।

(ख) "उठा पिता के भी विरुद्ध मैं किन्तु आर्य भार्या हो तुम,
इससे तुम्हें क्षमा करता हूँ, अबला आर्या हो तुम"

इन पंक्तियों में जिस प्रसंग का उल्लेख है उसका वर्णन करें।

(ग) इस पुस्तक का नाम 'प्रदक्षिणा' क्यों रखा गया है इस विषय पर अपने विचार प्रगट कीजिए।

Ans. (क) सीता-हरण– राम, लक्ष्मण और सीता चित्रकूट के बाद दंडक वन आये और वहीं गोदावरी के किनारे पंचवटी में पर्णकुटी बनाकर रहने लगे। एक दिन संयोगवश रावण की बहिन शूर्पनखा वहाँ आयी और वह राम-लक्ष्मण से टेढ़ी चाल चली। उसकी चाल तो चली नहीं, बल्कि स्वयं ही नाक-कान रहित होकर लौटी।

रावण को अपनी बहिन की दुर्दशा न देखी गयी और वह मारीच के साथ वहाँ पहुँचा। उसने स्वयं तो साधु का रूप धारण किया और मारीच को स्वर्ण मृग बनाकर सीता की कुटी के सामने भेजा। सीता स्वर्ण मृग को देखकर मुग्ध हो गयी। फलस्वरूप राम उसे मारने के लिए आश्रम छोड़कर बाहर चले आये। कुछ दूर जाने पर उन्होंने बाण छोड़ा और मृग को घायल किया। मरते समय छली मारीच ने जो मृग के रूप में था, आर्त्तनाद किया– 'हा सीते'। सीता इस आर्त्तनाद से चंचल हो उठी और उन्होंने लक्ष्मण को वहाँ जाने के लिए बाध्य किया। लक्ष्मण ने उन्हें समझाया कि राम को तीनों लोक में कोई कुछ नहीं कर सकता है, फिर उसके लिए भय कैसा, चिन्ता कैसी?

सीता ने उनकी बातें नहीं मानी। अन्त में उन्हें जाना ही पड़ा। जाते समय लक्ष्मण ने कुटी के आगे रेखा खींच दी और सीता को इस रेखा के भीतर ही रहने की ताकीद की। इस बीच रावण को अच्छा मौका मिला और सीता का जबर्दस्ती पकड़ कर आकाश मार्ग से ले चला। सीता भय के कारण चिल्ला नहीं सकी, अपितु अचेत सी हो गयी। उस वन का वातावरण सूना-सूना प्रतीत होने लगा। वृद्ध जटायु ने भी रावण को रोकना चाहा किन्तु उस दुष्ट और पापी ने वृद्ध जटायु के डैनों को भी काट डाला। इधर जटायु मौत का शिकार बना, उधर रावण लंका पहुँचा।

लक्ष्मण-परशुराम-सम्वाद :—हिन्दी-साहित्य के उदयीमान एवं राष्ट्र-कवि मैथिली शरण 'गुप्त' ने अपने उपास्य मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की अपनी साहित्यिक 'अर्चना' की परिसमाप्ति 'प्रदक्षिणा' के द्वारा करते हुए जनकपुर में शिव चाप भंग हो जाने के पश्चात् उपस्थित परशुराम और लक्ष्मण का स्वस्थ एवं ऐतिहासिक सम्वाद प्रस्तुत किया है।

शिव-चाप भंग हो गया है। चाप की ध्वनि सुनकर महर्षि परशुराम यज्ञ शाला में उपस्थित है। चाप को भग्न देख कर वे अत्यन्त क्रुद्ध हो रहे हैं। अपनी क्रुद्ध-वाणी में वे कहते हैं—"मैं वही परशुराम हूँ, जिसने इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार किया है।" यह सुन लक्ष्मण ललकार कर कहते हैं—"तब राम ने अवतार नहीं लिया था।" लक्ष्मण पुनः कहते हैं—विप्रवर ! आप का क्रोध व्यर्थ है। यह धनुष अत्यन्त पुराना था। छूते ही टूट गया। भगवान् राम को दोष देना व्यर्थ है। पर परशुराम कब सुननेवाले थे। वे और आग बबूला हो उठे और राम से कहने लगे—"ले, तू यह मेरा वैष्णव चाप चढ़ा।" फिर क्या था; हँसते हुए भगवान् ने उनके हाथ से वैष्णव धनुष को ले लिया क्योंकि विष्णु के अवतार होने के कारण वह तो अपनी ही चीज थी। उन्होंने परशुराम को सम्बोधित करते हुए कहा—"मुने ! इस धनुष का प्रभाव तो आप को ज्ञात ही है।"

परशुराम का सन्देह दूर हो गया। महान् लोग महान् व्यक्तित्व से शीघ्र ही प्रभावित हो जाते हैं। परशुराम अपनी हार पर भी मुग्ध एवं हर्षित थे।

उ होंने राम को भ ुवनभार हर्त्ता के रूप में देख लिया था। संतुष्ट होकर स्वर्ग से भ अ धक उपादेय तीर्थाटन के लिए वे चल पड़े। (ख) देखें (क) सीताहरण।

Q. 3. (क) चित्रकूट में राम-भरत-मिलन का वर्णन कीजिए।

(ख) प्रमाणित करें कि लंका-विध्वंस और रावण की मृत्यु की जड़ शूर्पनखा ही थी।

(क) भरत-मिलाप—राम के वन जाने के समय भरतजी ननिहाल में थे। वहाँ से लौटने पर उन्होंने पाया अयोध्या वैभवविहीन है। दशरथ, राम, लक्ष्मण एवं सीता रहित अयोध्या उन्हें काटने लगी। परिजन—पुरजन सहित भायप-भक्ति से भरे भरत नंगे पाँव राम को मनाने जा रहे हैं। चित्रकूट पहुँचते ही भरत राम के चरणों पर गिर पड़ते हैं। आनन्द-विभोर राम कहते हैं—मातृपक्ष कैसा भी क्यों न हो, पुरुषों में पितृपक्ष ही प्रबल रहता है। भरत आत्मग्लानि से गड़े जा रहे हैं। वे कहते हैं कि मैं कैसे कहूँ कि आप पिता की आज्ञा न मानें पर मैं किस प्रकार जी सकूँगा। वे अपयश के भार से दवे जा रहे हैं। राम उन्हें धैर्य रखने का उपदेश देते हैं। यदि अपयश मृत्यु-तुल्य है तो कर्त्तव्यहीनता उससे भी बुरी है। भावना से कर्त्तव्य बड़ा है। तुम भावना में न बहो। कर्त्तव्य की पुकार सुनो। प्रजा-पालन करना तुम्हारा परम कर्त्तव्य है। तुम्हारे कर्त्तव्य-पालन से मुझे तुम्हारे बड़े भाई होने का गौरव मिले।

"साधु भरत का अग्रज हूँ मैं, यही राम का परिचय हो।
इससे अधिक लोभ जीवन में, भरत तुम्हारी क्या जय हो।"

राम की खड़ाऊँ को राम के प्रतिनिधि मानकर प्रजा-पालन के कर्त्तव्य-भार को भरत जी उठा लेते हैं। सभी लोग गद्-गद् हो जाते हैं। भरत अयोध्या लौट आते हैं। धन्य है भरत! धन्य है भरत की भ्रातृ-भक्ति!!

Q. 4. (क) "जीत न सका एक अबला का मन तू विश्वविजयी कैसा,
जिन्हें तुच्छ कहता है, उनसे भागा क्यों तस्कर जैसा ?"

इन पंक्तियों में जिस प्रसंग का उल्लेख हुआ है उसका वर्णन कीजिए।

(ख) लक्ष्मण मूर्च्छा के पश्चात् राम की शोक-विह्वलता का वर्णन करें। या प्रदक्षिणा के सबसे अधिक मर्मस्पर्शी स्थल का वर्णन करें।

Ans. :—(क) सीता राक्षसराज रावण की अशोक-वाटिका में हैं। रावण भय और प्रीति दोनों ही के सहारे उनसे प्रणय-याचना कर रहा है। वह भगवान् राम को अदना और अपने को महान् सावित कर रहा है। इसलिए सीता उसे एक घटना की याद दिलाती हुई फटकार रही हैं। वह कहती हैं अरे दुष्ट, तुम्हारी पत्नी मन्दोदरी भी तुम्हारी दुश्चरित्रता पर तुम से घृणा करता है। उसके हृदय में तुम्हारे प्रति वह स्थान नहीं है जो एक पत्नी के हृदय में अपने पति के प्रति होना चाहिए। वेचारी साध्वी मन्दोदरी तुम्हारे आचरण पर क्षब्ध रहती है; अतः उसके हृदय पर तुम्हारा सच्चा अधिकार नहीं है। भला, यह तो कह, तुम जिस रघुकुलराज को तुच्छ कहते हो उनसे चोर की तरह जान बचाकर भागे हो। याद करो, एकवार सरयूतट पर भगवान् राम अपने भाइयों के साथ खेल रहे थे। महाराज दशरथ तटपर संध्या कर रहे थे। रावण, तुम मशक बन कर वहाँ अपनी दुष्टता जाहिर करने गये थे। राम ने तुम्हें पकड़ कर जब मसल डालना चाहा था तो दशरथ को दया आ गयी थी और उन्होंने तुम्हें छुड़ा दिया था। तुम जान बचाकर चोर की तरह भागे थे।

सारिका :—Q. (क) विराम चिह्न, आत्मा राम, अपना-अपना भाग्य, वंशीवाला, उसकी माँ; कहीं धूप, कहीं छाया की कहानी की कथावस्तु संक्षेप में लिखकर बतलाइए कि उसे लिखने में कहानीकार का उद्देश्य क्या है? या कहानी के मुख्य पात्र का चरित्र-चित्रण कीजिए।

(ख) 'कहीं धूप, कहीं छाया' में लेखक ने जिस सामाजिक विषमता का उल्लेख किया है, उसका वर्णन कीजिए।

देखें Hindi II Q. 3.

नेत्रदान

Q. 1. (क) कुणाल के नेत्रदान की खबर पाकर महेन्द्र और संघमित्रा की जो दशा हुई उसका वर्णन कीजिए या उन दोनों के वार्तालाप का सारांश लिखिए। (ख) कभी-कभी सुन्दरतम वस्तु ही संसार में सर्वनाश का कारण बन जाती है।' यह किसकी उक्ति है? इसकी पुष्टि कीजिए।

(ग) नेत्रदान द्वारा कुणाल के उत्सर्ग का विवरण दीजिए।

Ans :—(क) कुणाल के नेत्रदान की खबर पाकर दोनों भाई-बहिन बेहद मर्माहत होते हैं। पुरुष जाति होने के नाते महेन्द्र अपने को कुछ हद तक संभालता है किन्तु संघमित्रा तो बिलकुल बिल-बिला उठती है। महेन्द्र की आँखों में आँसू देखकर संघमित्रा कारण जानना चाहती है किन्तु वह बड़े ही बुद्धिमानी से रहस्य को व्यक्त करता है। संघमित्रा धीरे-धीरे व्याकुल होती जाती है। महेन्द्र कहता है कि नेत्रदान प्राणदान से भी महान् है क्योंकि नेत्र मानव शरीर में अलभ्य और अमूल्य रत्न हैं। इससे बढ़कर मनुष्य के जीवन में हो ही क्या सकता है। संसार में इसे महान्दान, पवित्रदान— जो कुछ भी कहा जाय थोड़ा ही है। संघमित्रा इन बातों को सुनकर हिच-कियाँ भरने लगती है। कभी वह अपने आपको कोसती है और कभी पिता पर खिझती है। महेन्द्र पुनः समझाते हुए कहता है कि बड़े लोग दूसरे के लिए कष्ट सहर्ष उठाते हैं। बड़े लोगों को जगह अमर इतिहास के पृष्ठों में मिलती है। अतः कीमत चुकाने के लिए कुछ बलिदान करने की जरूरत पड़ती है। स्त्री के नाते संघमित्रा को जरा भी संतोष नहीं होता। वह बराबर रह रहकर रो पड़ती है। महेन्द्र उसे बताता है कि किसी भी बड़े यज्ञ में सुन्दर चीजों एवं अमूल्य वस्तुओं की बलि देकर ही पूर्णाहुति की जाती है। हमलोग के पिता अशोक ने जो महान् धर्म-यज्ञ शुरु किया था इस बलि के बाद आज सार्थक हो गया। संघमित्रा ऐसे यज्ञ और ऐसी बलि को भी जब उपेक्षा भरी दृष्टि से देखती है तब महेन्द्र यज्ञ ओर बलि की व्याख्या करता है—यज्ञ और बलि दोनों में तादात्मक सम्बन्ध है। निरीह और मूक पशुओं की बलि अधिक वजनदार होती है। कुणाल ने अपनी सुन्दरतम आंखो की बलि देकर पिता के कर्म यज्ञ को सफल बना दिया। हमलोग भी ऐसे भाई के बलिदान और त्याग से धन्य हो गये। यही नहीं, कुणाल ने नेत्रदान देकर दुनिया की बन्द आँखों को खोल दिया है।

Q. 2. (क) नेत्रदान की कथा लिखें। या प्रमाणित करें कि "नेत्रदान भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त करुण घटना पर आधारित है।"

(ख) 'नेत्रदान में गौरवपूर्ण अतीत की झांकी है'। इसकी पुष्टि करें। या 'अतीत की झांकी से वर्तमान भावनाओं को जागृत करना ही नेत्रदान का मुख्य उद्देश्य है।" इस कथन की समीक्षा करें।

Ans. (क) प्रियदर्शी अशोक ने अपने ज्येष्ठ पुत्र महेन्द्र और अपनी कन्या संघमित्रा को धर्म प्रचार के लिए सिंहल भेजा था। सिंहल नरेश ने भी शिष्टाचार के नाते अपनी कन्या तिष्यरक्षिता को पाटलिपुत्र भेजा। तिष्यरक्षिता सुन्दरी, स्वस्थ और नृत्य, गान एवं वाद्य कला में निपुण थी। पाटलिपुत्र के राज भवन की शून्यता तिष्यरक्षिता को अखरने लगी। वृद्ध महाराज में उसे वह आनन्द नहीं मिला जो एक कलाकार के अन्तस्तल को सहलाकर उसके नस-नस में गुदगुदी भर देता है। वह उदास सी रहने लगी।

प्रियदर्शी महाराज अशोक के कनिष्ट पुत्र कुणाल एक सुन्दर, सुडौल और ललित कला में निपुण युवराज था। उसके स्वर में दर्द और वाद्य-वादन में आकर्षण था। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें गजब ढ़ाती थीं। वह तिष्यरक्षिता के कक्ष में आने जाने लगा। धीरे-धीरे उनकी घनिष्टता बढ़ चली। दो कलाकारों के प्रेम योग में दो विचार धाराएँ थीं। एक का प्रवाह विशुद्ध था, दूसरे का वासनात्मक।

कुमार कुणाल का तिष्यरक्षिता के कक्ष में जाना युवराज्ञी कांचनमाला को खटकने लगा। उसे कुमार के भविष्य की आशंका होने लगी। इधर महाराज को भी कुछ-कुछ सन्देह होने लगा था। राज भवन में भी कुमार और नयी साम्राज्ञी चर्चा का विषय बन गये थे। पर कुणाल के पवित्र व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कांचनमाला को कुछ भी सन्देह नहीं था। फिर भी कांचनमाला चाहती थी कि वह कुमार को लेकर कहीं चली जाय।

संयोग आया। उत्तर-पश्चिम की सीमा पर विद्रोह को दबाने के लिए कुमार भेज दिए गये। तिष्यरक्षिता ने इसे कांचनमाला का षड्यन्त्र समझा। वह जल उठी। प्रतिशोध की भावना तीव्र हो उठी। उसने षड्यन्त्र का उत्तर षड्यन्त्र से दिया। महाराज की मुहर लगा कर एक चिठ्ठी उसने कुणाल को

पास भेजी। कुणाल ने चिट्ठी पढ़ी। महाराज ने आँखें माँगीं थीं। पहले तो उसे सन्देह हुआ पर महाराज की निजी महर ने सन्देह दूर कर दिया। आँखें दे दी गयीं।

अन्धा कुणाल अपनी पत्नी कांचनमाला के साथ घूमते-घामते पाटलिपुत्र पहुँचा। वहाँ के परिचित वातावरण ने उसके नस-नस में नव-जीवन का संचार कर दिया। उसने अपने नेत्र-निष्कासन की कथा कांचनमाला से कहना आरम्भ की। कांचनमाला सहम उठी।

सिंहल में महेन्द्र अपनी साधना के बल पर सब कुछ जान गए थे। उन्होंने अप्रत्यक्ष ढंग से यह कथा संघमित्रा को कही। वह अधीर हो उठी। महेन्द्र की आँखों में आंसू छलछलाने लगा। एक कलाकार की दुर्बलता, असहायावस्था एवं कोमलता पर वे तरस खा उठे। पर साहस बटोर कर उन्होंने कुणाल के नेत्र-दान को कालिंग का एक छोटा सा प्रायश्चित समझा। अतः नेत्रदान भारतीय इतिहास की एक करुण घटना पर आधारित है।

Q.3 अंधा होने के बाद पाटलिपुत्र जाते हुए कुणाल और कंचनमाला का वार्तालाप लिखिए।

Ans.—अंधा होकर कुणाल गाता, भीख माँगता, अपनी पत्नी कंचनमाला के साथ चल पड़ता है। आगे-आगे कंचनमाला, पीछे-पीछे उसका कंधा पकड़े कुणाल। चलते-चलते, भूलते-भटकते अनजाने वह पाटलिपुत्र के निकट पहुँचता है। उस समय का वार्तालाप बड़ा ही मर्मस्पर्शी है।

कुणाल पूछता है कि वे कहाँ पर है? कंचनमाला उत्तर देती है कि उसने नाम धाम कहना और पूछना छोड़ दिया है। कुणाल कहता है कि अंधे की ज्ञानेन्द्रियाँ बड़ी तीव्र हो जाती हैं। यहाँ की हवा स्पर्श से परिचित स्थान का बोध होता है। इस हवामें गंगाकी-पाटलिपुत्रके निकटकी गंगाकी-शीतलता है क्या? कंचनमाला पाटलिपुत्र और पुरानी बातों की चर्चा करने से मना करती है। कुणाल कहता है कि मैं तो उन्हें कभी का भूल गया हूँ। पर न जाने क्यों आज इतनी उत्सुकता जगी है? मालूम होता है कि कहीं पुरानी जगह में आ गया हूँ! कंचनमाला कहती है कि इन बातों से मेरा मन कैसा

तो होजाता है । कुणाल कहता है किस प्रकार शीघ्र ही उसने पहल दाहिनी, पीछे बायी आँख निकाल कर दे दी। कंचनमाला फूट-फूट कर रो पड़ती है । कुणाल कहता है अब क्यों रो रही हो ? वह स्वप्न ! सारा स्वप्न ! संसार को दार्शनिकों द्वारा स्वप्न कहना कितना सत्य है ? उसने पिता जी की मुहर अच्छी तरह देखी थी । कंचनमाला कहती है कि पिता की मुहर का सदा अर्थ पिता जी की आज्ञा नहीं होगी । कुंणाल ने कहा कि सम्राट् की मुहर संसार में सबसे पवित्र धरोहर है । कंचन कहती हैं कि पवित्र से पवित्र धरोहों की भी चोरी होती है । उसका संकेत तिष्यरक्षिता की ओर है । वह तिष्यरक्षिता को माता कहकर इस पवित्र शब्द का अपमान करने से मना करती है। कुणाल आश्चर्यचकित हो जाता है। वह पूछता है कि प्रेम अंधा होता है तो क्या कला भी अंधी होती है ?

Q.4 (क) तिष्यरक्षिता, कंचनमाला या महेन्द्र का चरित्र-चित्रण करें । (ख) अपने विलास-कक्ष में क्षुब्ध तिष्यरक्षिता के मनोभावों का वर्णन करें ।

तिष्यरक्षिता—नेत्रदान के पात्रों में उसका चरित्र विलक्षण है । वह सिंहल नरेश की पुत्री है । वह मानवी होते हुए दानवी है। वह राक्षसी बनकर कुणाल के पीछे पड़ जाती है। कुणाल ने रक्षिता में मातृत्व की ममता और उससे बढ़-कर कला की साधना देखने की चेष्टा की थी किन्तु उसे मिली सिर्फ काम की ज्वाला और वासना की लपट । कुणाल की जिन आँखों की प्रशंसा रक्षिता ने की थी उन्हीं आँखों पर आज वह मरने लगी । वह कुणाल को काम की दृष्टि से देखने लगी और अन्त में उसकी इच्छा की पूर्ति न होने के कारण उसका सर्वनाश कर बैठी । ये तो हुईं रक्षिता के चरित्र के श्यामपक्ष की बातें । जरा उसके चरित्र के श्वेत पक्ष पर भी विचारें। गंदे स्थान में भी सुन्दर फूल होते हैं उन्हें कैसे भुलाया जा सकता है। रक्षिता में भी कुछ आवश्यक गुण हैं। उसके पाटलिपुत्र जाने की बात सुनकर संघमित्रा का यह कथन—उस जीवन और यौवन में रक्षिता की कला का समावेश होगा । स्पष्ट है कि तिष्यरक्षिता कला-निपुण थी। उसने साम्राज्ञी के घर को नृत्य और गीत से सरस बना दिया। वह एक महान् कलाकार थी और कला का मूल्यांकन करना वह ज़ानती थी।

वह कला की रक्षा नहीं कर पाती और ईश्वर की श्रेष्ठ रचना आँखों को, वह भी कुणाल जैसे कलापुजारी की आँखों को, निकलवाकर अपने अपमान का बदला चुकाती हैं। कलाकार में प्रतिशोध की भावना जो पाश्चात्य लोगों की देन है तिष्यरक्षिता के चरित्र में पायी जाती है। प्रतिशोध की भावना भारतीय कलाकारों में नहीं पायी जाती है। तानसेन और बैजवावरा से बढ़ कर जीता-जागता दूसरा उदाहरण क्या हो सकता है ? सब मिला-जुला कर यही कहा जा सकता है कि तिष्यरक्षिता भारतीय आदर्श के प्रतीक नहीं, वरन् पाश्चात्य सभ्यता की देन है।

पुण्य स्मृतिः—Q. 1. (क) बचपन में गांधी जी को धर्म की झलक कैसे मिली ? या गांधी जी की धार्मिक भावनाओं की विवेचना कीजिए। (ख) गांधी जी की महत्ता बताने वाली उनके बचपन की दो घटनाओं का वर्णन कीजिए। या बचपन में गांधी जी पर किन-किन पुस्तकों का प्रभाव पड़ा ? (ग) गांधी जी की विनोदप्रियता संबंधी किन्हीं दो घटनाओं का वर्णन करें। (घ) गांधीजी विषम स्थिति में भी प्रसन्न चित्त रहते थे—इसे प्रकट करनेवाली किसी एक घटना का उल्लेख करें।

Ans. (क) गांधी जी का जन्म वैष्णव परिवार में हुआ था। वे बचपन से ही मन्दिर जाते थे। 'हरिश्चन्द्र' नाटक देखने से इनकी धार्मिक भावना जगी। इन्हें धार्मिक प्रेरणा मूलतः माता-पिता और दाई रंभा से मिली। बचपन में ये भूत-प्रेत से डरा करते थे। रम्भा को यह बात मालूम थी। उसने गांधी जी को डर लगने पर 'राम-राम' जपने की सलाह दी। गांधीजी ने ऐसा ही किया और उनका भय दूर हो गया। यहीं उन्हें धर्म की पहली झलक मिली और वे धर्म की ओर आकर्षित हुए।

गांधीजी के चचेरे भाई रामायण पाठ करते थे और गांधीजी को 'रामरक्षा' पाठ कराते थे। उनके द्वारा भी उन्हें धार्मिक प्रेरणा मिली। पोरबन्दर में ये हमेशा अपने पिता के साथ बीलेश्वर के लाधा महाराज द्वारा कहीं जाने वाली कथा को सुनते थे। लाधा महाराज अपना विद्वता और स्वर-मधुरता

के कारण रामायण-परायण से श्रोताओं को मुग्ध कर देते थे। इस रामायण के परायण से उन्हें गहरी धार्मिक प्ररणा मिली।

मूलतः सभी धर्म एक ही हैं। उनकी धार्मिक समन्वयकारी भावना का उदय भी लड़कपन में ही हुआ था। उनके पिता के हिन्दू, जैन, पारसी और मुसलमान मित्र उनके घर पर एकत्रित होते थे। वे आपस में धर्म के विभिन्न पहलुओं पर विचार-विमर्श करते थे। बालक गांधीजी अस्वस्थ पिता की सेवा करने के लिए उनके पास ही में रहते थे। वे उन्हें सुना करते थे। उससे उनको यह प्रेरणा मिली कि सभी धर्म के तत्व एक ही है।

Q 2. (क) द्विवेदी जी की प्रारंभिक रचनाओं तथा उनके साहित्य-प्रेम पर प्रकाश डालिए। (ख) श्री हरिभाऊ उपाध्याय लिखित संस्मरण के आधार पर आचार्य द्विवेदी जी की कर्मठता और प्रकृति पर प्रकाश डालिए या द्विवेदीजी की कार्यशैली एवं स्वभाव पर प्रकाश डालिए। (ग) श्रीराम शर्मा ने अपने संस्मरण में द्विवेदीजी के जिन गुणों (विशेषताओं) का उल्लेख किया है, उनपर प्रकाश डालिए। (घ) द्विवेदी जी के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं या उनके जीवन संघर्ष का वर्णन करें।

Q 3. (क) पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने संस्मरण में कविवर रवीन्द्र नाथ ठाकुर के व्यक्तित्व का जो चित्रण किया है उस पर प्रकाश डालिए या रवीबाबू के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख कीजिए। (ख) बाल्यावस्था की वर्षा एवं शरद् ऋतु का जो चित्र कवि ने उपस्थित किया है उसका सारांश लिखें। (ग) रवीन्द्र बाबू के बचपन में काव्य-रचना की प्रवृत्ति कैसे उत्पन्न हुई ? (घ) रवी बाबू द्वारा लिखित कलकत्ते के वर्णन का सारांश लिखें।

Ans. (क) डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के व्यक्तित्व से बेहद प्रभावित होते देखे गये हैं। द्विवेदीजी को उनकी स्नेह-प्राप्ति का अवसर ग्यारह वर्ष से अधिक मिला। उन्हें उनके द्वारा अनेक सरस तथा विनोद झिड़कियाँ सुनने का अवसर मिला। द्विवेदी जी के अनुसार वास्तव में रवीन्द्रनाथ ठाकुर शान्ति के अवतार थे। उनमें तेज, माधुर्य तथा

स्नेह की त्रिवेणी लहराया करती थी । उनकी कुशाग्र बुद्धि संसार की जटिल समस्याओं को हल करने में समर्थ होती थी । द्विवेदी जी के शब्दों में—'जितना ही सोचता हूँ उतना ही लगता है रवीन्द्रनाथ ठाकुर का व्यक्तित्व अपूर्व था, अद्भुत था ।' इतना ही नहीं उनमें सौन्दर्य और सत्य तक पहुँचने की अत्यन्त शक्ति थी । उनके जीवन में सत्य का मूल्य अधिक था । केवल भौतिकवादी संसार की बात नहीं, मानव संसार को आदर्श बनाने के लिए भी सत्य का आश्रय अत्यावश्यक है । रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सर्वत्र अपनी रचनाओं में भी सत्य की ही दोहाई दी है तथा इसी का महत्व स्वीकार किया है । जिस समय हिन्दुस्तान दासता की शृंखला में आबद्ध था, उस समय कवि को भारतवासियों में सत्य का अभाव अत्यन्त खटकता था । जाति के साथ जाति का विच्छेद, अनियमित कार्य, धर्म के साथ अनाचार तथा स्नेह का अभाव इत्यादि बातें उन्हें बेहद खटकती थीं । उन्हें विश्वास था कि भारत क्या, संसार भी सत्य के द्वारा आदर्श के ढाँचे में बदला जा सकता है । रवीन्द्रनाथ एक ही साथ क्या कवि, क्या नाटककार, क्या कहानीकार, क्या निबन्धकार तथा क्या आलोचक—सब कुछ थे । अपनी रचनाओं में उन्होंने स्वदेश एवं विदेश की सभी समस्याओं पर विचार किया है । दुनिया की विभीषिकाओं से मर्माहत होकर उन्होंने इतिहास विधाता से अद्भुत शक्ति की भी याचना की थी—

'मनुज-शोणित-मांस के ये क्षुधित दुर्दमगिद्ध ।
कि महाकाल के सिंहासनस्थित हे विचारक शक्ति दो मुझको ।'

शिकार:—Q भिड़ंत, लड़कपन में सांप से मोर्चा, मौत के मुँह में, पैने छूरे, खलीफा के हाथ या श्मशान के सींग की रोमांचकारी घटनाओं का वर्णन करें ।

आदमी की जीत:—Q. 1. (क) क्षुधा-शांति के उपायों का उल्लेख करें । (ख) कंदरा युग से आज तक मनुष्य ने अंधकार मिटाने के जो प्रयास किये हैं उनका संक्षेप में उल्लेख कीजिए । या "विश्व आदमी की जीत का जीता जागता चित्र है" स्पष्ट करें ।

Q. 2. (क) टेलीभिजन, टेलीफोन या रडार के क्रमिक विकास का संक्षिप्त परिचय दीजिए। (ख) शीशे के रहस्य पर प्रकाश डालिए।

आधुनिक आवागमन:—Q. 1. (क) वायु विमानों के इतिहास में राइट बन्धुओं का क्या योग है ? या जेपलिन वायुयान के आविष्कार की कहानी लिखें। (ख) वर्त्तमान काल के किन्हीं दो विशालकाय जलयानों (क्वीन एलिजावेथ, न्यू एम्सटर्डम) का वर्णन करें।

Q. 2. (क) रेल गाड़ी के आविष्कार, विकास एवं प्रचार पर प्रकाश डालिए। (ख) साइकिल के प्रचार पर प्रकाश डालिए।

Q. 3. (क) दो मित्रों की बातचीत के रूप में इंगलिश चैनेल या अट-लांटिक महासागर पार करने के प्रयास का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। (ख) स्मिथ द्वारा लंडन से आस्ट्रेलिया तक की वायुयान यात्रा का वर्णन करें। (ग) जल पर विजय या युद्ध पोत [illegible] वकास की कहानी लिखें।

विश्व परिचय Q.1, (क) निहारिका से आप क्या समझते हैं? उसकी विशेषताओं का वर्णन करें। (ख) परमाणु और अति परमाणु से आप क्या समझते हैं ? उनका क्या महत्त्व है ? (ग) सौर जगत की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करें।

Q. 2. (क) नक्षत्र और ग्रह में अन्तर क्या है? धूमकेतु क्या है ? ग्रहों में शनि, पृथ्वी, शुक्र या वृहस्पति के महत्व पर प्रकाश डालिए।
(ख) सूर्य के धब्बे क्या हैं ? इनका प्रभाव पृथ्वी पर किस रूप में पड़ता है ?

Q.3 (क) भूलोक पर जीवों के विकास का परिचय दें। (ख) चाँद का परिचय देते हुए पृथ्वी से उसका संबंध बताइए। (ग) कास्मिक रश्मि से क्या समझते हैं ?

सर्वोदय विचार—Q.1. सर्वोदय-समाज एकमात्र तारक-शक्ति है कैसे ? आज की दुनिया में जहाँ देखिए अशान्ति फैली हुई है, संघर्ष मचा हुआ है और अन्तर्विरोध का साम्राज्य है। इस भौतिकवादी युग में राजनीतिक संगठन तो हो रहा है किन्तु मानसिक एकता का पतन भी। इसके एक नहीं अनेकों उदाहरण यहूदियों, अरबों, चीनियों तथा डचों के भरे पड़े हैं। आज

हिन्दुस्तान में काश्मीर का मामला भी अहिंसा से तय नहीं हो पा रहा है, यह दुःख का विषय नहीं तो और क्या ?

विद्यार्थी वर्ग हो, मजदूर वर्ग हो या व्यावसायिक वर्ग— सबों में असंतोष है। विनोबा जी का कहना है कि जागतिक महायुद्ध ईश्वरीय होता है जो मनुष्य को दण्डरूप में प्रतीत होता है किन्तु परिणाम सुखद ही होता है। सर्वोदय को एक प्रकार का क्रांतिकारी प्रयोग समझिए। इसका उद्देश्य है ऊँच-नीच सभी की भलाई। हाँ, इसकी समता पाश्चात्य लोगों के ध्येय से नहीं की जा सकती। इसमें बहुसंख्यकों और अल्प संख्यकों के झगड़े का गुंजाइश नहीं है।

विनोबाजी का कहना है कि हमलोगों को सत्य और अहिंसा के मार्ग को अपनाना है। क्या सामाजिक, क्या व्यापारिक उद्योग—हमलोगों को किसी में भी असत्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए और न हिंसा को प्रवेश करने देना चाहिए। सर्वोदय के सिद्धान्त को अपनाकर इसे विश्व व्यापी बनाने के लिए भरपूर कोशिश करनी चाहिए। आज के संसार में जितनी उलझनें हैं, समस्याएँ हैं और जितनी बुराइयाँ हैं—सभी को दूर करने के लिए एकमात्र 'तारक शक्ति' सर्वोदय समाज ही है और कुछ नहीं।

Q.2. सर्वोदय की मनोवृत्ति पर प्रकाश डालिए।

हमारे पुराने श्लोकों में—'सबका भला हो, सब सुखी और आरोग्यवान् हों' की भावना पायी जाती है। यदि हम स्वार्थवश संसार का सुख चाहते हैं तब तो यह 'मनोवृत्ति' सर्वोदय की उल्टी है। सर्वोदय की 'मनोवृत्ति' हमें बताती है कि दूसरे की भलाई पहले हो। 'जिस इच्छा में त्याग की भावना नहीं होती तो वह सुप्त इच्छा होती है।' विद्वानों के साथ भी कुछ यही बात है। सुप्त विद्वान् की विद्या भी बेकार है जबकि उसका उपयोग नहीं हो सकता। जन-कल्याण के साथ-साथ अपना कल्याण होगा—यही सर्वोदय की भावना है। जो लोग आत्मा का कल्याण चाहते हैं वे बाहरी झमेलों की परवाह तनिक भी नहीं करते। इन विचारों से सम्बन्धित समाज भोग-प्रधान नहीं वरन् त्याग-प्रधान समाज है। सर्वोदय में पाशविक वृत्तियों का परित्याग

किया जाता है। अपने की अपेक्षा पराये की कीमत अधिक आंकना ही सर्वोदय की उत्तम मनोवृत्ति है।

Q.3. (क) सर्वोदय का सिद्धि मार्ग क्या है? या (ख) अपरिग्रह व्रत क्या है?

Ans. (क) सर्वोदय-समाज के प्रवर्त्तक सन्त विनोबा भावे हैं। इन्होंने सर्वोदय की सिद्धि कैसे हो सकती है और इसके कौन-कौन तरीके हैं, इसपर अपना विचार प्रकट किया है। सर्वोदय का अर्थ है सब का उदय। इसका एक तरीका साथ मिल कर काम करना है। साथ मिलकर काम करने में जो आनन्द आता है विनोबा जीने उसे समाधि कहा है। एकत्र होकर भगवान् की प्रार्थना करने से, काम करने से शक्ति बढ़ती है। यों तो सर्वोदय में संघ या संस्था का कोई महत्व नहीं हैं; मानव का समस्त समाज ही इसकी संस्था है, पर जिस प्रकार चुस्त यन्त्र ही काम करने में समर्थ हो सकता है; उसी प्रकार संगठित वर्ग ही सामाजिक कार्य को पूरा कर सकता है। हाँ, यन्त्र के पुर्जे शीघ्र घिसकर बेकार न हो जायँ इसलिए स्नेह की आवश्यकता होती है। समाज का संगठन भी विवाद रूपी रूखापन से ध्वस्त न हो जाय इसके लिए स्नेह (प्रेम) की आवश्यकता होती है। समाज में खादी का उत्पादन परमावश्यक है। खादी के बिना भी समाज अपना काम कर सकता है। मशीन से वर्तमान युग में सूत कातना यद्यपि कोई आवश्यक नहीं फिर भी खादी का उत्पादन स्वावलम्बन सिखलाता है, कर्त्तव्य करने की ओर प्रेरित करता है। अतः खादी का उत्पादन सर्वोदय की एक सीढ़ी है।

सर्वोदय की सिद्धि के लिए किसी काम को भी छोटा नहीं समझना चाहिए। भंगी का काम सबसे अधिक घृणित समझा जाता है, क्योंकि इसके लिए समाज का कोई भी वर्ग प्रतियोगिता नहीं करता है। जगजीवन राम जैसे नेता भ इसे मनुष्योचित कार्य नहीं मानते हैं और भंगियों को इस पेशे को छोड़ देने की सलाह देते हैं। पर सर्वोदय की कामना रखने वालों को इस काम को भी चाव से करना चाहिए। ऐसा करने पर ही सर्वोदय की परिणति अन्त्योदय में होगी।

सर्वोदय की सिद्धि के लिए अपरिग्रह को अपनाना अपेक्षित है। मनुष्य में जबतक परिग्रह की भावना रहेगी तबतक कलह, विद्वेष और वैमनस्य आदि दुष्प्रवृत्तियाँ कायम रहेंगी ही। आज हिन्दू-मुसलिम में झगड़ा, ब्राह्मण और अब्राह्मण में झगड़ा, सिंधी और माड़वारी में झगड़ा आदि जो हो रहे हैं उनका खास कारण परिग्रह है। कुछ लोग कहते हैं कि संस्था और समाज को चलाने के लिए परिग्रह आवश्यक है पर इसमें भी तृष्णा की मात्रा दिन व दिन बढ़ती ही जाती है। यह बढ़ती हुई मात्रा आगे चलकर कलह उत्पन्न कर देती है। शरीरश्रम और अपरिग्रह जीवन के उत्थान में ये दोनों सहायक हैं। पैसे की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए। प्राप्त पैसों को शुभ कार्य में शीघ्र समाप्त हो जाना चाहिए। परोपकार के लिए एकत्र पैसे भी मोह उत्पन्न करते हैं। कन्ट्रोल की बात भी विनोबाजी के विचार में नहीं जँचती है। कन्ट्रोल का रहना और उठना दोनों ही परिस्थिति में जनता तंग रहती है। उसे राहत नहीं मिलती है। विनोबाजी के विचार में जमीन की लगान के रूपमें यदि अन्न वसूला जाय तो जनता को राहत मिल सकती है। सन्त विनोवा भावे के विचार में उपर्युक्त तरीके सर्वोदय की सिद्धि के मार्ग हैं। (ख) देखें उत्तर (क)

Q.4. 'सर्वोदय में विश्व-मंगल का ध्येय सन्निहित है।' कैसे ?

Ans. कथनमात्र नहीं, वास्तव में 'सर्वोदय' में विश्वमंगल का ध्येय सन्निहित है। इसकी सार्थकता हमें विनोवाजी के कई निबंधों में मिलती है। उन्होंने एकनाथ और ज्ञानदेव की पुस्तकों का वर्णन किया है। इन पुस्तकों में विश्वमंगल की भावनाएँ भरी पड़ी हैं।

हमलोग आज के युग में जातिवाद का नारा बुलन्द करते हैं। वास्तव में यह हमारा अधोपतन है। हमलोग इस लायक नहीं हो सके हैं कि विश्वप्रेम करने का दावा कर सकें। ज्यादा से ज्यादा प्रान्तीयता के घेरे में आ जाते हैं। हमारे प्रेम की सीमा हमारा प्रान्त है, आगे नहीं। यह संकुचित दृष्टिकोण विनोबाजी के लिए हेय और त्याज्य है। सर्वोदय का सिद्धान्त है—'जननी मुस्लमां हों किवा, भारत के जन इसाई। जननी जन्मभूमि के नाते सब हैं भाई-भाई।' इसी को जरा स्पष्ट करके कह सकते हैं कि सर्व-हित का भावना

रखते हुए हमें कार्य करना चाहिए। हमलोग अनेकों के रूप में एक हैं। एक ही रूई के निकले हुए भिन्न-भिन्न सूत हैं। सत्वगुण हमारे देश के नव-युवकों के लिए अलभ्य वस्तु है। हिंसा वृति के उन्मूलन में इसी का सहारा है।

Q.5. 'सर्वोदय की दीक्षा' क्या है? समझा कर लिखिए।

Ans. सर्वोदय के लिए रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं को मिलकर काम करना चाहिए। उन्हें इन बातों को कार्य में लाना चाहिए। (१) सर्वप्रथम जीवन निष्ठा को दृढ़ करने के लिए नियमित कताई करनी चाहिए। स्वयं का[illegible] तुनना और पुनी बनाना भी चाहिए। उत्तम सूत कातने वाले मोटे सूत वालों स कपड़े का विनिमय करें। इससे स्वावलंबन सहित परस्पर सहकार सम्पन्न भी होता है। (२) सम्भवत: ग्रामोद्योगी चीजों का ही प्रयोग करें। (४) विशेषत: गाय के दूध का उपयोग करें। प्रतिमाह कम से कम एकबार ग्राम-सफाई द्वारा हरिजनों के माने गये कामों की अस्पृश्यता नष्ट की जानी चाहिए। ५) बुनियादी तालीम में विश्वास रखकर अपने बच्चों को भी यही शिक्षा दिलावें। (६) सम्पूर्ण देश को एक सूत्र में बाँधने के लिए नागरी तथा उर्दू के साथ-साथ दक्षिण की किसी एक भाषा का सीखना आवश्यक है।

इस कार्यक्रम को अपनाने से सर्वोदय समाज अग्नि की तरह चारों ओर फैलेगा। इनके अतिरिक्त अन्य नियम भी बनाये जा सकते हैं। पर याद रहे कि नियमों का बोझ नहीं होना चाहिए और दूसरों के दोष देखने के ख्याल से नियमों का उपयोग नहीं करना चाहिए।

Q. 6. (i) सर्वोदय का सरल अर्थ क्या है?

(ii) विनोबा जी ने सर्वोदय के स्वरूप की जो कल्पना की है उसे लिखें।

(i) मानव सृजन का ध्येय कदापि यह नहीं है कि परस्पर मानव के हितों में विरोध हो। विचार-भेद आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति में दूसरे से विभिन्नता रहती है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि उनके हितों में भी विरोध हो। पर आज तो चारों ओर विरोध ही विरोध है। कारण, जीवन का मूल्यांकन हम दोषपूर्ण मापदण्ड से करते हैं। आज धन ही सब कुछ समझा जाता है। इसी-

लिए हम दिन-रात नाजायज तरीके से भी धन इकट्ठा करने में लगे हैं। इस परिवारिक जीवन की उदारता सामाजिक जीवन में ले आवें, तो जीवन सच-मुच सुन्दर-सुखमय हो जायेगा। इसमें सबका कल्याण होगा और साथ-साथ इस सिद्धान्त को बरतनेवाले का भी। यही सर्वोदय का सरल अर्थ है। इसका तात्पर्य है कि हमें स्वावलम्बी होना चाहिए न कि समाज का बोझ। अपनी कमाई से ही जीविकोपार्जन करना चाहिए। अस्तु, अपने बाहुबल से कुछ पैदा करना तथा दूसरों की सेवा करना सर्वोदय समाज का सेवक बनना है। एक बच्चा भी इस कसौटी पर सफल हो सकता है। अधिकांश लोग जब इस प्रकार के सेवक बन जायेंगे तो लोक-कल्याण का द्वार खुल जायगा।

Q. 7. (क) 'सत्यनिष्ठा सर्वोदय की बुनियाद है।' कैसे ?

(ख) सर्वोदय के मौलिक सिद्धान्तों को स्पष्ट करें।

Ans. विनोवा के 'सर्वोदय' में हम सत्यांश अधिक पाते हैं। सर्वोदय की बुनियाद ही सत्य पर आधारित है। फिर इससे सम्बन्धित जितने विषय होंगे सत्य से दूर नहीं होंगे। विनोवा जी आपसी भेदाभेद के भाव को हटाकर समाज का एकीकरण करना चाहते हैं। अनेकत्व में एकत्व की कल्पना करते हैं। वे अपने समाज को टुकड़े-टुकड़े या बिखरे-बिखरे देखना नहीं चाहते हैं। वे इन आधारों द्वारा केवल काल्पनिक आनन्द उठाना नहीं चाहते हैं बल्कि क्रियात्मक रूप द्वारा समाज में आनन्द का संचार करना चाहते हैं। वे कहते हैं— 'अखंड आनन्द का अनुभव मुझे लेना है और वह भी केवल मानसिक नहीं, क्योंकि मैं ले ही रहा हूँ, प्रत्यक्ष क्रियात्मक।'

ये डंके की चोट और कलम की नोक से एकीकरण की सत्ता स्वीकार किया करते हैं। क्या हिन्दू, क्या मुसलिम और इसाई —सबों को एक सूत्र में आबद्ध देखना चाहते हैं। वे गान्धी के—'आत्मवत् सर्वभूतेषु नः पश्यति सः पण्डितः'—सिद्धान्त से काफी प्रभावित हैं। कुछ सर्वोदय की सत्यनिष्ठा के विरुद्ध स्वर अलापते हैं किन्तु इससे कुछ होने को नहीं है। सर्वोदय की सत्ता रहेगी ही और इससे प्रभावित होकर लोग अपनायेंगे भी।

Q. 8. सर्वोदय का त्रिविध स्वरूप क्या है ?

Ans. गाँधी ज्ञान-मन्दिर धुलिया में विनोबा जी ने अपने तीन भाषणों में सर्वोदय के त्रिविध स्वरूप पर प्रकाश डाला है। सर्वोदय का पहला स्वरूप है तत्वज्ञान की प्राप्ति। हमें गाँधी जी के विचारों का अध्ययन तथा प्रसार-प्रचार करना चाहिए। साथ-साथ विश्व के अन्य महापुरुषों की विचारधाराओं का भी अध्ययन हमें करना चाहिए। तुलनात्मक अध्ययन, मनन एवं अनुशीलन से हमारा मानसिक क्षितिज बढ़ेगा, हृदय उदार होगा एवं हमारा तत्वज्ञान पूर्ण होगा।

सर्वोदय का द्वितीय स्वरूप है विश्व कल्याण के लिए रचनात्मक कार्यक्रम रूपी कर्मयोग। कर्म-रहित ज्ञान निरर्थक है। गाँधी जी जो कुछ कहते थे वही करते थे। उनके विचार एवं कर्म में समन्वय था। अस्तु, हम महापुरुषों के विचारों का अध्ययन करें तथा कार्य रूप में परिणत करने का प्रयत्न करें। गोशाला, तेलघानी, खादी-निर्माण, मानव-सेवा आदि निर्विवाद कर्मयोग में हम लग जाएँ।

सर्वोदय का तृतीय स्वरूप है जीवन-शुद्धि। अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अस्वाद, निर्भयता आदि गाँधी जी द्वारा बताये गये ११ व्रतों को अपना कर अपना जीवन शुद्ध करना चाहिए। महात्मा जी का कहना था कि अहिंसा के मार्ग पर चलते हुए भी जब अवगुण बाधक बनकर आये, तो हमें भगवान् की शरण में दौड़ जाना चाहिए। अहिंसादि व्रतों के साथ-साथ भगवान् का भजन भी आवश्यक है। यही सर्वोदय का त्रिविध स्वरूप है।

जीवन कला— Q. 1. (क) 'कठिनाई का भय' बहुत से लोगों की विफलता का प्रधान कारण है। सोदाहरण इस कथन की पुष्टि करें।

(ख) पेशे के चुनाव में किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए।

(ग) सबसे मुश्किल काम को सबसे पहले करने की सलाह लेखक ने क्यों दी है ?

Q. 2. (क) 'जीवन संग्राम में सफल होने के लिए हमें असाधारण गुणों की अपेक्षा साधारण गुणों की आवश्यकता है।'—इस कथन की पुष्टि करें।

या साधारण गुणों से भी जीवन में सफलता मिलती है—इसे बताने वाली कुछ

घटनाओं का वर्णन करें। (ख) शारीरिक एवं मानसिक बल की रक्षा के लिए मनुष्य को क्या करना चाहिए ? या सिद्ध करें कि "सुन्दर जीवन व्यतीत करने के लिए शारीरिक स्वास्थ्य की अपेक्षा मानसिक स्वास्थ्य का स्थान कम नहीं है।"

Q. 3. (क) जीवन के मनोरथों की पूर्त्ति में उद्यम का क्या स्थान है ? हवाई किला बनाने की जीवन में क्या महत्ता है और वह कब निरर्थक हो जाता है ? (ख) प्रत्युत्पन्नमति क्या है ? इस गुण से युक्त मनुष्य में क्या विशेषताएँ होती हैं ? सफल जीवन में प्रत्युत्पन्न मति का क्या महत्त्व है ?

Q. 4. जीवन संग्राम में पुरुषार्थ की महत्ता पर प्रकाश डालिए।

हमारी संस्कृति की कहानी—Q. 1. (क) संस्कृति क्या है ? भारतीय संस्कृति के स्वरूप पर प्रकाश डालिए। (ख) भारत के अमर साहित्य का संक्षिप्त विवरण दीजिए। (ग) गुप्तकाल में भारतीय समाज की क्या व्यवस्था थी ?

Q. 2. संस्कृति के विकास में संतों की क्या देन है ? या कबीर की समन्वय भावना पर प्रकाश डालिए।

Q. 3. हिन्दी भाषा की उत्पति और उनकी मध्यकालीन प्रगति का विवरण दीजिए। या हिन्दी और उर्दू भाषा ने संस्कृत का स्थान किस प्रकार लिया ?

Q. 4. (क) आधुनिक युग में जिन-जिन व्यक्तियों से भारतीय संस्कृति को नया प्रकाश मिला है, उनका परिचय दीजिए।

(ख) नये-प्रकाश को प्रसारित करने का श्रेय किन-किन सामाजिक संस्थाओं को दिया जा सकता है ? अपना मत प्रगट करें।

(ग) विश्व को भारतीय संस्कृति की क्या देन है ? स्पष्ट करें।

Hindi II

Prose Q. 1. (क) 'बनारसी एक्का' शीर्षक लेख के आधार पर बनारसी एक्कों की विशेषताओं का वर्णन कीजिए। या (ख) 'बनारसी एक्का' के शिष्ट व्यंग और हास्य में पाठकों को सिर्फ आनन्द ही प्राप्त नहीं होता,

बल्कि जीवन की महत्त्वपूर्ण त्रुटियों एवं समाज की कतिपय कमजोरियों का दिग्दर्शन भी हो जाता है।" इस कथन की पुष्टि करें।

(क) यों तो एक्का पटना, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद आदि अनेक नगरों में पाया जाता है पर बनारस का एक्का अपनी खास विशेषता रखता है। बनारस में दो तरह के एक्के पाये जाते हैं। एक गहरेबाज और दूसरा साधारण। गहरेबाज एक्का बड़े-बड़े पूँजीपतियों के पास होता है। इसके घोड़ गरीबों के गिरह काटकर माल चाभने वाले पूँजीपतियों की तरह ही मोटे-ताजे होते हैं। इसके इक्केवान भी अपने को नबाव के औलाद से कम नहीं समझते हैं। इस एक्के पर सवार होने पर खतरा हो हा जाता है। गहरेबाज एक्के का मजमा रामनगर की रामलीला के अवसर पर देखने को मिलता है।

साधारण एक्का ढीला-ढाला और कमजोर होता है। चलने के समय पहिया इस प्रकार आगे पीछे होता है मानों वह धूरे से निकल कर बाहर आ रहा है। इसके घोड़े में और आजकल के स्कूल-कौलेज के विद्यार्थियों के स्वास्थ्य में कोई अन्तर नहीं होता है। वह सवार को लेकर जब बैठ जाता है तब उठने के नाम तक नहीं लेता है। इस समय एक्कावान चाहे जितना पुचकारे घोड़े पर कोई असर नहीं होता है। इसकी लालटेन की रोशनी कानून क पंजे से बचने के लिए ही होती है, इसमें प्रकाश नहीं के बराबर होता है। इसके एक्कावान बात बनाने में निपुण और झगड़ालू होते हैं।

बनारसी एक्का में बेढबजी ने हास्य और व्यंग्य के माध्यम से बनारस के एक्के और एक्कावानों के जीवन की एक स्वस्थ चित्र उपस्थित किया है। पूँजीपतियों का प्रतिनिधित्व करने वाले गहरेबाज एक्के में जिस प्रकार समाज को लूट कर मोटे बनने वाले रईशों का चित्रण है, उसी प्रकार साधारण एक्के में पुस्तकों को चाटने वाले और आधुनिक वातावरण में पलकर अपने स्वास्थ्य को गिरा कर और आँखों पर ऐनक चढ़ाकर इधर-उधर नौकरी की टोह में भटकने वाले आजकल के शिक्षित युवकों का भी चित्रण है। साथ-साथ दूसरे की कविता और लेख चुराकर नाम कमाने वाले साहित्यिकों की भी मीठी फटकार सुनायी है। अंग्रेजी सल्तनत में क़ागज

बट.र कर विदेश में सोना भेजने वाले साहूकारों पर भी फब्तियाँ कसी हैं। इस प्रकार बेढबजी ने प्रस्तुत निबन्ध में मनोरंजन के साथ-साथ समाज की अनेक त्रुटियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। नये यात्रियों को बनारस के उद्दण्ड एक्कावानों के व्यक्तित्व की जानकारी भी करा दी है। (ख) के लिए देखें उत्तर (क)।

Q. 2. (क) कवीन्द्र रवीन्द्र का जीवन-चरित्र संक्षेप में लिखकर सिद्ध कीजिए कि रवीन्द्र की विश्वव्यापिनी प्रतिभा ने जीवन के अनेक क्षेत्रों को आलोकित किया है। (ख) रवी बाबू के बचपन का वर्णन करें।

(क) हमें रवीन्द्र में एक साथ ही कवि, कलाकार, ऋषि, संत, विचारक, वैज्ञानिक और मानवता के सच्चे पुजारी के दर्शन होते हैं। निस्सन्देह साहित्यिक क्षेत्रों में इनकी प्रतिभा सबसे अधिक निखरी है। साहित्य का अंग-प्रत्यंग इनके स्पर्श से मुखरित हो गया। काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, प्रबन्ध तथा आलोचना-इन क्षेत्रों में इन्होंने तहलका मचा दिया। इन्होंने काव्यक्षेत्र में मुक्तक-काव्य से लेकर प्रबन्ध-काव्य तक लिखे। धर्म, शिक्षा, समाज, इतिहास, अर्थ-शास्त्र, विज्ञान आदि विषयों पर इन्होंने रचना की। इन्होंने आबालवृद्ध-वनिताओं के लिए पुस्तकें लिखीं। परिमाण की दृष्टि से भी इनकी रचनाएँ १७००० पृष्ठों में है। संसार की सभी सभ्य भाषाओं में इनके ग्रन्थों का अनुवाद हुआ है। इन्हें १९१३ ई० में 'गीतांजलि' पर नोबेल पुरस्कार मिला है जिससे भारत का मस्तक ऊँचा उठा है।

इनके पिता महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। रवीन्द्र का जन्म १८६१ ई० में कलकत्ते में हुआ। नौकरों ने इनका पालन-पोषण किया। बालपन से ही एकांतप्रिय और प्रकृति-प्रेमी थे। नौकर तथा अध्यापक अमानुषिक व्यवहार करते थे। पाठशाला जाने से बचने के लिए अनेक बहाने निकालते थे। अंत में घर पर ही निजी शिक्षक द्वारा इन्हें शिक्षा मिला। काव्य, संगीत, नाटक और चित्रकला की ओर इनकी विशेष रुचि बालपन से ही थी। पिता के ये अत्यधिक प्रिय पुत्र थे। एकबार इन्होंने लड़कपन में ही कविता सुनाकर पिता से पुरस्कार पाया था। इन्होंने दो वर्षों

तक विलायतमें शिक्षा प्राप्त की। इनकी पहली कविता 'अभिलाष' थी फिर 'वनफूल' नामक काव्य तथा 'करुण' नामक उपन्यास प्रकाशित हुए। २२ वर्ष की अवस्था में शादी हुई। ३५ वर्ष की अवस्था तक उनका गार्हस्थ्य जीवन बहुत सुखी रहा। संसार प्रेममय है, सब मनुष्य परस्पर सांसारिक प्रेम में बंधे हैं यही उनका काव्य-विषय था। लेकिन इसके बाद की जिन घटनाओं ने भगवद्भक्ति और साधुत्व का ओर इन्हें अग्रसर किया वे हैं इनकी प्रिय पत्नी एवं पुत्री के देहान्त। श्रीरवीन्द्रनाथ योग्य पिता के योग्य पुत्र हुए। ५० वर्ष की उम्र में रवि बाबू ने मध्यान्ह रवि की तरह दुनिया को आलोकित कर दिया। तब से ३० वर्षों तक एक अन्तर्राष्ट्रीय दिव्य पुरुष का तरह जीवित रहे।

रवि बाबू की गहरी देश-भक्ति अत्यन्त सराहनीय एवं अनुकरणीय थी। बंगविच्छेद से क्षुब्ध होकर 'स्वदेशी समाज' की स्थापना की। पंजाब हत्याकांड ने इनके भावुक हृदय पर गहरी ठेस पहुँचायी। इन्होंने 'सर' की उपाधि लौटा दी। देश-भक्ति से लबालब वक्तव्य प्रायः वे दिया करते थे। इनका 'जन गन मन अधिनायक जय हे' हमारा राष्ट्रगीत है तथा 'अयिभुवनमनोमोहनी' अद्वितीय राष्ट्र वन्दना। पर इनके अगाध विश्व-प्रेम का प्रतीक 'विश्वभारती' है। यह सब धर्मों का भी संगम है। इनका 'शान्तिनिकेतन' इस हिंसा-विद्वेष भरे संसार को शान्ति का प्रकाश दे रहा है। यह इनके क्रियावान् तपस्वी रूप का साक्षी है। अपना सर्वस्व अर्पण करने के बाद इन्होंने वृद्धावस्था में भिक्षापात्र उठा लिया इस संस्था के उत्थान के लिए। ७ अगस्त १९४१ को वह सूर्य सदा के लिए अस्त हो गया।

ये महान् दार्शनिक थे। भारतीय दर्शन परिषद् के प्रथम सभापति हुए थे। संगीत के तो मानों ये प्रतीक ही थे। इनकी कविता की पंक्ति-पंक्ति संगीत से ओतप्रोत है। इनके प्रयास से नाट्य एवं नृत्य कला आज बंगाल के सभ्य घरानों का आवश्यक अंग बन गयी है। चित्रकला भी इनसे अछूता न रही।

सबसे बढ़कर ये साधक ऋषि थे। ४० वर्षों तक विधुर जीवन बिताया। ये कला-मन्दिर का आराधना में सतत निमग्न रहते थे। भव्य ललाट, सफेद

बाल, लम्बी दाढ़ी एवं मूँछ, रेशमी का चोगा ये सब उनके महान् ऋषि के द्योतक थे।

Q. 3. (क) 'कहीं धूप, कहीं छाया' शीर्षक कहानी में लेखक ने समाज का कौन-सा चित्र उपस्थित किया है ? या "कहीं धूप, कहीं छाया" शीर्षक कहानी में एक ओर मस्ती, आनन्द, उन्माद, उल्लास का समुद्र लहरा रहा है तो दूसरी ओर लाचारी, बेवसी, वेकारी और हाहाकार हो रहा है।" इस उक्ति की पुष्टि करें। (ख) कहानी के मुख्य भावों को लिखें।

Ans. (क) इस शीर्षक से हमें कहानी के उद्देश्य एवं कहानीकार के व्यक्तित्व की बहुत कुछ झलक मिल जाती है। बेनीपुरी जी की प्रस्तुत कहानी में हमें भारतीय समाज की कुव्यवस्था का जीता-जागता चित्र देखने को मिलता है। आज भारत की गारत दुर्व्यवस्थाओं के कारण हो रही है—कहानीकार ने इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर कहानी लिखी है।

अपनी आँखों से हम भारतीय समाज का नग्न चित्र देखते हैं। एक ओर पूँजीपति वर्ग गुलछर्रें उड़ा रहा है, रुपये को झिटकी की तरह वर्वाद कर रहा है, तो दूसरी ओर क्षुधा से पीड़ित मानववर्ग कराह-कराह कर मिट रहा है। यों कहिए कि एक ओर शोषकों की बुनियाद आवाद हो रही है, तो दूसरी ओर शोषितों का संसार मिट रहा है। हमारे देश में विड़ला, ताता तथा डालमियाँ के महलों के कँगूरे बुलन्द हो रहे हैं तो दूसरी ओर सड़कों तथा नालियों के किनारे तड़प-तड़पकर आत्माएँ विलीन हो रही हैं। लगता है कि सृष्टि की सारी चीजें महज मुट्ठी भर व्यक्तियों के लिए ही वनी हैं। आज हमारे समाज का संगठन जाति, वर्ण तथा वर्ग व्यवस्था के भेदाभेद से विल्कुल दूषित हो गया है। मानवता के बदले दानवता का सर्वत्र साम्राज्य है। उस पतित समाज में हम अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध अपनी आवाज तक नहीं उठा सकते। मखना जो कहानी का प्रमुख पात्र है—शोषित वर्ग एवं कुचली हुई आत्मा का ज्वलन्त प्रतीक है। वावू की तावेदारी न करने के कारण उसे जान से हाथ धोने पड़े। उस वेकस का कोई मददगार तक नहीं। क्या पुलिस स्थान, क्या कचहरी और क्या अस्पताल—कहीं उसे पनाह न मिली, मिला केवल

दुत्कार और दारुण फटकार।

क्रांतिकारी कहानी लेखक होने के नाते बेनीपुरी जी विषाक्त वातावरण को मिटाकर नये ढग के समाज का सृजन करना चाहते हैं। प्रस्तुत कहानी में हम लेखक को 'आनेवाला है इन्किलाव कभी रुक सकता नहीं, अब किसी के आगे मजदूर झुक सकता नहीं।'—इस नारे से प्रभावित पाते हैं। लेखक ऐसी दुनिया वसाना चाहता है जहाँ धूप और छाया में काफी विषमता न हो, सर्वत्र एक तरह का वातावरण हो, समाज में न कोई किसी का दास हो और न कोई किसी का मालिक।

Q. 4. (क) 'नागाधिराज' का प्राकृतिक सौन्दर्य अपने शब्दों में चित्रित करें।

(ख) 'आत्मकथा के कुछ मोती' का सारांश लिखें।

Ans. (क) हिमालय प्राकृतिक सुषमाओं एवं सौन्दर्यों का आगार है। यहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य विचित्र एवं अवर्णनीय है। ज्यों-ज्यों ऊपर जाइए, त्यों-त्यों पहाड़ की शोभा और भव्यता बढ़ती ही जाती है और साथ-साथ यात्री का कुतुहल भी। पहाड़ों की श्रृंखला रहस्यमय है। माथे पर हिम का किरीट धारण करके, वानप्रस्थ दशा में ध्यान करने हेतु बैठे हुए नागाधिराज के दर्शन की लालसा से किसी गगनचुम्बी पर्वत के शिखर पर चढ़ने के बाद दूसरे पहाड़ की तलहटी प्रारम्भ हो जाती है।

यह क्रम जारी रहता है मानों हरएक पहाड़ स्वर्गारोहण की एक-एक सीढ़ी है। फिर भीमताल आता है। इस प्रदेश का पुराना नाम 'षष्टि खात' है, क्योंकि आसपास छोटे-बड़े साठ सरोवर हैं। इनमें भीमताल और नैनिताल विख्यात है। भीमताल से लगभग १२-१५ मील की दूरी पर स्थित नैनिताल की छवि अपूर्व है। भीमताल एक बहुत ऊँचे पर्वत की समतल भूमि पर तीन पहाड़ों के बीच बहुत गहड़ा है। इसका जल स्फटिक की तरह सरोवर का आकार एक आड़े-टेढ़े त्रिकोण के समान है। इसके बीच-बीच में छोटे-छोटे द्वीप उसकी सुन्दरता में चार चाँद लगा देते हैं। इसके अपूर्व प्राकृतिक सौन्दर्य के सामने सर वाल्टर स्कॉट की 'सरोवर विहारिणी' कविता में वर्णित सुन्दर सरोवर का हृदय-स्पर्शी शब्द चित्र भी

फीका है। यह सरोवर बरबश वाण भट्ट द्वारा वर्णित अच्छोद सरोवर की याद दिलाता है।

कविवर श्रीधर पाठक जी ने 'काश्मीर सुषमा' में हिमालय और स्वर्ग में किसे उपमा और किसे उपमेय बनाने पर विचार करते हुए कहा है :—

"यही स्वर्ग सुरलोक, यही सुर कानन सुन्दर
यहि अमरन को ओक, यहीं कहुँ बसत पुरन्दर"

Q. 5. (क) 'मुन्डमाल' के आधार पर हाड़ारानी का चरित्र-चित्रण कीजिए। या "हाड़ारानी के पवित्र चरित्र में नारी जीवन का चरम आदर्श अंकित है" इस कथन की पुष्टि करें।

(ख) 'मुण्डमाल शीर्षक कहानी में शिवपूजन जी ने देश एवं समाज की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए एक भारतीय वीर रमणी के अनुपम बलिदान का चित्रण बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंग से किया है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।

Ans. (क) चूड़ावत जी की पत्नी हाड़ावंश की सुलक्षणा, सुशीला, सुकुमारी और अत्यन्त रूपवती कन्या है। इसका व्याह हुए दो-चार दिन ही हुए हैं। सुहाग का सिन्दूर दुहराया भी नहीं गया है। उस के पति आज रूप-नगर की राजकुमारी के सतीत्व की रक्षा के लिए मुगलों की विशाल सेना से मुठभेड़ करने जा रहे हैं। पर उन्हें रानी के सौन्दर्य का मोह सताता है; उसके सतीत्व पर भावी संकट के भय से कातर हो रहे हैं। उनके आते ही रानी उनके मोह को समझ जाती है। उसके सामने भारतीय वीरांगनाओं का चित्र उपस्थित होने लगता है। कर्त्तव्य एवं भावना में एक क्षण के लिए भी द्वन्द्व नहीं होता है। वह शीघ्र ही निश्चय करती है :—

'स्वयं सुसज्जित करके क्षण में, प्रियतम को प्राणों के पण में
हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र-धर्म के नाते।"

वह पति से कहती है कि उमंग में उदासीनता कहाँ से चू पड़ी ? शूरों को शिथिलता नहीं शोभती। वह उन्हें वासनाओं और व्यंजनों से विरक्त होकर वीरत्व धारण करने कहती है। वह कहती है "भारतीय महिलाएँ स्वार्थ के लिए सत्य का संहार करना नहीं चाहती। आर्य महिलाओं के लिए समस्त संसार

की सारी सम्पत्तियों से बढ़कर सतीत्व ही अमूल्य धन है।" अतः किसी नारी के सतीत्व की रक्षा से ही उसका जातीय गौरव अक्षुण्ण रहेगा। नवविवाहिता उर्मिला, वीर वधूटी उत्तरा एवं सती शिरोमणि सीता ने लोक-कल्याण के लिए प्रेम को भुला दिया था और अपने पतियों के यशमन्दिर का मार्ग प्रशस्त किया था। वह भी पति के कर्त्तव्य-पालन में बाधक नहीं साधक ही बनना चाहती है। वह पति को जटायु की तरह सतीत्व रक्षार्थ मरकर अमर होने का संदेश देती है। कारण, वीरों का शरीर अमर नहीं होता बल्कि अमर होता है उनका उज्ज्वल यश। अतः वह पति को समरांगण में जाने के लिए अनुप्राणित करता है और उनसे स्वर्ग में मिलने का आश्वासन देती हैं। वह अनुपम बलिदान करती है। अपना शीश काटकर दृढ़ आशा एवं अटल विश्वास के रूप में सेवक द्वारा अपने पति के पास भेज देती है। रानी कर्त्तव्त के सामने हृदय की कोमल वृत्तियों का उत्सर्ग ही नहीं बल्कि अपने प्राण को भी न्योछावर कर देती है। वह उत्साह, धैर्य, वीरता एवं कर्त्तव्यनिष्ठा का अपूर्व एवं अनुपम उदाहरण उपस्थित करती है। धन्य है चूड़ावत जिन्हें ऐसी वीर रमणी मिली! धन्य है राजस्थान जहाँ ऐसी सती साधवी देवी का जन्म हुआ!!

(ख) के लिए (क) का उत्तर देखें।

Q.6. "महाराणा प्रताप स्वाभिमानी, वीर, उदार एवं सच्चे देशभक्त थे"—प्रमाणित करें।

Ans. श्री गणेशशंकर प्रसाद विद्यार्थी कानपुर से प्रकाशित "प्रताप" के सम्पादक थे। अपनी निर्भीक विचारधारा और स्वस्थ कलम के कारण इन्हें अपने जीवन के शेष भाग जेल में ही बिताने पड़े। कानपुर के दंगे में मानवता की रक्षा करते हुए ये शहीद हुए। अपने निबंध कर्मवीर महाराणा प्रताप में इन्होंने महाराणा को एक स्वाभिमानी, वीर, उदार एवं सच्चे देशभक्त के रूप में चित्रित किया है। महाराणा प्रताप चित्तौर के अधिपति थे। मुगल सम्राट् अकबर ने राजपूतों के साथ वैवाहिक संबन्ध जोड़ना आरम्भ किया था। जयपुर के राजा मान सिंह की फूफू से वह अपना विवाह कर चुका था। दक्षिण विजय कर लौटते हुए मान सिंह चित्तौर में ठहरा था। महाराणाने

उसकी काफी आवभगत की। पर सहभोज में भाग न लिया। मान सिंह के साथ खाने के लिए उन्होंने पुत्र को भेजा। स्वयं सर दर्द का बहाना किया। चतुर मान सिंह ताड़ गया। उसने सरदर्द की दवा लाने की घोषणा की। इस पर महाराणा का स्वाभिमान जाग उठा। इन्होंने कड़ककर मानसिंह को खूब खरीखोटी सुनायी। मान सिंह ने अकबर से महाराणा की खूब चुगली खायी। अकबर ने एक बड़ी सेना सलीम और मान सिंह की देख-रेख में महाराणा के विरुद्ध भेजी। हल्दीघाटी में लड़ाई हुई। वीर प्रताप मुट्ठी भर राजपूतों को लेकर लड़ाई में कूद पड़े। अवसर पाकर भी उन्होंने सलीम पर वार नहीं किया। उदार राणा ने उसे बच्चा समझकर छोड़ दिया। चारों ओर से घिरे रहने पर भी इन्होंने अपने कुल के गौरव स्वरूप राज-मुकुट को नहीं फेंका। घास की रोटी खायी, वन-वन की खाक छानी, पत्थर पर शयन किया। अकबर के सैनिक इन्हें पकड़ने की टोह में लगे रहते थे। कभी-कभी तो उन्हें घास की रोटी भी छोड़कर भागना पड़ता था। पर इसकी परवाह इन्होंने कभी नहीं की। हाँ, एक बार ये कुछ अधीर अवश्य हुए थे। लेकिन अकबर के ही दरबारी पृथ्वीराज के एक पद्य ने इनके स्वाभिमान को पुनः जागृत कर दिया। इनका उत्साह दूना हो गया। देशभक्ति से ये पुनः झूम उठे। भीलों की सेना पुनः एकत्र की। एक सरदार से इन्हें आर्थिक सहायता भी मिल गयी। इनकी वीरता, उदारता तथा देशभक्ति की प्रशंसा अकबर भी मुक्त-कण्ठ से किया करता था। उदार तो ये इतने थे कि अपने प्रिय चेतक की मृत्यु पर ये रो उठे थे। इनकी आँखों में वे आँसू छलछला उठे थे, जो कठिन यातना के समय भी इनकी आँखों में नहीं आये थे।

Q.7. मातृभाषा से आप क्या समझते हैं? उसके महत्त्व का उल्लेख करें। या "मातृभाषा की उन्नति सब उन्नति का मूल है।" सिद्ध करें।

Ans. जिस भाषा को मनुष्य स्वाभाविक अनुकरण द्वारा बाल्यावस्था से सीखता है अर्थात् जिस भाषा को मनुष्यमाता की गोद में सीखता है, उसे हम उसकी 'मातृभाषा' कहते हैं।

हमारे जन्म का कारण माता और पिता दोनों ही हैं, पर माँ के रक्त-

मांस से हमारे शरीर एवं उसकी दुग्ध-सुधा से हमारे जीवन का निर्माण हुआ है। अतः माता की ही महत्ता है। माता शब्द में एक साथ ही स्नेह, सम्मान, पवित्रता एवं आश्रयदातृत्व के भाव सम्मिलित हैं। जिन वस्तुओं के साथ माता शब्द जोड़े गये हैं उनमें भी उसके भाव सन्निहित हैं जैसे गोमाता, गंगामाता, मातृभूमि, मातृभाषा आदि। मनुष्य की माता एवं मातृभूमि की जो महत्ता है वहीं महत्ता उसकी मातृभाषा की भी है। एक माता जन्म देती है,दूसरी खेलने-कूदने, विचरण करने एवं सांसारिक जीवन निर्वाह के लिए स्थान देती है, और तीसरी मनोविचारों एवं मनोगत भावों को दूसरों पर प्रकट करने की शक्ति देकर मनुष्य जीवन को सुखमय बनाती है। सच्ची बात तो यह है कि माता के बिना मनुष्य का काम केवल बाल्यावस्था में नहीं चल सकता, परन्तु मातृभाषा के बिना तो किसी भी अवस्था में मनुष्य का काम नहीं चल सकता। इसी से माता और मातृभाषा की इतनी महत्ता है। मातृभाषा माता के दूध के समान पवित्र और स्वास्थ्यवर्द्धक है; माता के समान ही हमारा गुरु है और उसी के समान स्नेहमयी है।

माता की गोद से ही हमारी प्रारम्भिक ज्ञान मातृभाषा द्वारा होने लगता है। उसी ज्ञानालोक में हम अपने भावी ज्ञान को भी देखते हैं। बाल्यकाल की मधुर स्मृतियों के जुड़े रहने के कारण मातृभाषा मनोहर होती है। वह मानसिक संस्थान का अंग बन जाती है। उसके उच्चारण, श्रवण एवं गायन में हमें अपूर्व आनन्द मिलता है। कितना ही विदेशी रंग में रंगे रहने पर भी हमारे हर्ष-विषाद मातृभाषा में ही प्रकट होते हैं। आत्मरक्षा के संकटमय अवसर पर हम मातृभाषा का ही प्रयोग करते हैं।

मातृभाषा के शब्दों में हमारी जातीय संस्कृति का इतिहास छिपा रहता है। मातृभाषा अपने व्यवहार करने वालों में एक अलक्षित प्रेम, आत्मीयता एवं सहकारिता के भाव उत्पन्न कर देती है एवं शिक्षित-अशिक्षित, गरीब-अमीर के बीच का अन्तर मिटा देती है। क्या ऐसी भाषा का हम पर कुछ भी ऋण नहीं? आज अङ्गरेजी एवं संस्कृत के विद्वान् हिन्दी भिखारिनी का अनादर करते हैं। पर जो मनुष्य रेशमी पोशाक पहनकर चीथड़ों में लिपटी हुई

अपनी माता की तरफ घृणाजनक कटाक्ष करता है, उसे लज्जा आनी चाहिए। मातृभाषा के अनादर के कारण ही आज विचार और क्रिया में विच्छेद है। विचार मातृभाषा से विमुख रहने वाले शिक्षितों के हाथ में है पर क्रिया मातृभाषा-भाषी अशिक्षितों के हाथ में। जिसके फलस्वरूप सामाजिक सुधार सम्बन्धिनी आयोजनाएँ निष्फल हो जाती हैं।

शिक्षा का माध्यम मातृभाषा नहीं होने के कारण भारतवर्ष में मौलिकता का अभाव है। विदेशी भाषा द्वारा प्राप्त शिक्षा हमारे मानसिक संस्थान का अङ्ग नहीं बन पाती और न हमारे ज्ञान का ही विकास हो पाता है। ज्ञान-विकास चिन्तन से होता है और चिन्तन के लिए लोगों में आदान-प्रदान और विनिमय मातृभाषा द्वारा ही व्यापक हो सकता है।

मातृभाषा मौलिक ज्ञान के उत्पत्ति एवं विस्तार तथा सांस्कृतिक जीवन के उत्थान में सबसे अधिक सहायक होती है। मातृभाषा की उन्नति सब प्रकार की उन्नति का मूल है। भाषा की उन्नति से विचार परिपक्व एवं प्रौढ़ होता है। विचार ही सारी क्रियाओं का मूल स्रोत है। स्पष्ट एवं प्रौढ़ विचार से हमारी क्रियाओं का प्रवाह अबाध रूपसे बहता रहता है आर उत्तरोत्तर हम उन्नति करते हैं।

Q. 8. "चरित्र-चित्रण, भाव-भूमि एवं भाषा—इन सभी दृष्टियों से तुलसीदास समन्वयकारी एवं भविष्य-स्रष्टा थे। अतः राम और कृष्ण की नाईं वे भी जन समाज के एक लोकनायक हैं" या "तुलसीदास कवि थे। भक्त थे,, पंडित थे, सुधारक थे, लोकनायक थे और भविष्य के स्रष्टा थे।" या "समस्त तुलसी-साहित्य समन्वय की विराट् चेष्टा है"। इस कथन की पुष्टि कीजिए।

Ans. पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी-साहित्य के एक सुलझे हुए आलोचक हैं। सन्त-साहित्य की आलोचना में इन्हें पर्याप्त प्रसिद्धि मिली है। प्रस्तुत निबन्ध में इन्होंने सन्त कवि तुलसी दास को एक लोकनायक के रूप में चित्रित किया है। हमारी भारतीय शास्त्र-परम्परा बतलाती है कि निकृष्ट एवं उद्दण्ड तत्त्वों के कारण जब समाज असंतुलित हो जाता है तब किसी ऐसे महान्

व्यक्ति का आविर्भाव होता है, जो विच्छिन्न सामाजिक शृंखला को पुनः जोड़ने की चेष्टा करते हैं। समाज में समन्वय लाते हैं।

सन्त तुलसीदास भी समन्वयकारी थे। जिस समय इनका आविर्भाव हुआ था, उस समय की सामाजिक शृंखला बिलकुल छिन्न-भिन्न हो गयी था। लोग दुखी एवं निराश थे। 'नारी मुए गृह सम्पत्ति नासी। मुन्ड मुड़ाए भए सन्यासी' का बाजार खूब गर्म था। हठयोगियों का विलक्षण करामात चालू था। नीच वर्ग के लोग साधुता ग्रहण कर उच्चवर्गों से प्रतिष्ठा पा रहे थे। समाज का स्वस्थ रूप लुप्त हो गया था। सौभाग्य से गोस्वामी तुलसी दास ने स्वस्थ समाज बनाने की चेष्टा की।

इनके समय में सगुणवादी और निर्गुणवादी सन्तों में विशेष मतभेद था। इधर सगुणवाद में भी राम और कृष्ण के पृथक्-पृथक् उपासक थे। तुलसी ने इनमें समन्वय लाने की चेष्टा की। निर्गुणवादी सन्त भी जिस राम को मानते थे, उसी राम को राम-भक्ति-शाखा के सगुणवादी सन्त तुलसी ने अपने 'मानस' के लिए चुना। इसके दो कारण थे—एक तो इन्हें मधुर-भाव का कटु अनुभव अपने गृहस्थ-जीवन में हो चुका था। दूसरा यह कि निर्गुणवादियों ने 'राम' प्रचार साधारण जनता में खूब किया था। अतः इन्होंने उपासना के क्षेत्र में एक नये भाव का सृजन किया। सगुण और निर्गुण की भाव-भूमि में एक विलक्षण समन्वय लाया। अपने मानस के राम को हर श्रेणी के मनुष्यों के 'मानस' में बैठाया। समाज के सभी अंगों को काट-छाँट कर एक नवीन ढंग से जोड़ने की चेष्टा की। 'मानस' समाज की भाव-भूमि का समन्वयात्मक काव्य है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी तुलसी सर्वोपरि हैं। राम जैसा नायक, सीता जैसी नायिका, भरत और लक्ष्मण जैसे भाई—किस कलाकार की कल्पना हैं? तुलसी का चरित्र-चित्रण एक 'गृहस्थ-जीवन' का चित्रण है जो लौकिक होते हुए भी अलौकिक है। राम-कथा का सृजन कर इन्होंने समाज के आदर्श भविष्य की कल्पना की है। यही कारण है कि इनका राम-चरित-मानस साढ़ चार सौ वर्ष पुराना होते हुए भी चिर नवीन है।

भाषा की दृष्टि से भी इनकी प्रतिभा बेजोड़ है। 'मानस' में 'अवधी' की प्रधानता होते हुए भी अन्य क्षेत्रीय भाषाओं का कलात्मक पुट है। 'अवधी' के साथ संस्कृत का समन्वय तो सोने में सुगन्ध की तरह है। इनकी 'विनय-पत्रिका' में अरबी और फारसी के शब्दों का बहुत प्रयोग मिलता है। अतः भाव-भूमि, चरित्र-चित्रण और भाषा की दृष्टि से भी तुलसी दास एक समन्वयकारी कवि थे, जिनमें लोक-नायक होने के समस्त गुण समाविष्ट थे।

Q. 9. (क) 'उन्होंने अपनी निज की हानि को मनुष्यत्व की हानि पर न्योछावर कर दिया। ऐसा मनुष्य मनुष्य नहीं, देवता है।" या "हार की जीत में मानव-जीवन की गहरी अनुभूतियों का प्रदर्शन है।"—हार की जीत शीर्षक कहानी से इसकी पुष्टि करें। (ख) क्या 'हार की जीत' शीर्षक उपयुक्त है। इस कहानी से क्या शिक्षा मिलती हैं? या कहानी के अन्तर्गत जो महान् आदर्श है उसपर प्रकाश डालिए।

Ans (क) बाबा भारती गाँव के बाहर एक छोटे से मंदिर में रहते थे और भगवान् का भजन करते थे। शेष समय सुलतान नामक घोड़े की सेवा में लगाते थे। सुलतान की वियोग-वेदना उनके लिए असह्य थी। सचमुच, वैरागी बाबा को सुलतान के लिए आसक्ति थी, कमजोरी थी। संध्या को उसपर चढ़कर ८-१० मील का चक्कर लगाये बिना उन्हें चैन न आता।

सुलतान की बड़ाई सुनते ही इलाके का प्रसिद्ध डाकू खड्गसिंह बाबा की कुटिया पर पहुँचा। बाबा ने घोड़ा दिखाया—घमण्ड से। उसकी गुण-गाथा गाने में बाबा थकते नहीं थे। इतना ही नहीं, उसकी प्रशंसा दूसरे के मुख से सुनने के लिए उनका हृदय अधीर हो गया। डाकू ने कह दिया, "बाबा जी, यह घोड़ा आपके पास न रहने दूँगा।' बाबा भारती डर गये। उनकी नींद काफूर हो गयी। रात भर अस्तबल की रखवाली करने लगे। कई मास के बाद बाबा इस भय को मिथ्या समझने लगे।

एक संध्या को बाबा घोड़े पर सवार हो घूमने जा रहे थे। एक अपाहिज कंगले ने घोड़े पर बैठकर कुछ दूर पहुँचाने की प्रार्थना बाबा से की। बाबा को दया आयी। उन्होंने उसे घोड़े पर बैठाकर स्वयं उसकी लगाम

पकड़कर धीरे-धीरे चलने लगे। सहसा उन्हें एक झटका लगा। उन्होंने देखा कि अपाहिज घोड़े को दौड़ाये जा रहा है। वह खड्ग सिंह डाकू था। भय, विस्मय एवं निराशा की चीख उनके मुँह से निकली। कुछ क्षण के बाद उन्होंने चिल्लाकर उसे ठहरने कहा। वह रुका। बाबा ने कहा कि घोड़ा तुम्हारा हो चुका। पर इस घटना के बारे में किसी से मत कहना—यहा मेरी प्रार्थना है। इसका कारण पूछने पर उन्होंने कहा कि लोगों को यदि इस घटना का पता लग जाय, तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे। इतना कहकर उन्होंने घोड़े की ओर से इस तरह मुँह मोड़ लिया, जैसे कोई सम्बन्ध ही नहीं था। बाबा के ऊँच विचार एवं पवित्र भाव की छाप डाकू पर पड़ गयी। सचमुच, बाबा भारती की आसक्ति विरक्त में शीघ्र परिणत हो गयी। 'लोग गरीबों पर विश्वास करना न छोड़ दें; इस भय के आगे सुलतान के लिए उनका प्रेमनतमस्तक हो गया। परमार्थ में स्वार्थ विलीन हो गया। अपनी क्षति मानवता की क्षति के समाने नगण्य एवं तुच्छ दीख पड़ने लगी। उन्होंनें निज की हानि को मनुष्यत्व की हानि पर न्योछावर कर दिया। ऐसा मनुष्य मनुष्य नहीं देवता है। अतः इसमें मानव जीवन की गहरी अनुभूतियों एवं महान् नैतिक आदर्श का प्रदर्शन है।

(ख) खड्ग सिंह बाबा के वर्त्ताव से इतना प्रभावित हुआ कि उसकी पाशविक वृत्ति मानवता में बदल गयी। वह रात्रि के अंधकार में घोड़े को बाबा के अस्तबल में बाँध आया। उसकी आँखों से नेकी के आँसू बह निकले जिसमें उसकी पाशविकता बह गयी। बाबा जी पराजित हुए थे और खड्ग सिंह विजयी। पर पराजित बाबा जी की उदारता एवं महानता ने विजयी खड्ग सिंह की पाशविकता पर विजय पायी। बाबा जी हार कर भी जीत गये। खड्ग सिंह जीत कर भी हार गया पर उसकी हार जीत से भी अधिक महत्त्वपूर्ण रही। कारण, खड्ग सिंह की सदा से हारी हुई मानवता सदा से जीती हुई दानवता पर विजयी हुई। अतः कहानी का शीर्षक 'हार का जीत' पूर्णतः उपयुक्त है।

इस कहानी के आदर्श से कई शिक्षाएँ मिलती हैं। (१) किसी वस्तु में अधिक आसक्ति दुःखदायी होती है। सांसारिक वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं, अस्थिर हैं। आसक्तिवाली वस्तु के खोने पर मनुष्य को दुःख होता है, जैसे घोड़ा खोने पर बाबा भारती को। (२) अपनी वस्तु की अधिक प्रशंसा करना और उस पर गर्व करना अनुचित है। वस्तु के उचित मूल्यांकन से जीवन में संतुलन रहता है। किसी वस्तु पर घमण्ड करने से भी यह संतुलन खतम हो जाता है। घमण्ड का नाश अवश्यम्भावी है और उसके बाद पुनः संतुलन आ जाता है। (३) किसी वस्तु के खो जाने पर या छीने जाने पर ऐसा ही समझना चाहिए मानो वह उसकी सम्पत्ति नहीं थी। इससे मनुष्य को शांति मिलती है। (४) अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना नहीं चाहिए। क्योंकि यह दानव प्रकृति का द्योतक है और पतन का कारण है। (५) आत्मबल-शांति, धैर्य एवं त्याग से क्रूर से क्रूर आदमी के दानवी हृदय पर भी विजय पायी जा सकती है। खड़ग सिंह डाकू को बाबा भारती ने आत्मबल से ही पराजित किया। आत्मबल वाले नग्न फकीर, महात्मा गाँधी नें वृटिश सत्ता की नींव हिला दी। (६) परमार्थ स्वार्थ से श्रेष्कर है। समष्टि के लिए व्यष्टि को मानवता के लिए व्यक्तिगत लाभ को त्यागना चाहिए। दीन-दुखियों की सहायता के लिए निज की हानि सहनी चाहिए।

Explain Q. 1. (क) ज्ञान-राशि के संचित……सकती। (साहित्य४)
(ख) सामाजिक शक्ति या सजीवता……साहित्य ही है। (,, ४).
(ग) जिस जाति की सामाजिक अवस्था…मिल सकती है। (,, ५).
(घ) साहित्य में जो शक्ति छिपी……नहीं पायी जाती। (,, ६).

Ans. (क) यह गद्यांश 'साहित्य' शीर्षक निबंध से उद्धृत है। यहाँ द्विवेदी-जी ने साहित्य की परिभाषा दी है और उसे भाषा के आदर का कारण बतलाया है। मानव के क्रमिक विकास के साथ-साथ उसके विचारों एवं भावों की अभिव्यक्ति के साधन में भी विकास होता गया। पहले भाषा, तब लिपि का आविष्कार हुआ जिससे विचार, भाव एवं ज्ञान अधिक काल तक सुरक्षित

होने लगे। ज्ञान धीरे-धीरे संचित किया जाने लगा। ज्ञानपुञ्ज के इस प्रकार एकत्रित भण्डार को 'साहित्य' कहते हैं। किसी भाषा का शब्द-भण्डार बहुत सम्पन्न है। सभी प्रकार के भाव एवं विचार उस भाषा के माध्यम से प्रकट किये जा सकते हैं। उस भाषा में किसा प्रकार का दोष नहीं है। फिर भी यदि उस भाषा का अपना साहित्य नहीं है, तो उसे आदर और सम्मान नहीं मिल सकता है। आदर एवं सम्मान के लिए उच्चता, श्रेष्ठता एवं गरिमा की आवश्यकता है। साहित्य के अभाव में भाषा को इन चीजों की प्राप्ति नहीं हो सकती है। रूपवती स्त्री किसी गृह की शोभा बढ़ाती है। रुपवती भिखारिन की गणना आदरणीय व्यक्तियों में नहीं होता है। वह सदा दर-दर भटकती फिरती है। ठीक वही दशा है साहित्य-विहीन भाषा की। साहित्य ही भाषा की श्री-सम्पन्नता एवं मान-मर्यादा का आधार है।

Q. 2. (i) उनके लेख···दर्पण होते हैं। (ii) दूसरों को मार कर नहीं है। (iii) महात्मागांधी की वाणी·· है। (पृ० १०४,१०३,१०७)।

Ans. (i) ये पंक्तियाँ 'महात्मा गाँधी की जय' शीर्षक से उद्धृत हैं। महात्मा गाँधी ने यद्यपि बड़े शास्त्र की रचना नहीं की है, फिर भी बड़े कलाकार हैं। बड़े-बड़े कलाकारों के लिए कल्पना, वाक्यचातुर्य तथा अलंकार ही काव्य की कसौटी है। किन्तु बापू की काव्य-कसौटी भिन्न है। उनके साहित्य की कसौटी सुन्दर भाव हैं। सुन्दर भाव उनके लिए दर्पण के सदृश्य हैं। इस दर्पण में कोई भी व्यक्ति अपने हृदय का बिम्ब-प्रतिबिम्ब देख सकता है। दर्पण की बाहरी बनावट की अपेक्षा उसकी उपयोगिता और स्वच्छता कहीं अधिक काम की होती है। उसी तरह किसी रचना में भाव को ही महत्ता है।

Q. 3. (क) लोक और शास्त्र···विराट् चेष्टा है। (ख) समन्वय का मतलब···उनमें थीं। (ग) भारतवर्ष का लोकनायक···हैं। (घ) आज तीन सौ वर्ष बाद···मेरुदंड है। (१४४,१४६,१४३,१४७)

Ans. (क) यह गद्यांश 'लोकनायक तुलसीदास' शीर्षक निबंध से उद्धृत है। इन पंक्तियों में विद्वान् लेखक श्री हजारी प्रसाद द्विवेदीजी ने गोस्वामीजी

के व्यापक और समन्वयकारी दृष्टिकोण का विश्लेषण किया है। उनके समन्वय कारी होने के कारण हैं जीवन के विभिन्न रूपों की गहरी अनुभूति तथा शास्त्र का व्यापक ज्ञान। उन्हें स्वयं जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में रहना पड़ा था। ब्राह्मण, भिखारी, निकृष्ट आसक्तिपूर्ण गृहस्थ जीवन, अशिक्षित एवं असभ्य जनता के बीच जीवन तथा काशी के पंडितों एवं सन्यासियों की संगति का अनुभव उन्हें था। नानापुराण, निगमागम, लोकप्रिय साहित्य के वे पंडित थे। उन्होंने तत्कालीन प्रचलित सभी काव्य पद्धतियों को अपने रंग में रंग लिया। इस प्रकार लोक एवं शास्त्र के विस्तृत ज्ञान के कारण एक अपूर्व समन्वयकारी दृष्टि उनकी थी। उनकी सारी रचनाओं में समन्वय एवं सामंजस्य को स्थापित करने की सतत चेष्टा की गयी है और इसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता भी मिली है। 'रामचरित मानस' तो शुरु से आखिर तक समन्वय का ही काव्य है। इसमें लोक जीवन और शास्त्रीयता का समन्वय है। गार्हस्थ्य जीवन और वैराग्य का समन्वय है। 'ज्ञानहि भक्तिहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।' में ज्ञान एवं भक्ति में समन्वय है। 'शिव द्रोही मम दास कहावै। सो नर सपने मोहि नहिं पावै॥' कहकर तत्कालीन शैवों एवं वैष्णवों में समन्वय स्थापित किया। इसी समन्वय-साधन से वे लोकनायक हो सके।

Q. 4. (क) 'धनवान के स्वर्ग के राज्य में···आसान है।' (दीनों पर प्रेम ६७)

(ख) दीनबन्धु का निवासस्थान···देनेवाली है। (,, ६८)

(ग) आज उनका नश्वर शरीर···रहेगा। (रवीन्द्रनाथ ठाकुर ६३)

Ans. (क)—ये पंक्तियाँ 'दीनों पर प्रेम' नामक निबन्ध से उद्धृत हैं। श्री वियोगी हरि दीन-दुखियों की सेवा में ही ईश्वर का निवास मानते हैं। महात्मा ईसा के वचनों द्वारा यह प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं कि वास्तव में वैभव की दुनिया में रहनेवाला धनिक भगवद्भक्त नहीं हो सकता। क्योंकि धन-वैभव के मद में मनुष्य को स्वर्ग का मार्ग दिखाई नहीं पड़ता। वैभव को ठुकरानेवाला और गरीबों की सेवा करनेवाला ही सच्चा ईश्वर-भक्त है। ऊँट को सूई के छेद से निकल जाना संभव भी हो किन्तु धनिक को स्वर्ग

जाना असंभव है। निस्सन्देह घन हृदय के देवत्व भाव को नष्ट कर देता है और दीनता करुणामय ईश्वर की याद दिला देती है।

Q. 5. (क) संपूर्ण गैर जिम्मेदारी···क्या अचरज। (जीवन और शिक्षण १५१)

(ख) भगवान ने अर्जुन से···तैयारी होती है। (,, १५१)

Ans. (क) ये पंक्तियाँ श्री विनोबा रचित 'जीवन और शिक्षण' शीर्षक निबंध से उद्धृत हैं। इन पंक्तियों में लेखक ने वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति के दोषों पर प्रकाश डाला है। आजकल की शिक्षा-पद्धति द्वारा विद्यार्थियों को व्यवहारोपयोगी ज्ञान बहुत कम सिखाया जाता है। फलस्वरूप विद्यार्थियों में उत्तरदायित्व का ज्ञान बहुत कम ही पाया जाता है। शिक्षण काल के बाद उन्हें जीवन की कठिनाइयों से बेतरह जूझना पड़ता है। उनका जीवन कुपरिणामों को बुरी तरह भोगता है। अतः उनके जीवन को बिलकुल ठीक बनाने के लिए व्यावहारिक ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। पर आज की शिक्षा-पद्धति में शिक्षा-प्राप्ति के अन्तिम दिनों तक हम गैर जिम्मेदार बने रहते हैं और दूसरे ही दिन जीवन की सारी जिम्मेदारियाँ हम पर आ जाती हैं। क्या एक ही दिन में सारी जिम्मेदारियों को निभाने की क्षमता हममें अचानक आ जाती है? कदापि नहीं। इस प्रकार सदा से संपूर्ण गैर जिम्मेदार रहते हुए भी एकाएक सारी जिम्मेदारी का बोझ उठाना हनुमान की तरह समुद्र में एक-ब-एक कूदकर पार करना है किन्तु ऐसी कूद में हाथ-पैर टूटने का विशेष भय है। इस तरह कूद में अंग-भंग यदि हो भी जाय तो क्या आश्चर्य है?

Q. 6. (क) देव, झुरमुट की ओर···· सिसक रहा था। (कोणार्क २१४)

(ख) लेकिन वहाँ न कोई हँसता है······पापी है। (नागाधिराज ७३)

(ग) हरिश्चन्द्र अपनी दासता······उनका हाथ पकड़ा था। (कर्मवीर ८२)

Ans. (क) प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री जगदीशचन्द्र माथुर द्वारा रचित 'कोणार्क' शीर्षक एकांकी से उद्धृत हैं। इन पंक्तियों में शिल्पियों द्वारा जयजयकार मनाने के रहस्य पर प्रकाश डाला गया है। उड़ीसा नरेश श्री नरसिंहदेव के पधारने पर शिल्पियों ने जयकार ध्वनि की। महाराज ने शिल्पी विशु को रत्नमाला देना चाहा—किन्तु उसने युवक शिल्पी धर्मपद को देने को

कहा क्योंकि मन्दिर पूर्ण करने में उसी का हाथ था। जब महाराज ने शिल्पियों की जयध्वनि की चर्चा की तो धर्मपद ने कहा कि आपके हर्षोल्लास के कारण शिल्पियों की जयकार ध्वनि आपको सुनाई पड़ी। शिल्पियों के हृदय में विशाद का हाहाकार भी था जो आपको सुनाई नहीं पड़ा। दरअसल शिल्पियों के हृदय में पीड़ा एवं व्यथा भरी हुई थी। जिस तरह झाड़ियों की ओट में चहकनेवाली चिड़ियों की चहचहाहट में सर्वदा उल्लास नहीं रहता है। अपितु, उसमें उनकी पीड़ा एवं वेदना भी छिपी रहती है। उसी तरह शिल्पियों के जयजयकार में भी व्यथा एवं पीड़ा के स्वर भी वर्त्तमान थे।

Q. 7. उन्होंने अपने निज की हानि…देवता हैं। (पृ० १३८)

प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री सुदर्शनजी द्वारा रचित कहानी 'हार की जीत' से ली गयी हैं। इन पंक्तियों में बाबा भारती के हृदय द्वारा उत्पन्न भावों पर प्रकाश डाला गया है। बाबा भारती के वचन से डाकू बेहद प्रभावित हुआ और सोचने लगा कि यह मनुष्य के रूप में देवता है क्योंकि अपनी हानि की चिन्ता नहीं है। बाबा भारती को प्राण-प्रिय घोड़े की चिन्ता नहीं है किन्तु चिन्ता इसलिए है कि लोग दीनों एवं अपाहिजों की सेवा से विमुख हो जायेंगे। व्यक्तिगत हानि-लाभ की परवाह न कर मानव के कल्याण की चिंता में मग्न रहनेवाला व्यक्ति वास्तव में देवता है। बाबा भारती में व्यक्तिगत चिन्ता के भाव नहीं हैं। उनमें मानवता के कल्याण की चिन्ता है। अतः सही अर्थ में वे देवता हैं।

Q. 8. (क) भय हमको……प्रयोग करते हैं। (ख) उसी विचार…हो जाती हैं। (ग) ज्ञान मनन से बढ़ता है… …नहीं। (११२, ११३, ११४)

Ans. (क)—यह गद्यांश 'मातृभाषा की महत्ता' शीर्षक निबन्ध से उद्धृत है। विद्वान् लेखक श्री गुलाब राय ने बतलाया है कि हर्ष एवं विषाद में मनुष्य अनायास ही मातृभाषा में ही बोलता है, चाहे वह जितना भी विदेशी रंग में रँगा हो। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि आपत्ति, दुःख एवं भय में मनुष्य सहायता चाहता है। स्वभावतः वह अपने लोगों से सहायता एवं आश्रय की आशा करता है। मातृभाषा में भी आत्मरक्षा, आश्रय, दातृत्व

और आत्मीयता का भाव छिपा है। यही कारण है कि संकट के समय आत्म-रक्षार्थ मनुष्य अपनी मातृभाषा का ही प्रयोग करता है। वह दुःख को आसानी से मातृभाषा में प्रकट करता है। इससे मातृभाषा की महत्ता सिद्ध होती है।

Q. 9. (क) वीरों का यह रक्त-मांस······अमर होता है।

(ख) भारत की महिलाएँ···चकनाचूर हो जायगा। (मुंडमाल ३८, ३७)

(क) ये पंक्तियाँ 'मुण्डमाल' शीर्षक कहानी से ली गयी हैं। यहाँ लेखक ने शरीर की क्षणभंगुरता एवं कीर्त्ति की अक्षयता पर प्रकाश डाला है। चूड़ावत जी नवविवाहिता पत्नी के प्रेमपाश में पड़कर सतीत्व रक्षार्थ रणक्षेत्र में जाने से विमुख हो रहे हैं। उन्हें शरीर पर मोह हो रहा है। रानी कहती है कि वृद्ध जटायुने सीता की सतीत्व-रक्षा हेतु अपनी जान तक दे दी। पर उनका सुयश सदा अक्षय एवं अमर रहेगा। रक्त-मांस से बना हुआ शरीर क्षणभंगुर है, नाशवान् है-चाहे वह वीरों का शरीर हो या कायर का। इस मृत्यु भुवन में जो भी आया, वह मरेगा अवश्य, उसके शरीर का नाश अवश्यम्भावी है। हाँ, वीरों की वीरता, उनके उज्ज्वल यश रूपी शरीर, पर काल की दाल नहीं गलती है। वह अमर हो जाता है। अतः उस अमरत्व को प्राप्त करने के लिए इस हाड़-माँस के शरीर की परवाह नहीं करनी चाहिए। शरीर के नाश के भय से वीर को पीछे कदम नहीं करना चाहिए। कर्त्तव्य पालन में, अक्षय कीर्त्ति की प्राप्ति में प्राण-को भी न्योछावर कर देना चाहिए। इस प्रकार रानी चूड़ावत जी को रण क्षेत्र में जाने के लिए अनुप्राणित करती है।

Q. 10. (क) जिन निर्दय हाथों ने···देखने के लिए। (कहीं धूप···१९४)

(ख) ऊपर की सूरत-शकल···बेबसी है, बेगारी है। (कहीं धूप···१८५)

Ans. (क) प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री रामवृक्ष बेनीपुरी लिखित "कहीं धूप, कहीं छाया" शीर्षक कहानी से उद्धृत हैं। इन पंक्तियों में लेखक ने पशुवत् वृत्तिवाले मनुष्यों पर गहरा व्यंग किया है। जब बाबू साहब मखना की बेहोशी महसूस करने लगे, तब पुलिस इत्यादि तथा ब्याह में बाधा होने के भय से मखना के उपचार का प्रबन्ध करने लगे। उसके लिए तरह-तरह के उपाय किये जाने लगे। जो लोग उसे इस बेहोशी की अवस्था तक लाने में जिम्मेवार

थे, वे लोग कृत्रिम उपचार में तल्लीन थे। ऐसा लगता था कि बद्हवास मखना को ठीक अवस्था तक लाकर उसके तड़पने का दृश्य देखना चाहते थे। उसके साथ सम्भवत: वे लोग इसी उद्देश्य से लगे हुए थे।

Poetry Q. 1. तुलसीदास द्वारा वर्णित 'राम-विलाप' का सारांश लिखें।

Ans. लंका में राम-रावण-युद्ध चल रहा हैं। रात्रि का समय है। मेघनाद के शक्तिवाण से आहत होकर लक्ष्मण जी मूर्छित हो कर पड़े हैं। हनुमान जी संजीवन बटी लाने गये हैं। उनके आने में विलम्ब हो रहा है। लक्ष्मण की दयनीय अवस्था देखकर रामचन्द्र उन्हें छाती से लगा कर विलाप करने लगते हैं। हे तात ! तुम सदा मेरे सुख की चिंता किया करते थे। तुमने मेरे सुख के लिए माता-पिता का परित्याग किया, राजमहल को ठोकर मार दी और वन का सारी कठिनाइयों का सहर्ष सामना किया। मेरे प्रति तुम्हारा सारा अनुराग कहाँ चला गया कि मेरे आकुल वचन सुनकर भी तुम नहीं उठ रहे हो।

यदि मैं जानता कि वन में भाई का वियोग होगा, तो मैं सीता को अपने साथ वन में लाता ही नहीं। उसका वन आना ही सारी विपत्तियों का कारण बन गया है। संसार में पुत्र, धन, स्त्री और कुटुम्ब वारंवार होते हैं और मिटते हैं, पर सहोदर भाई नहीं मिलता है। ऐसा विचार कर तुम जाग जाओ। राम भ्रातृ-प्रेम के सामने स्त्री, पुत्र और धन आदि के प्रेम को तुच्छ समझते हैं :—

"सुत वित नारि भवन परिवारा। होहि जाहिं जग बारहिं बारा ॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता ॥"

मेरी दशा पर कुछ तो दया करो। आज तुम्हारे बिना मेरी दशा पखहीन पक्षी, मणिहीन सर्प और सूढ़ रहित हाथी की तरह हो गयी है। अर्थात् तुम्हारे बिना मेरे सारे शील, शक्ति और सौन्दर्य समाप्त हो गये हैं। स्त्री के लिए प्रिय बन्धु को गवाँ दिया इस लोकापवाद को मैं कैसे सहन करूँगा। स्त्री की हानि मैं सह लेता। हे लक्ष्मण ! माता ने मुझे तेरा हितैषी जानकर ही तुझे सौंपा था। भला, मैं उसे क्या उत्तर दूँगा ? इस प्रकार

विलाप करते हुए उनकी आँखों से अविरल अश्रु-धारा प्रवाहित हो रही है। उनके करुण विलाप सुन कर सारी बानरी सेना व्याकुल हो गयी।

Q. 2. मीराबाई या विद्यापति के पदों का भाव लिखें। या श्रीकृष्ण के प्रति मीरा बाई की अनन्य भक्ति का वर्णन करें।

Ans. "मीराबाई भक्ति के तपोवन की शकुन्तला है, राजपूताने के मरुस्थल की मन्दाकिनी है।"—श्री सुमित्रानन्दन पंत।

मीरा ने कृष्ण के प्रति पति-भाव से अपने आप को न्योछावर किया है। मीरा की उपासना माधुर्य भाव की है। उसने 'गिरधर गोपाल' को रिझाया है, उन्हें अपना लिया है। उसकी उपासना में जो तन्मयता है वह कृष्णभक्ति शाखा के किसी भी कवि में नहीं। मीरा कहती है कि मेरे लिए श्रीकृष्ण ही सर्वस्व हैं! सारे संसार में खोजने पर भी उनकी तरह कोई दूसरा हितैषी न मिला। मैंने अपने भाई-बन्धुओं तथा सारे सम्बन्धियों को त्याग दिया। स; ओं की संगति लोक-लज्जा (कुल-मर्यादा) को छोड़कर की। भगवत् भक्तों को देखकर मुझे अपार आनन्द हुआ और सांसारिक माया में लिप्त लोगों को देखकर अति दुःख हुआ। भक्ति के आनंद के मधुर फल पाने की आशा हो जाती है और कहती है :—

"अँसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम-बेलि बोई।
अब तो बेलि फैलि गई आनंद फल होई।"

सांसारिक माया रूपी दही को मथकर भक्ति रूपी मक्खन ग्रहण किया और असार वस्तु रूपी मट्ठा छोड़ दिया। प्रभु-प्रेम के प्रवाह में सारी बाधाएँ बह जाती हैं :—(१) "राणा विष को प्यालो भेज्यो पीय मगन होई"

(२) "राणा भेजा जहर पियाला, इमिरत कर पी जाना जी;
डिबिया में भेज्या जु भुजंगम, सालिगराम करि जाना जी।"

वह साधना की तल्लीनता धन्य है जो विष को अमृत और भुजंगम को भगवान् बना देती है।

आगे कहती है कि कृष्ण के प्रति मेरी प्रेम-कहानी चारों ओर फैल गयी, सभी लोग जान गये। अब जो भी फल हो, मुझे कोई चिंता नहीं।

दूसरे पद्य में वह पगली प्रेम-विह्वल हाथों में करताल लेकर भावनिरत चरणों से ताल दे देकर, नृत्य करती हुई, श्रीकृष्ण के लोकरंजक रूप के बारे में गाती है। उसी लोकरंजक रूप को अपनी आँखों में वास करने के लिए श्रीकृष्ण से मनुहारें करती है। मोहिनी मूर्ति, साँवली सूरती, विशाल नेत्र, माथेपर मोर मुकुट, कानों में मकराकृत कुण्डल, प्रशस्त ललाट पर लाल तिलक, अधरों पर अमृत बरसाने वाली मुरली, वक्षस्थल पर वैजंती की माला, कमर में घुँघरु, पैर में मधुर ध्वनि करनेवाले नूपुर—भक्त वत्सल, संतों को सुख देनेवाले श्रीकृष्ण का यही लोक-रंजक रूप मीरा के नेत्रों में सदा वास करे।

वह अपने संगीत की तन्मयता से सारे वातावरण को झनकार पूर्ण कर देती है—मानों स्वरों में ही साँवलिया को साकार कर देना चाहती है। सचमुच, राजपूताने की मरुस्थली में मीरा की कविता माधुर्य, भावकता और तन्मयता की त्रिवेणी सी प्रवाहित होती है। उसके किनारे के वृक्ष की सबसे ऊँची डाल पर एक कोकिला सी बैठकर मीरा अपने गिरधर गोपाल का गीत गाती रहती है।

Q.3. "अपने नीति पूर्ण दोहों में रहीम ने एक सच्चे अनुभवी की भाँति मानव जीवन की विभिन्न स्थितियों का वर्णन किया है।" इस कथन की पुष्टि करें। या "रहीम के दोहों में नीति एवं जीवन के सरल उदाहरणों का मणिकांचन योग है"—इसकी पुष्टि करें।

Ans. रहीम हिन्दी के प्रसिद्ध सूक्तिकार और जीवन की परिस्थिति के कुशल चित्रकार हैं। इसका कारण है उन्हें जीवन के घात-प्रतिघात का गहरी अनुभूति थी। उन्होने निज जीवन के उत्थान-पतन, उसकी उथल-पुथल देखी थी। अतः उनके दोहों में जीवन के मर्मस्पर्शी सत्य और मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झांक रहा है।

संगति की चर्चा करते हुए रहीम ने साधारण प्रकृति वाले मनुष्य की तुलना स्वातिबूंद से और उत्तम प्रकृतिवाले की तुलना चन्दन से की है। स्वातिबूंद केले के मुख में पड़ने से कपूर, सीपी के मुख में पड़ने से मोती और सर्प के मुख में पड़ने से मणि पैदा करती है। साधारण मनुष्य पर भी ंगति का प्रभाव पड़ता है। पर उत्तम प्रकृतिवाले मनुष्य पर कुसंगति का प्रभाव नहीं पड़ता है जैसे चन्दन वृक्ष में लिपटे विषधर का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता है (दोहा १,९)। राज्य दरबार का कटु-मधु अनुभव रहीम को था। आये दिन निरंकुश राजा द्वारा उच्च पदाधिकारी को भी अपमानित होना पड़ता था। अतः रहीम के विचार में सम्मान रहित सबसे बड़ा पुरस्कार भी त्याज्य है। मान सहित विषपान करके शम्भु जगदीश हो गये और मान सहित अमृत-पान करके भी राहु को अपने सिर से हाथ धोना पड़ा दोहा (२)। इसीलिए पानी रखने (प्रतिष्ठा रखने) के लिए वे उपदेश देते हैं। मान रहित जीवन तो मृत्यु-तुल्य है, निरर्थक है जैसे पानी खतम हो जाने पर मोती और चूना बेकार हो जाते हैं (दोहा १०)। हृदय की एकता ही प्रेम का आधार है। बाहर-भीतर में समता होनी चाहिए दोहा (३)। सज्जन और दुर्जन की पहचान सकट (अवसर) आने पर ही होती है जैसे वसन्त काल में ही कोयल और कौए की बोली उनका परिचय देती है (दोहा ४) उदारता एवं परोपकारिता ही महत्ता की कसौटी है न कि सम्पत्ति, जैसे छोटे जीव को सपुष्ट करनेवाला तालाब-कुएँ का कीचड़ युक्त जल सागर के अथाह जल से अधिक प्रशंसनीय है (दोहा ५)। छोटे लोग पद पाकर मत्त हो जाते हैं, जैसे प्यादे से वजीर होने पर वह घमंड में इधर-उधर चलने लगता है (दोहा ६)। वंश में कुपुत्र का जन्म अभिशाप है। बड़े होने पर उनके कारनामे परिवार की सारी आशाओं पर पानी फेर देते हैं। कुल की प्रतिष्ठा नष्ट कर देते हैं (दोहा ८)। इस प्रकार उनकी कविता का जीवन से अटूट सम्बन्ध हैं। इनकी रचना के पीछे एक ऐसा हृदय है जिसमें अनुभव, अन्तर्दृष्टि और सरसता है। इसी कारण से उनकी कविता लोकप्रिय और अमर है।

Q.4. (क) बिहारी के दस दोहों का भाव लिखें। या (ख) सिद्ध कीजिए

कि बिहारी के दोहे बड़े चुटकीले, अनुभवपूर्ण, मर्मस्पर्शी, सरस तथा कोमल कल्पनाओं से ओत-प्रोत हैं।

Ans. (क) विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त बिहारी ने सूक्तियाँ भी लिखी हैं जिनमें बहुत-सी नीति सम्बन्ध दोहे भी काफी प्रसिद्ध हैं। ये दोहे बिहारी की बहुज्ञता, व्यावहारिकता, तत्कालीन बहुरंगी जीवन में प्रवेश करने की क्षमता और नीति-कुशलता के प्रमाण हैं। राज्य-दरबार में विभिन्न प्रकार के लोगों से मिलने के कारण इनका अनुभव गहरा था।

सज्जन (सच्चे प्रमी) का गहरा प्रेम प्रतिकूल परिस्थितियों के आने पर भी घटने नहीं पाता है, जैसे मजीठ के पक्के रंग में रंगे हुए वस्त्र का रंग कभी भी फीका नहीं पड़ता है। प्रेम का स्थिर रहना ही सज्जनता की कसौटी है। स्वार्थी, नीच, दुर्जन का प्रेम क्षणिक, और अस्थायी होता है। अतः ऐसे प्रेम करनेवाले से सदा सतर्क रहना चाहिए (दोहा ४)। इसी सिल-सिले में बिहारी कहते हैं कि मित्रता (प्रेम) में आँच न आने देने (कमी होने नहीं देने) की इच्छा वाले को चाहिए कि धन का लेन-देन आपस में न करें। क्योंकि रुपये के लेन-देन में बल पड़ने से दो गाढ़े मित्रों में भी वैमनस्य हो जाता है (दोहा ८)

बड़े लोगों का काम बड़ा होता है, उसकी पूर्त्ति के लिए अधिक साधन की जरूरत पड़ती है। अतः उसे छोटा आदमी पूरा नहीं कर सकता है या छोटे आदमी की मदद से बड़ा काम नहीं सध सकता है। भला, चूहे के चाम से कहीं नगाड़ा मढा जाता है ? अतः बड़े काम की पूर्त्ति के लिए छोटे लोगों पर आसरा करना व्यर्थ है (दोहा ५)। छोटा आदमी, गुण-हीन व्यक्ति बड़ा नहीं हो सकता है, महान् नहीं बन सकता है। हाँ, थोड़ी देर के लिए वह ऐंठकर आकाश को ही क्यों न छूने लगे। जिसमें हृदय की उदारता और विशालता नहीं है वह कदापि बड़ा नहीं हो सकता है। भला, आँख फाड़-फाड़ कर देखने से छोटी आँख बड़ी हो सकती है ? अतः बड़ा होने के लिए सद्‌गुण प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए, हृदय को विशाल और उदार बनाना चाहिए (दोहा ७)। कारण, ऊँचा नाम

केवल रख लेने से–किसी एक काम को कर देने के कारण क्षणिक बड़ाई पा जाने से–तो कोई सचमुच बड़ा नहीं हो जाता है। बड़ा होने के लिए गुणों का समावेश अनिवार्य है। धतूरे को 'कनक' (सोने का पर्यायवाची शब्द) की संज्ञा पा जाने से ही उससे आभूषण नहीं बनाया जा सकता है। अतः मनुष्य को गुणवान् बनने की कोशिश करनी चाहिए (दोहा १२)। स्वभाव से ही बुरा, क्षुद्र व्यक्ति यदि अपनी क्षुद्रता छोड़ दे, तो सज्जन को सतर्क हो जाना चाहिए। क्योंकि वह चाल रहस्य या दाव-पेंच से ख़ाली न होगी। सदा कलंकित रहनेवाले चन्द्रमा का निष्कलंक दीख पड़ना किसी भयानक उत्पात की सूचना है (दोहा ६)।

स्वभाव से ही दुर्वृत्त, दुष्ट और क्षुद्र व्यक्ति पर सुसंगति का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। रात-दिन कुकर्मों में लीन रहते-रहते उनका हृदय कुण्ठत हो जाता है। अतः सज्जनों की संगति में भी अपना दुष्ट स्वभाव वह नहीं छोड़ सकता है जैसे कपूर में मिलाकर रखने पर भी हींग सुगन्धित नहीं हो सकती है। अतः ऐसे दुर्वृत्त व्यक्तियों में सुधार की आशा करना व्यर्थ है (दोहा ९)।

बाह्याडम्बरों को छोड़कर सच्चे हृदय से भगवद्भक्ति करनी चाहिए। क्योंकि माला से मन्त्र जपने और तिलक लगाने से कोई लाभ नहीं है। हृदय की पवित्रता, सच्ची भावना और सच्ची भक्ति से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं (दोहा १०)। घमण्ड प्रगति-पथ का रोड़ा है। नम्रता प्रगति के पर्वत पर चढ़ने की सुलभ सीढ़ी है। अतः मनुष्य को नम्र होना चाहिए (दोहा ११)। सम्पत्ति पाकर भी दम्भी नहीं होना चाहिए। कनक (सोना) में कनक (धतूरे) से भी अधिक नशा है। कारण, धतूरे को पेट में डालने से नशा आती है, पर सोने को छूनें मात्र से। कनक (स्वर्ण) हमें पतन के गर्त्त में ले जानेवाला है। अतः इससे बहुत सतर्क रहना चाहिए (दोहा १५)। इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहारी ने दो पंक्ति के दोहों में जीवनोपयोगी, नीतिपूर्ण, व्यावहारिक बातों की शिक्षा बड़ी कुशलता से दी है। धन्य है "सत सैया के दोहरे"!

कि बिहारी के दोहे बड़े चुटकीले, अनुभवपूर्ण, मर्मस्पर्शी, सरस तथा कोमल कल्पनाओं से ओत-प्रोत हैं।

Ans. (क) विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त बिहारी ने सूक्तियाँ भी लिखी हैं जिनमें बहुत-सी नीति सम्बन्ध दोहे भी काफी प्रसिद्ध हैं। ये दोहे बिहारी की बहुज्ञता, व्यावहारिकता, तत्कालीन बहुरंगी जीवन में प्रवेश करने की क्षमता और नीति-कुशलता के प्रमाण हैं। राज्य-दरबार में विभिन्न प्रकार के लोगों से मिलने के कारण इनका अनुभव गहरा था।

सज्जन (सच्चे प्रमी) का गहरा प्रेम प्रतिकल परिस्थितियों के आने पर भी घटने नहीं पाता है, जैसे मजीठ के पक्के रंग में रंगे हुए वस्त्र का रंग कभी भी फीका नहीं पड़ता है। प्रेम का स्थिर रहना ही सज्जनता की कसौटी है। स्वार्थी, नीच, दुर्जन का प्रेम क्षणिक, और अस्थायी होता है। अत: ऐसे प्रेम करनेवाले से सदा सतर्क रहना चाहिए (दोहा ४)। इसी सिल-सिले में बिहारी कहते हैं कि मित्रता (प्रेम) में आँच न आने देने (कभी हाने नहीं देने) की इच्छा वाले को चाहिए कि धन का लेन-देन आपस में न करें। क्योंकि रुपये के लेन-देन में बल पड़ने से दो गाढ़े मित्रों में भी वैमनस्य हो जाता है (दोहा ८)

बड़े लोगों का काम बड़ा होता है, उसकी पूर्ति के लिए अधिक साधन की जरूरत पड़ती है। अत: उसे छोटा आदमी पूरा नहीं कर सकता है या छोटे आदमी की मदद से बड़ा काम नहीं सध सकता है। भला, चूहे के चाम से कहीं नगाड़ा मढा जाता हैं ? अत: बड़े काम की पूर्ति के लिए छोटे लोगों पर आसरा करना व्यर्थ है (दोहा ५)। छोटा आदमी, गुण-हीन व्यक्ति बड़ा नहीं हो सकता है, महान् नहीं बन सकता है। हाँ, थोड़ी देर के लिए वह ऐंठकर आकाश को ही क्यों न छूने लगे। जिसमें हृदय की उदारता और विशालता नहीं है वह कदापि बड़ा नहीं हो सकता है। भला, आँख फाड़-फाड़ कर देखने से छोटी आँख बड़ी हो सकती है ? अत: बड़ा होने के लिए सद्गुण प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए, हृदय को विशाल और उदार बनाना चाहिए (दोहा ७)। कारण, ऊँचा नाम

केवल रख लेने से—किसी एक काम को कर देने के कारण क्षणिक बड़ाई पा जाने से—तो कोई सचमुच बड़ा नहीं हो जाता है। बड़ा होने के लिए गुणों का समावेश अनिवार्य है। धतूरे को 'कनक' (सोने का पर्यायवाची शब्द) की संज्ञा पा जाने से ही उससे आभूषण नहीं बनाया जा सकता है। अतः मनुष्य को गुणवान् बनने की कोशिश करनी चाहिए (दोहा १२)। स्वभाव से ही बुरा, क्षुद्र व्यक्ति यदि अपनी क्षुद्रता छोड़ दे, तो सज्जन को सतर्क हो जाना चाहिए। क्योंकि वह चाल रहस्य या दाव-पेंच से ख़ाली न होगी। सदा कलंकित रहनेवाले चन्द्रमा का निष्कलंक दीख पड़ना किसी भयानक उत्पात की सूचना है (दोहा ६)।

स्वभाव से ही दुर्वृत्त, दुष्ट और क्षुद्र व्यक्ति पर सुसंगति का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। रात-दिन कुकर्मों में लीन रहते-रहते उनका हृदय कुण्ठित हो जाता है। अतः सज्जनों की संगति में भी अपना दुष्ट स्वभाव वह नहीं छोड़ सकता है जैसे कपूर में मिलाकर रखने पर भी हींग सुगन्धित नहीं हो सकती है। अतः ऐसे दुर्वृत्त व्यक्तियों में सुधार की आशा करना व्यर्थ है (दोहा ९)।

बाह्याडम्बरों को छोड़कर सच्चे हृदय से भगवद्भक्ति करनी चाहिए। क्योंकि माला से मन्त्र जपने और तिलक लगाने से कोई लाभ नहीं है। हृदय की पवित्रता, सच्ची भावना और सच्ची भक्ति से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं (दोहा १०)। घमण्ड प्रगति-पथ का रोड़ा है। नम्रता प्रगति के पर्वत पर चढ़ने की सुलभ सीढ़ी है। अतः मनुष्य को नम्र होना चाहिए (दोहा ११)। सम्पत्ति पाकर भी दम्भी नहीं होना चाहिए। कनक (सोना) में कनक (धतूरे) से भी अधिक नशा है। कारण, धतूरे को पेट में डालने से नशा आती है, पर सोने को छूने मात्र से। कनक (स्वर्ण) हमें पतन के गर्त्त में ले जानेवाला है। अतः इससे बहुत सतर्क रहना चाहिए (दोहा १५)। इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहारी ने दो पंक्ति के दोहों में जीवनोपयोगी, नीतिपूर्ण, व्यावहारिक बातों की शिक्षा बड़ी कुशलता से दी है। धन्य है "सत सैया के दोहरे"!

Q. 5. "कृष्ण की लीलाभूमि व्रज के प्रति विशुद्ध प्रेम का सरस एवं विह्वल उद्‌गार रसखान के सवैयों में हुआ है।" इस कथन की विवेचना करें। या रसखान की कृष्णभक्ति का वर्णन करें।

Ans. मुसलमान कवियों में रसखान अपने कृष्ण-प्रेम और तन्मयता के लिए प्रसिद्ध हैं। आरम्भ से ही ये बड़े प्रेमी-जीव थे। वही भौतिक प्रेम अंत में अलौकिक प्रेम (भगवद्‌भक्ति) में परिणत हो गया। रसखान ने प्रेम की अनुभूति जितने रसपूर्ण शब्दों में की वैसी हिन्दी में कम है। इनकी भावना अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। तन्मयता इसकी कविता का विशेष गुण है। वे श्रीकृष्ण से प्रेम करते हैं। उनके सम्पर्क में आयी हुई वस्तुओं से प्रेम करना कितना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है रसखान के प्रेम का। पुनर्जन्म में विश्वास होने के कारण दूसरे जन्म में कृष्ण की लीला-भूमि व्रज की गोपियों के बीच जन्म लेना चाहते हैं। पशु होने पर नन्द की गायों के बीच में चरना चाहते हैं। पत्थर होने पर गोवर्द्धन का पत्थर बनने, पक्षी होने पर कदम की डाल पर घोंसला बनाकर रहने की इच्छा प्रकट करते हैं। श्रीकृष्ण को याद दिलाने वाली वस्तुओं—कम्बल और लाठी पर तीनों लोकों का राज्य न्योछावर करना चाहते हैं। नन्द की गाय चराने में वे आठ सिद्धि और नव निधि के सुखों को तिलाञ्जलि देने को तैयार हैं। व्रज के वन-बाग-तालाब आँखों से देखने के लिए वे व्याकुल हो जाते हैं। उन्हें सोने-चाँदी के महलों में रहने की अपेक्षा करील के कुञ्जों में रहना अधिक पसन्द है। इन दो सवैयों में रसखान ने दिखलाया है कि वस्तुओं का मूल्य-निर्धारक है उन वस्तुओं का श्रीकृष्ण से सामीप्य। प्रिय के संसर्ग मात्र से तुच्छ वस्तु भी अमूल्य हो जाती है, उसका मूल्यांकन इस भौतिक संसार में भौतिक चीजों से नहीं हो सकता है। ऐसा है प्रेम-तन्मयता रसखान की।

तीसरे सवैये में राधा श्रीकृष्ण की अनुकृति करती है। वह सिर पर मोर-पंख, गले में माला, देह पर पीताम्बर, हाथ में लाठी धारण कर गाय चराने का स्वांग करेगी पर अपने अधरों पर मुरली नहीं रखेगी। कारण, वह तो उसकी सौत है। इस सवैये से सिद्ध होता है कि राधा श्रीकृष्ण से तादात्म्य

स्थापित करना चाहती है । चौथे सवैये में बालकृष्ण की सुन्दर झाँकी है। कृष्ण के शरीर और बाल धूल-धूसरित हैं। कमर में पीली काछना है, पैरों में पैंजनी है। नन्द के आँगन में खेलते-खाते और कूदते हुए कृष्ण करोड़ों कामदेवों को मात कर रहे हैं। इसी बीच कौआ आता है और कृष्ण के हाथ से रोटी ले भागता है। भक्त रसखान कौए के भाग्य की सराहना करते हैं। धन्य है वह कौआ जिसे परब्रह्म परमात्मा का सामीप्य प्राप्त हो जाता है इतनी आसानी से।

अन्तिम सवैये में निर्गुण-निराकार उपासना का खंडन और सगुण उपासना की स्थापना बड़ी सुन्दरता से कवि करते हैं। ज्ञान की अपेक्षा प्रेम और भक्ति का प्रभाव बड़ा है। कारण, निराकार ब्रह्म को जानने की इच्छा से देवता, मुनि, ज्ञानी ने जीवन खपा दिया। ज्ञान-भाण्डार-वेद भी जिसे "नेति-नेति" कह कर चुप हो जाते हैं। नारद आदि महर्षि गुण गाते-गाते थक गये पर उस ब्रह्म का पता उन्हें न मिला। पर देखिये प्रेम का बंधन, भक्ति का प्रभाव। इसी परब्रह्म परमात्मा को ब्रज की अबोध गोप-बालिकाएँ अपने प्रेम बल से चक्के भर मट्ठे पर नाच नचाती हैं। यह है सगुणोपासना का फल। रसखान की दृष्टि में प्रेम और भक्ति का महत्त्व ज्ञान से अधिक है। भगवान् प्रेम के वशीभूत हैं; जहाँ प्रेम है वहीं भगवान् हैं। मुसलमान होते हुए भी रसखान ने श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम की जो भावना दिखायी है वह हिन्दी साहित्य में चिरस्मरणीय रहेगी।

Q. 6. 'पंचवटी में लक्ष्मण' शीर्षक कविता का सारांश लिखें।

पंचवटी का स्थान। रात्रि का समय। आकाश में चाँद विहँस रहा है। ज्योत्स्ना आकाश और पृथ्वी में फैली हुई है। चारों ओर आनन्द ही आनन्द है। पृथ्वी पुलकित है। हरी-हरी घास के नोक मानो उसके आनन्द के अंकुर हैं। शीतल, मंद, सुगन्ध वायु बह रही है। पंचवटी की छाया में एक सुन्दर पर्णकुटीर है। उसके सामने एक स्वच्छ पत्थर की चट्टान है। उसपर बैठा हुआ है एक धीर वीर निर्भीक पुरुष। सारा संसार सो रहा है पर हाथ में धनुष लेकर रातभर जागकर पहरा देने वाले हैं लक्ष्मण। यह

एक रात की बात नहीं है। यह कार्य-क्रम तेरह वर्षों से अविराम गति से चल रहा है। कामदेव सा सुन्दर शरीर है, युवावस्था है, पर हैं वीतराग। वे जितेन्द्र योगी सा दीख पड़ते हैं। उनके सारे योग, वैराग्य और तपस्या का एकमात्र उद्देश्य है राम और सीता की सेवा करना, उन्हें सुख पहुँचाना। यही उनका नेम है, यही उनका व्रत है। प्रश्न उठता है कि जिस कुटिया की रक्षा में इतनी तत्परता है, सतर्कता है और सजगता है उसमें कौन सी सम्पत्ति है? इस लोक के दोषों को मिटाने, इसके अत्याचार-अनाचार को दूर करने के लिए राम की सहायिका सीता उस कुटिया में निवास कर रही है। रावणत्व के नाश करने में सहायता देने के लिए ही सीताजी आयी हैं। वे रघुकुल की प्रतिष्ठा का प्रतीक हैं। कुलवधू होने के कारण कुल-मर्यादा उनपर आश्रित है। उनके खोने का अर्थ है उस पवित्र कुल में दाग लगना। यही कारण है कि लक्ष्मणजी ऐसे वीर प्रहरी इतनी सजगता से तत्पर हैं। निर्जन वन में कपटाचार की रजनी में निशाचरों की माया फैली हुई है। अतः रक्षा में सतर्कता, सजगता और तत्परता की अधिक आवश्यकता है।

इस शांत, एकान्त वातावरण में भी लक्ष्मणजी कुछ सोच रहे हैं। मानव मन की यही मनोवैज्ञानिक विशेषता है। अकेला रहने पर भी किसी विषय पर वह विचार करतारहता है। लक्ष्मणजी मोदभरी दृष्टि इधर-उधर डालते हैं कि कैसी सुन्दर चाँदनी है। शांत रात्रि में शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु वह रही है। चारों दिशाओं में आनन्द ही आनन्द है। सारा संसार सो रहा है। पर नियति नटी के कार्य अबाध, अविराम, अविरल गति से हो रहे हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष रूपों में। रजनी की शोभा देखकर उनके मन में एक सुन्दर कल्पना उठती है। रात्रि में ओस की बूँदे पड़ती हैं। मानों रत्नगर्भा पृथ्वी मोती बिखेर देती है। सबेरे में सूर्य अपनी किरण रूपी करों से सभी मोतियों को बटोर लेता है। फिर अपनी प्रेयसी संध्या को सूर्य उपहार के रूप में उन मोतियों को भेंट करता है। प्रेयसी संध्या उनसे अपने नीले शरीर को सजाती है। नील गगन के तारों के रूप में हम उन्हीं मोतियों को देखते हैं।

विचार-धारा बदलती है। मानस पटल पर दूसरा चित्र उपस्थित होता

है। लक्ष्मणजी के मन में अतीत और भविष्य के चित्र उपस्थित होते हैं। तेरह वर्ष कितनी शीघ्रता से बीत गये। माना यह कल्ह की ही घटना है। वनवास आते समय पिताजी की कैसी दयनीय दशा थी। पर वनवास का अवधि शीघ्र पूरी हो जायगी। इस जंगल में मंगल करने के बदले होगा अयोध्या का कर्म-कोलाहलमय जीवन। वहाँ तो राम के सामीप्य और सेवा का सुअवसर इतना नहीं मिल सकेगा ? आर्य राज्य के कार्यों को करने में, प्रजा की भलाई में इतने तत्पर, लीन रहेंगे कि हम लोगों से बात करने का अवकाश भी नहीं मिलेगा। पर इससे क्या ? आत्म-कल्याण से लोक-कल्याण श्रेष्ठ है। स्वार्थ से परमार्थ महान् है। आत्म-चिंतन से लोकोपकार-चिंतन श्रेयस्कर है। हमे इसके लिए तनिक भी शोक नहीं है, विषाद नहीं है। लोक-कल्याण ही जीवन का उद्देश्य है।

Q. 7. 'मैं हूँ एक सिपाही' कविता का सारांश लिखिए।

Ans. कर्म में बसते हैं भगवान्, कर्म है अपना जीवन प्राण;
कर्म से बड़ा न कोई मान, चलो, हों सब मिलकर बलिदान।

सिपाही सेनापति की आज्ञा के औचित्य या अनौचित्य पर विचार नहीं करता है। वह अपने सेनापति के इशारे पर नाचता है। आवश्यकता पड़ने पर केवल संकेत मात्र पर्याप्त है। उसके संकेत पर ही कितने सिपाही अपने प्राण को न्योछावर कर देते हैं। वह धैर्य को रोग, प्रतीक्षा को चिन्ता और स्वप्न को तबाही मानता है। वह अपनी अवस्था की परवाह नहीं करता है, आदर सत्कार की अभिलाषा नहीं रखता है। इतिहास भी उसे भूल जाय। इन बातों की उसे चिन्ता नहीं है। वह तो सेनापति के इशारे पर मस्तक चढ़ाना, अंजलि भर कर रक्त का तर्पण करना जानता है। उसे लड़ने से मतलब है। तीर-कमान ही उसकी एकमात्र सम्पत्ति है। उसे विपत्तियों की चिन्ता नहीं, कोई घबराहट नहीं है। उसे अपने देश के गौरव की रक्षा करनी है। वह सेनापति की आज्ञा सुनने के लिए उतावला हो गया है। उधर आकाश से आग उगलकर शान्ति का ढोंग किया जा रहा है। कोई क्रान्ति की तान छेड़ कर हथकड़ियाँ लिए हुए है, कोई अधिकार खरीदने के लिए ईमानदारी को

चढ़ा रहा है। उसी समय सेनापति का बिगुल बजता हैं। सिपाही घबड़ाकर अपना नाम सुनते ही आगे बढ़ जाता है। इस कविता द्वारा कविने सिपाही के उत्तरदायित्व तथा उसके महान् कर्त्तव्य की ओर संकेत किया है। सच्चा सिपाही अपने को किसी भी मूल्य पर बेच नहीं सकता।

Q. 8. आपकी पाठ्य पुस्तक में कौन-कान सी कविताएँ (क) प्राकृतिक सौन्दर्य, (ख, देश-प्रेम, (ग) भारत की प्राचीन गौरव-गरिमा सम्बन्धी हैं ? उनमें से किसी एक का सारांश लिखें।

Ans. (क) मेरी पाठ्य पुस्तक में प्राकृतिक सौन्दर्य सम्बन्धी ये कविताएँ हैं—यमुना-वर्णन, वन-प्रसून, वसन्त, जीवन का झरना और जन्मभूमि।

यमुना-वर्णन—यमुना नदी के तट पर तमाल के बहुत वृक्ष हैं। उनकी शाखाएं जल को छू रही हैं। शायद वे अपनी शोभा स्वच्छ जल रूपी आईने में देख रही हैं या वे किसी फल की प्राप्ति हेतु इस पवित्र जल के सामने माथा झुका रही हैं। सम्भवत: वे यमुना-तट को छाया प्रदान कर रही हैं।

कवि ने यमुना का वर्णन नायिका के रूप में किया है। इसके तट पर अनेक कमल और सेवारों के बीच में कुमुदनी के फूल हैं। यमुना मानो अनेक आँखों से व्रज की शोभा देख रही है। वे पुष्प प्रेमी-प्रेमिका के प्रेम की अभिव्यक्ति हैं या यमुना इन पुष्प रूपी हाथों द्वारा अपने प्रेमी को बुला रही है या फूलों के उपहार लेकर उससे मिलने जा रही है।

राका शशि की किरणों के जल में पड़ने पर मानो पृथ्वी और आकाश के बीच चँदोवा-सा तन जाता है। इसे देख कर तन, मन, नयन जुड़ा जाते हैं। तट पर तरह-तरह के पक्षी दीख पड़ते हैं। कूँजते हुए हंस, स्नान करते हुए कबूतर, उड़ते हुए कारण्डव, जलमुर्ग तथा चकवा, ध्यानमग्न बगुला, जल पीते हुए सुग्गे और कोयल, तत्पर नाचते हुए मोर इत्यादि पक्षी दीख पड़ते हैं।

स्वच्छ बालुका-राशि चाँदी की सीढ़ी सी प्रतीत होती है या यमुनाने अपने प्रेमी के शुभागमन के लिए पाँवड़े बिछा रक्खे हैं। चमकते हुए बालू के कण रत्न के चूर्ण मालूम पड़ते हैं जिससे यमुना ने मानों अपनी माँग भर ली है। नील जल रूपी केश-कलाप के संयोग से उसका सौंदर्य और भी निखर

गया है।

(ख) देश प्रेम सम्बन्धी कविताएँ ये हैं—वीरों का कैसा हो वसंत, भारतवर्ष, जन्मभूमि, शिवाजी स्तवन, मैं हूँ एक सिपाही और भाई-बहन।

वीरों का कैसा हो वसंत—साधारण व्यक्ति हास-विलास और आमोद-प्रमोद में समय बिताता है। उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य रहता है—इन्द्रिय-ग्राह्य सुखों का उपभोग करना। पर जो वीर है, उनके हृदय में देश-प्रेम की ज्वाला सुलगती रहती है। वे सभी प्रकार के सुखों को लात मारकर लोक-कल्याण के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाकर वसन्त मनाते हैं। इनके जीवन का उद्देश्य है—न तन सेवा, न मन सेवा, न जीवन और धन सेवा।

मुझे है इष्ट जन सेवा, सदा सच्ची भुवन सेवा॥

इस प्रकार साधारण लोगों के वसन्त और वीरों के वसंत में बड़ा अंतर है। वीरों के सामने कर्त्तव्य एवं भावना में द्वन्द्व पैदा होता है। पर कर्त्तव्य विजयी होता है। वीरों को एक ओर उत्तुङ्ग हिमालय पुकारता है तो दूसरी ओर सागर अपने गर्जन से उन्हें वीरता की याद दिलाता है। वसन्त ऋतु की छटा से वे मुग्ध नहीं होते। वे तो वीरता का बाना धारण किये हुए हैं। इधर राग-रंग की समाँ बँधी है, उधर रणभेरी बज रही है, युद्ध में जाने का सारा सामान तैयार है। वे रमणियों के आलिंगन की अपेक्षा तलवार का आलिंगन करना पसन्द करते हैं। रमणियों के चल चितवन उन्हें नहीं बेध सकता। वे तो स्वयं धनुष लिए हुए दुश्मनों को नाश करने पर तुले हैं। बाल-ब्रह्मचारी महावीर ने लंका दहन कर, कुरुक्षेत्र में पाण्डवों ने वीरता दिखलाकर तथा हल्दीघाटी में राणा ने शत्रुओं को नाश कर वसन्त मनाया था। आज के वीरों को उनसे प्रेरणा मिलती है। भूषण तथा चन्द कवि की कविताओं में वीरों को वसन्त मनाने के उपाय भरे पड़े हैं। पर आज वैसा कोई कवि नहीं है। वीर दीन-दुःखी मानवता को सुखी बनाने में ही वसन्त मनाना समझते हैं पर साधारण लोग इन्द्रिय सुख की प्राप्ति में।

(ग) भारत की प्राचीन गौरव-गरिमा बताने वाली ये कविताएँ हैं—भारतवर्ष और जन्मभूमि।

Q.9. 'भाई बहन', जन्मभूमि या 'आदमी' कविता का सारांश लिखें। उससे क्या प्रेरणा मिलती है ?

Ans. 'भाई बहन' एक राष्ट्रीय एवं प्रगतिवादी कविता है। जिस समय महात्मा गाँधी के नेतृत्व में भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम का तुमुल रण-भेरी बज रही थी, उस समय की यह कविता है। इसमें कविवर नेपाली जी ने देश के नर-नारियों को स्वातंत्र्य संग्राम में कूद पड़ने की प्रेरणा दी है। युग-युग से प्रेमी-प्रेमिका के रूप में नर-नारी के सम्बन्ध की आवश्यकता आज नहीं है—न राधा बनने की आवश्यकता है, न रास रचाने की। आज भारत माता के हाथों में हथकड़ियाँ हैं और हैं पैरों में बेड़ियाँ। हम भारत माता के पुत्र-पुत्री हैं—अतः हमारा संबन्ध भाई-बहन का है। हम परस्पर कंधे से कंधा मिलाकर परतन्त्रता की बेड़ी को तोड़ डालें। कवि कहता है—हे बहन ! तू स्वातंत्र्य संग्राम में चिनगारी बन, मैं उस चिनगारी से धधक कर ज्वाला बन जाऊँ। तू हहराती गंगा बन, मै अनियंत्रित झेलम बनूँ और हम दोनों राह के रोड़े रूपी विघ्न बाधाओं को साफ करते हुए सैनिकों के लिए 'प्रशस्त पुण्य पंथ' का निर्माण करें, तू विध्वंस कारिणी क्रांति बन, मैं उसका विकराल योद्धा बनूँ। तू आँगन की ज्योति बन, मैं उसका प्रहरी बनूँ। आजकल हमारा जीवन विलासमय हो गया है। नर रास-रंग में निमग्न हैं और हैं नारियाँ विलास का साधन मात्र। हे बहन, आमोद-प्रमोद एवं विलासिता के जिन फूलों पर लुभाकर भारतीय नर-नारी कर्त्तव्य-च्युत हो गये हैं, उन्हें जलाकर हम इस कलंक को दूर करें। आज माता की दासता की जंजीरें बज रही हैं, रणभेरी आह्वान कर रही है। हमें स्वातंत्रता संग्राम में कूद कर परतंत्रता की बेड़ी तोड़ने में मन बहलाना चाहिए। हे बहन, तू नदी की धारा बन, मैं उसकी लहर बनूँ और दोनों के संगम-संयोग से एक ऐसी धारा उमड़ पड़े जो किनारे के बंधन को तोड़ दे। इस उन्माद के लिए बहन का एकमात्र सहारा भाई है और भाई के लिए बहन अटल, अविचल ध्रुवतारा की तरह कर्त्तव्य दिशा को संकेत करनेवाली है। यह पागल करने की घड़ी है, स्वाधीनता का राग चारों तरफ गूँज रहा है। ऐसे अवसर पर भाई-बहन

को मिलकर सारे संकटों, विघ्न-बाधाओं से लड़कर आत्मोत्सर्ग द्वारा पत्थर सा कठोर शासकों के हृदय को पिघलाना है, उन्हें सत्कर्त्तव्यों का ध्यान दिलाकर माता को मुक्त करना है।

Q. 10. 'निरालाजी ने सरल एवं स्वाभाविक ढंग से एक भिक्षुक का सच्चा किन्तु मर्मस्पर्शी और करुण चित्र खीचा है।' इस की पुष्टि करें।

Ans—निराला जी की प्रगतिशील भावना अत्यन्त उज्ज्वल और तीव्र रूप में इस कविता में प्रगट हुई है। वास्तव में भिक्षुक का शब्द-चित्र अत्यन्त हृदय स्पर्शी है। करुणा की धारा सम्पूर्ण कविता में इस रूप में प्रवाहित है कि पाठक अनायास ही उसमें बह जाता है।

एक बूढ़ा भारतीय भिक्षुक वेदना का मूर्त्तरूप लेकर आता है। वाणी में कातरता और हृदय में पीड़ा लिए वह कंकाल सा मार्ग-गामी है। पाश्चाताप के आँसू सतत झर रहे हैं। उसकी शारीरिक स्थिति भी बड़ी विषम और दयनीय है-पेट और पीठ में भेद जानना मुश्किल है। वल हीनता के कारण लाठी का सहारा लेता है। भिक्षक मनुष्य होकर भी दो दाने के लिए फटी झोली लेकर द्वार-द्वार मारा फिरता है; भूख की ज्वाला में ही जलना उसकी चरम साधना है।

भिक्षुक की असमर्थता तव और बढ़ जाती है जब भूखे बच्चे भी उसी के संगी वने चलते हैं। वे निर्दोष-दीन बच्चे हाथ फैलाकर दया की भीख मांगते चलते हैं। बाँये हाथ से पेट मलना और दाँये को भीख-हेतु फैलाये चलना कितना कारुणिक है। इतने पर भी क्षुधा-भार को न सह सकने के कारण जब उनके ओष्ठ शुष्क-निष्प्राण होने लगते हैं और उसकी मूर्च्छाना बढ़ती जाती है तब भी उन्हें तिरस्कार, निरादर और ताड़न ही मिलता है। आँसुओं के घूँट से ही वे शायद अपनी प्यास बुझाते हैं। दाता के दिल में दया उमड़ें, तब तो क्षुधा शांत हो। राज मार्ग पर जूठे पत्तल देख उनकी आँखें चमक उठती हैं। वे टूट पड़ते हैं। पर जूठे पत्तल चाटने में भी उनकी छीना-झपटी कुत्तों से हो जाती है, आदमी से नहीं। कुत्ते और मनुष्य की यह प्रतियोगिता कितना मार्मिक, कारुणिक एवं सजीव चित्र

है ! दरिद्रता एवं विवशता की पराकाष्ठा !! मनु के पुत्र की यह दुर्दशा !!!

'चाट रहे जूठे पतल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए'

Q. 11. 'जीवन का झरना' कविता का भाव लिखिए। इस कविता से आपको क्या प्रेरणा मिलती है ? या "जीवन का झरना' कविता हमें जीवन में दृढ़ता और कठोर कर्मठता की प्रेरणा देती है।" इसकी पुष्टि करें।

Ans. प्रगति ही जीवन है और अगति मृत्यु। यही प्रेरणा हमें निर्झर से मिलती है। निर्झर जीवन का प्रतीक है। निर्झर चट्टानों के हृदय फाड़कर निकलता है। राह के रोड़ों को दूर करता हुआ, वन के पेड़ों से टकराता हुआ, चट्टानों को काटता हुआ, इसका वेग निरन्तर आगे बढ़ता जाता है। मनुष्य का जीवन एक निर्झर है। उसके जीवन की मस्ती ही उसका पानी है और सुख-दुःख दोनों किनारे। जीवन की विपत्तियाँ एवं कठिनाइयाँ ही राह की चट्टानें हैं। इन्हें तोड़ते हुए अदम्य गति से मनुष्य को आगे बढ़ना चाहिए। जीवन में एक ही धुन, एक ही लगन होनी चाहिए—अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचने की।

आँधी-तूफान आने से यदि सरिता में अशांति छा जाय, तो भी हाथ पर हाथ रखकर पछताने से कोई काम नहीं चलेगा। निर्झर की बहती हुई सतत धारा प्रगति का सन्देश देती है। नाविक को तट पर पछताने के बदले शीघ्र ही अपनी नौका खोल देनी चाहिए। निर्झर की धारा रुक जाने का अर्थ है, उसका अस्तित्व मिट जाना। ठीक उसी तरह मानव जीवन की प्रगति ठप्प पड़ने का अर्थ है उनकी मृत्यु। अस्त, अड़चनों के सामने उसे नहीं झुकना चाहिए। उसे भूत की ओर देखने का अवसर ही कहाँ है और आवश्यकता ही क्या है ? निर्झर की तरह मनुष्य को भूत एवं भविष्य की परवाह किये बना और फल की चिन्ता से रहित होकर अपने गन्तव्य स्थान की ओर सदैव चलते रहना चाहिए।

Q. 12. प्रणति, शतनमन मेरा तुम्हें या बाँसुरी कविता का सारांश लिखें।

प्रणति कविता में दिनकर जी मूक देश भक्तों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते

हैं। स्वतंत्रता-संग्राम में अनेक देश भक्तों ने आत्म बलिदान किया। जिसके फलस्वरूप देश स्वतंत्र हुआ। आजादी के बाद बहुतों ने अपने स्वार्थों के बलिदान के बदले कुछ न कुछ पाये। कुछ ऊँचे पद पाये, कुछ धन पाये, कुछ सम्मान पाये, कुछ के नाम इतिहास में अमर हो गये। पर अल्प संख्या में ऐसे भी आत्म बलिदानी रह गये जिन्हें कुछ भी प्रतिदान नहीं मिला। कारण, वे मूक आत्मोत्सर्गी थे। देश-सेवा और लोक-कल्याण में ही अपने अस्तित्व को मिटा देना ही उनके जीवन का लक्ष्य था। उन्होंने स्वप्न में भी अपने बलिदानों के पुरस्कार की कल्पना नहीं की थी। अतः उन्होंने अपने संबंध में होहल्ला नहीं किया, अपनी त्याग-तपस्या का ढोल नहीं पीटा। उन्होंने केवल अपनी हड्डियों को बारी-बारी से जलाकर चिनगारियाँ छिटकायीं जो सभी दिशाओं में फैल गयीं। उन्होंने बिना मूल्य लिए ही, यश और कीर्त्ति की परवाह किये बिना ही, हँसते हुए बलिदेवी पर चुपचाप चढ़ गये। उन्हें कीर्त्ति की लालसा छू भी न सकी। उन्होंने आत्मत्याग की आभा से अंधकार दूर कर लोक को आलोकित कर दिया। जीवन रस को जला-जलाकर प्राणों की आहुति उन्होंने दे दी। उन्होंने शिवशंकर की तरह हलाहल को स्वयं पानकर दूसरों को अमृत पान कराया। स्वतंत्रता—संग्राम के यज्ञ में बलि चढ़ने वाले इन देश-भक्तों ने कभी भी किसी वस्तु की याचना नहीं की। उनके त्याग के फलस्वरूप मुल्क आजाद हुआ, नयी जागृति फैली, त्याग की लालिमा ने ऊषा-किरण बनकर लोक को आलोकित कर दिया। उनकी वाणी से मानव-हृदय में नवीन शक्ति का संचार हुआ। ऐसे सच्चे पर मूक आत्मोत्सर्गियों, देशभक्तों के संबंध में इतिहास मूक है। इतिहास तो राजाओं, योद्धाओं और अपने बलिदानों के ढोल पीटने वालों के कार्यों से चकाचौंध है, उसकी आँखें तिलमिला गयी हैं। उन्हीं के गुणगान करने से उसे फुर्सत नहीं है। फुर्सत हो भी तो कैसे? वह तो किराये का टट्टू है, पैसों पर ईमान बेचता है। इतिहासज्ञ तो क्रीत (खरीदे हुए) वैतालिक हैं। भला, वे इन मूक सच्चे निर्लिप्त देश भक्तों के सम्बंध में अपनी लेखनी क्यों उठायें। पर इन देश भक्तों के आत्मत्याग, आत्मोत्सर्ग, आत्म-बलिदान के शाश्वत साक्षी हैं—सूर्य,

चन्द्र, पृथ्वी और आकाश आदि। उनकी गौरव-गरिमा का गान ये ही कर रहे हैं। दिनकर जी का दृष्टि में ऐसे उपेक्षित पर मूक एवं सच्चे देश भक्त बन्दनीय हैं, स्तुत्य हैं, पूज्य हैं और हैं उल्लेखनीय। अत: उन्हीं के पावन वर्णन से अपनी वाणी को पवित्र करना चाहते हैं, लेखनी को सफल बनाना चाहते हैं।

Explain:—Q. 1 (क) तुलसी ज्यों-त्यों घटत···भाई।
(ख) ब्रह्म तू,··· पावै। (ग) प्रभु प्रलाप···रस। (पृ० १६, १५, २०)

Ans. (क) यह पद्यांश 'विनय के पद' से उद्धृत है जो कविवर गोस्वामी तुलसीदास कृत 'राम गीतावलि' से लिया गया है। चित्रकूट से राम के खड़ाऊँ लेकर ही भरतजी अयोध्या लौट आते हैं। वे नंदी ग्राम में पर्णकुटी बनाकर योगी यति, त्यागी-तपस्वी का जीवन व्यतीत करने लगते हैं। खड़ाऊँ को ही राजा मानकर स्वयं प्रतिनिधि के रूप में शासन चलाते हैं। यहाँ भरत की अनन्य रामभक्ति का दिग्दर्शन कराया गया है।

उनके बिछावन के लिए कुश, वस्त्र के लिए मृग छाला और भोजन के लिए फल हैं। कठोर तपस्या अविराम गति से चल रही है। घोर तपस्या की ज्वाला में 'भायप भक्ति से भरे भरत' का शरीर दिनोंदिन क्षीण (दुबला पतला) होता जाता है। पर साथ ही साथ राम के प्रति उनकी भक्ति और अधिक बढ़ती जाती है, दृढ़ होती जाती है। काय का क्षीण होना और भक्ति का सुदृढ़ होना दोनों एक ही क्रम में चल रहे हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि संसार में भरतजी के समान भाई न अबतक हुए हैं, न कभी होंगे। कवि ने कहा है:—"भरत सरिस को राम सनेही। जग जपु राम राम जपु जेही॥"

Q. 2. (i) कबीरदास-साखी न० ४,६,७,२,९,१०.

(ii) जोगी के जोगिनि ह्वै बैठी···कानी (पृ० ९).

साखी न० ४:—यह पद्य संत कवि कबीर की साखी से लिया गया है। इस रहस्यवादी कविता में कबीर ने आत्मा-परमात्मा की अभिन्नता का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार तिल के अन्दर ही तेल है और चकमक पत्थर में अग्नि है उसी प्रकार मनुष्य के शरीर के ही अन्दर ईश्वर है। भगवान् को अन्यत्र ढूढ़ने की आवश्यकता नहीं है। उसे बाहर ढूढ़ना हमारी

सूझता है। आत्म-ज्ञान से ही परमात्मा जाना जा सकता है। आत्मा और परमात्मा के बीच माया का पर्दा है। इसे हटते-ही हम परमात्मा को जान सकते हैं कबीर ने अन्यत्र कहा है :—तेरासाईं तुझ में ज्यों पुहुपन में वास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों फिर-फिर ढूढ़े घास ॥

साखी न० ६:—यह पद्य कबीरदास की 'साखी' से लिया गया है। इसमें कविने वाह्य शुद्धि की अपेक्षा आंतरिक शुद्धि पर जोर दिया है। वे कहते हैं कि नहाने धोने से क्या होता है। शरीर की बाहरी सफाई से मन की कुत्सित वासनाएँ (मन की गन्दगी) दूर नहीं होतीं। मछली सदा जल में स्नान ही करती रहती है पर उसे धो-धोकर साफ करने पर भी उसकी दुर्गन्ध दूर नहीं होती है। कारण, उसके अन्दर ही गन्दगी है। अतः मनुष्य की आंतरिक शुद्धि के लिए विषय-वासनाओं को शुद्ध विचार के जल से धोकर हटाना चाहिए।

Q. 3. (क) उर में माखन........सूझे। (ख) मधुबन तुमकत...लौं पसरे। (ग) कबहुं पलक हरि...... पावै। (घ) पाहन पतित बान......दूजो रंग। (सूर पृ० २४, २३, २२)

(क) यह पद्य सूरदास रचित 'विरह-वर्णन' से लिया गया है। इसमें उद्धव के संवाद का खण्डन गोपिकाएँ कर रही हैं। श्री कृष्ण गोकुल से मथुरा चले गये हैं। उद्धव जी उनका संवाद लेकर गोकुल आते है। वे गोपिकाओं को निर्गुण ब्रह्म की उपासना के लिए उपदेश देते हैं और श्री कृष्ण के प्रति उनके प्रेम को माया कहकर त्यागने कहते हैं। इस पर गोपिकाएं कहती हैं कि हमारे हृदय में माखन चोर श्री कृष्ण गड़ गये हैं। हे उद्धव, अब तो वे किसी प्रकार भी निकाले नहीं निकलते हैं। यदि वे सीधे गड़ते, तो हम उन्हें निकाल पातीं। दूसरी बात यह है कि प्रेम में ऊँच-नीच का, बड़े-छोटे का और भले-बुरे का कोई विचार नहीं रहता है। इसलिए हम उन्हें यशोदा के पुत्र अर्थात् यादव होने के कारण त्याग नहीं सकती। तुम कहते हो वे यदुवंशियों के श्रेष्ट कुल के हैं पर वे तो हमें बड़े नहीं लगते। तुम कहते हो कि बासुदेव उनके पिता हैं और देवकी उनकी माता। हम तो उन्हें पहचानती

वहीं, जानती तक नहीं। सच्ची बात तो यह है कि श्यामसुन्दर के देखे बिना यह दुनिया ही सूनी है।

Q. 4. (i) रसखान न० २,५ (ii) बिहारी न० १५, ९, ११,२,४।

Ans. (i) यह पद्यांश कविवर रसखान के 'सवैया' से उद्धृत है। इन पंक्तियों से श्रीकृष्ण के प्रति कवि की अनन्य भक्ति का परिचय मिलता है। श्रीकृष्ण से सम्बन्धित तुच्छ वस्तुओं पर भी कवि सांसारिक बहुमूल्य वस्तुओं का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत हैं। कवि उस लाठी और कम्बल पर तीनों लोकों का राज्य न्योछावर करना चाहत हैं जिन्हें श्रीकृष्ण काम में लाये थे। आठ सिद्धियों तथा नव निधियों से प्राप्त सुख को कवि नन्द की गाय चराने में बिसार देना चाहते हैं। वे अपनी आंखों से व्रज के वन, बगीचा तथा तालाब देखने के लिए उत्सुक हैं। वे ऐसे सुनहले अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। वे करोड़ों सोने-चाँदी के महलों को व्रज की करील झाड़ियों पर न्योछावर करने को तैयार हैं।

शेषनाग, गणेश, शिव, सूर्य और इन्द्र हमेशा जिस परमात्मा के गुणों का गान कर रहे हैं, वेद जिसे आदि रहित, खंड रहित, अन्त रहित, न छेदे जाने वाला तथा भेद रहित बता रहे हैं, नारद से लेकर शुकदेव तथा व्यास मुनि जिसके पता लगाने में थक कर हार गये, उसी परब्रह्म परमात्मा को व्रज का अबोध गोपबालिकाएं चुल्लू भर मट्ठे पर नाच नचाती हैं। इसमें कवि ने प्रेम के महत्व का प्रतिपादन किया है। भगवान् प्रेम के वश में नाना प्रकार की नर-लीलाएँ करते हैं।

(ii) न० १५ :—यह दोहा कविवर बिहारी लाल के 'नीति के दोहे' से लिया गया है। इसमें कवि ने यह बतलाया है कि मादक वस्तुओं की अपेक्षा सांसारिक सम्पदा एवं ऐश्वर्य में कहीं अधिक मादकता है। सोने में धतूरे से सौ गुना अधिक नशा है। क्योंकि उसे (धतूरे को) खाने से मनुष्य बौराता है पर इसे (सोने को) केवल पाने मात्र से ही बौरा जाता है। सोना पाकर अहंकार में मनुष्य न जाने पागलपन के कितने कार्य कर बैठता है।

टिप्पणी :—यह श्लेषालंकार का अनुपम उदाहरण है।

नं० ९ :—यह दोहा कविवर बिहारी लाल के 'नीति के दोहे' से लिया गया है। इसमें कवि ने कुसंगति के प्रभाव पर प्रकाश डाला है। वे कहते हैं कि जो कुमति के धन्धे में पड़ा रहता है—जिसे खराब काम करने की आदत सी लग जाती है, वह सत्संगति से भी सुमति नहीं पाता—नहीं सुधरता। कपूर में मिलाकर भले ही हींग रखी जाय, पर हींग सुगन्धित नहीं हो सकती।

Q. 5. (i) आज युद्ध · गरीयसी ! (ii) सीता सावित्रीसी नारी... बरसी ! (जन्मभूमि ६८, ६७)

Ans. (i) यह पद्यांश श्री सुमित्रानन्दन पंत रचित 'जन्मभूमि' से उद्धृत की गयी है। इसमें कवि ने वर्तमान विश्व संघर्ष और भारतीय विश्वमैत्री में उसके समाधान की ओर संकेत किया है। आज मानव-जीवन युद्ध, संघर्ष और अन्तर्विरोध की दारुण ज्वाला में दग्ध हो रहा है। करुणा से मानवता का मेल नहीं है। सबल राष्ट्र निर्बलराष्ट्र को हड़पने पर तैयार है। चारों ओर युद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं। 'त्राहि-त्राहि' की आवाज सुनाई पड़ रही है। देखिए—"अश्रु-यज्ञ की धूम घटा से, हाहाकार मचा अम्बर में।" जग जीवन के इस हाहाकार को देख कर इससे त्राण (रक्षा) पाने के लिए कवि की दृष्टि भारत पर पड़ती है। वह दृढ़ता पूर्वक कहता है कि त्रस्त और शंकित मानवता के उद्धार के लिए भारतवर्ष पुनः 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का मन्त्रोच्चारण करेगा। करुणा, प्रेम, अहिंसा के शान्ति उपदेश द्वारा विश्व में मैत्री और भ्रातृत्व की स्थापना संसार में करेगा। भारत-भूमि के मुख मण्डल पर नव जागृति, नव आशा, नव ज्ञानलोक फैल रहे हैं। अपने इस नये ज्ञानलोक से संसार से घृणा, द्वेष, वैमनस्य और संघर्ष के अन्धकार को वह दूर कर सकेगा। माता के समान यह जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक ऊँची है, महान् है, श्रेष्ठ है।

Q. 6. (क)-लहरें उठता हैं,......गिन-गिन। (ख) चलना है...कहता है। (ग) निर्झर में गति है... मदमाता (जीवन का झरना पृ० ९०, ८९)

Ans. (क) यह पद्यांश 'जीवन का झरना' शीर्षक कविता से उद्धृत

है। कविवर आरसी प्रसाद सिंह ने जीवन को झरने से तुलना की है। झरने में ऊँची-ऊँची तरंगें उठती हैं और गिरती हैं। लहरों के इस उतार-चढ़ाव की भयंकरता से नाविक नाव को पार ले जाने में असमर्थ हो जाता है। वह साहस खोकर किनारे पर बैठ जाता है और पश्चाताप करने लगता है। किन्तु साहसी पुरुष इन विपत्तियों की परवाह किये बिना ही मस्ती के साथ नाव को आगे बढ़ाता है। जिस प्रकार निर्झर ऊँची-नीची तरंगों की परवाह किये बिना अबाध, अविराम और अविरल गति से आगे बढ़ता जाता है, उसी प्रकार साहसी मनुष्य मन में प्रतिपल उठने वाले संकल्प-विकल्पों की ओर ध्यान न देकर अविराम गति से अपने लक्ष्य की सिद्धि हेतु सदा आगे बढ़ता जाता है।

झरना जब तक आगे बढ़ता है तभी तक उसका अस्तित्व है। पानी सूखने से जिस दिन उसकी गति रुक जायगी, उसी दिन उसका अस्तित्व मिट जायेगा। ठीक उसी तरह जब तक मनुष्य मस्ती के साथ जीवन-पथ पर बढ़ता जाता है तभी तक उसका अस्तित्व इस दुनिया में रहता है। उस मस्ती के अभाव में बुरे दिनों की घड़ियों को गिन-गिनकर वह इस जीवन में भी मृतवत् हो जाता है।

Q. 7. (क) राष्ट्र-मंगल-दीप……तुम्हें! (शत नमन—पृ० ९६)। (ख) यह अपराध कलंक…लेना! (ग) पागल घड़ी…है! —(भाई-बहन ९२)

Ans (क) यह पद्यांश हिन्दी-गद्य-पद्य-संग्रह के 'शत नमन मेरा तुम्हें' नामक शीर्षक से लिया गया है। इसके रचयिता बिहार राज्य के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' है। इस पद्यांश में इन्होने देश की अमर आत्मा का वन्दन किया है। ये कहते हैं कि हे शाश्वत प्रकाश-स्वरूप—बापू—तुम राष्ट्र के उस मंगल-दीप की लौ हो, जो सर्वदा प्रकाशित होती रहती है। अर्थात् यद्यपि तुम अपने भौतिक शरीर से इस विश्व में वर्तमान नहीं हो तथापि तुम्हारा अमर आदेश सदा-सर्वदा राष्ट्र का मंगल-दीप बन,पंथ को प्रकाशित करता रहेगा। तुम पुरुषार्थ की ज्योति के ढेर हो और तुम्हारी तपस्या ने तुम्हें ज्योतिर्मय कर दिया है। हे राष्ट्र-मंगल-दीप

के शाश्वत प्रकाश, तुम्हारा वह आलोक जो मानवता को मार्ग बतला रहा है, कभी भी नहीं बुझ सकता है। तुम्हारी ज्योति विश्व के अज्ञानान्धकार को बाण की तरह भेद कर फैल जाने में पूर्ण समर्थ है। तुम्हारा यह अमर ज्योति आँधी और तूफान में स्थिर है। तुम्हारी अपरिमित ज्ञान राशि, तुम्हारा अपरिमित व्यक्तित्व अमर है। राष्ट्र के आराधक सर्वदा तुम्हारी गुण-गरिमा पर साहित्य रचते रहेंगे और तुम से जीवन में प्रकाश पाते रहेंगे। तुम्हें अनन्त नमस्कार। (ख) और (ग) के लिए देखें प्रश्न १०।

Q. 8. (i) जो अगणित जय बोल! (ii) अंधा चकाचौंध···जय-बोल! (iii) एक प्रभु तू निखिल···केवल आदमी। (पृ० ८१, १०२)

Ans. i) यह पद्यांश 'प्रणति' शीर्षक कविता से उद्धृत है।

इन पंक्तियों में राष्ट्रकवि दिनकर ने मूक बलिदान की महत्ता और बलिदान के बदले पद चाहने वालों के प्रति मीठा व्यंग किया है। स्वतंत्रता-संग्राम के अनेक आत्मोत्सर्गियों की तुलना छोटे दीपकों से की गई है। छोटे-छोटे दीपकों मे तेल भरा रहता है। घरों के कोनों में वे जलते हैं और अंधकार को दूर कर उन्हें प्रकाशित उस समय तक करते रहते हैं जब तक उनका पूरा तेल समाप्त नहीं हो जाता है। बाहर भले ही आँधी, तूफान चलता हो पर वे लोक को आलोकित करने में व्यस्त रहते हैं, वे विचलित नहीं होते हैं। उसी तरह असंख्य आत्मोत्सर्गियों ने स्वतन्त्रता की पवित्र वेदी पर आत्म बलिदान कर दिया है, आत्मत्याग से लोक-कल्याण किया है। अपने प्राणों की आहुति देकर, जीवन-रस को जलाकर, अनेक कष्टों को सहकर उन्होंने लोक को आलोकित किया। स्वतंत्रता संग्राम के यज्ञ में बलि चढ़ाने वाले इन देश भक्तों ने कभी भी किसी वस्तु की याचना नहीं की। "बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय" उन्होंने आत्म बलिदान कर दिया। आज इतिहास उन्हें जानता भी नहीं है पर कवि उन्हीं मूक बलिदान करने वालों की जय बोलते हैं। (ii) के लिए देखें प्रश्न १२ का अंतिम अनुच्छेद पृ० ८१।

Q. 9. (क) हल्दीघाटीके शिला खंड ···हो बसंत!

(ख) छोड़ चले···जाते हो! (७९; ८८)।

यह पद्यांश 'वीरों का कैसा हो वसंत' नामक कविता से उद्धृत है। राष्ट्र कवयित्री गौरवपूर्ण अतीत इतिहास की शिला पर भविष्य का भव्य-भवन निर्माण करना चाहती है। वह विगत युग को मौन त्यागकर अपने गौरवमय अध्याय खोलने के लिए आवाहन करती है।

हल्दीघाटी के पत्थर का एक एक टुकड़ा वहाँ मनाये गये वसन्त का साक्षी है। सिंहगढ़ का प्रचंड गढ़ शिवाजी द्वारा मनाये गये वसन्त का प्रमाण है। "वन-वन स्वतंत्रता दीप लिए फिरने वाले बलवान" महाराणा प्रताप की कठोर प्रतिज्ञा आज भी वीरों की स्मृतियाँ जागृत कर रही हैं।

तरु के पत्तों पर अंकित, राणा की अमर कहानी है।

अब तक पथ से मिटी नहीं, चेतक की चरण-निशानी है ॥—(हल्दीघाटी)

Q. 10. (क) बचाकर बीज रूप से···अभीत। (ख) सुना है दधीचि ···राह। (ग) धर्म का ले लकर···घूम (पृ०६४,६५)

Ans. (क) 'भारत वर्ष' की महिमा वर्णन करते हुए 'प्रसाद' जी कहते हैं कि यहाँ बड़े-बड़े लोग हुए हैं। जलप्लावन के बाद भारत के ही निवासी मनु ने अपने पौरुष का परिचय दिया! सारी सृष्टि आप्लावित थी। वे हर्ष-विषाद का प्रतीक बनकर कठिनाइयों को झेलते हुए विजय ध्वाजा हाथ में लिए हुए जल-मार्ग से हिमालय की ओर बढ़े। वहाँ पहुँच कर उन्होंने सृष्टि की रक्षा की। इस प्रकार भारतवर्ष ही जगत का जनक बनाने का दावा करता रहा। अतः भारत की महिमा का गान हमारे लिए बड़े गौरव का विषय है। हमलोग भारतवासी हैं। भारतीय होने के नाते हमें इसकी महिमा के लिए नाज करना चाहिए।

Q. 11. (क) कहीं भला है......बनाता।

(ख) जो जग............धन्यतर. (४६—४७)

(ग) मनु मुक्त माँग......हिय हरसि। (घ) सो को कवि...की। (४३)

(क) "चल जीवन का बस ध्येय यही शाश्वत जग का उपकार करूँ"-केसरी। यह पद्य 'हरिऔध' रचित 'वन-प्रसून' से लिया गया है। इसमें बताया गया है कि जीवन का चरम उद्देश्य है लोक-सेवा। सज्जन फूल से कहता है कि तुम्हारे

विचार से जीवन की मस्ती में आनन्दित रहना अच्छा है। पर उससे कहीं अच्छा है कि हम दुखित जीवन के दुःखों को दूर करें, लोक-कल्याण में अपने जीव को न्योछावर कर दें। आत्म-कल्याण से आत्मत्याग श्रेयस्कर है, स्वार्थ से परमार्थ श्रेष्ठ है। जिसने भी इस मृत्यु लोक में शरीर धारण किया है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। जीवन के साथ मृत्यु लगी है। यदि लोकोपकार के लिए हम मरें, दूसरों के कल्याण में हमारा जीवन चला जाय, तो हम मरकर भी अमर हो जायेंगे। स्थूल भौतिक शरीर नष्ट हो जायेगा पर संसार में नाम अमर होकर रहेगा। भगवान बुद्धने कहा था:—"यदि तुमने एक भी रोते हुए हृदय को हँसा दिया, तो तुममें सहस्त्रों स्वर्ग विकसित होंगे।"

Q. 12. (क) भगत देख राजी...मगन होई। (पृ० २७)।

(ख) ना वह मिला...कहँ दूरि। (पृ० १३)।

(क) यह पद मीराबाई का रचा हुआ है। इस पद्य में मीराबाई ने भगवान् श्री कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति का परिचय दिया है। मीरा कहती है कि भगवत् भक्तों को देखकर मुझे अपार आनन्द हुआ और सांसारिक माया में लिप्त पुरुषों को देख कर अति दुःख हुआ। मैंने आनन्द के अश्रुओं से सींचकर प्रेम लता लगायी। जैसे दही को मथकर घृत निकाल लिया जाता है और मट्टा छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार मैंने सांसारिक माया को मथकर उससे प्रेम एवं भक्ति रुपी मक्खन (सार वस्तु, तथ्य) ग्रहण किया और असार वस्तु को त्याग दिया। उसी प्रभु-प्रेम के प्रताप से राणा द्वारा भेजे गए विष के प्याले को भी आनन्द पूर्वक पी गयी। अन्यत्र मीरा ने इस सम्बन्ध में कहा है:—

"तुम्हीं साँवले विष प्याले में मीरा हँस पी जाए।"

(ख) यह पद्यांश रहस्यवादी कवि मलिक मुहम्मद जायसी रचित 'रहस्यमय ईश्वर' से उद्घृत है। इन पंक्तियों में कवि ईश्वर के अस्तित्व पर प्रकाश डालती है। वह कहता है कि निर्गुण निराकार ब्रह्म सारी सृष्टि में व्याप्त है, वह सर्वव्यापी है। न तो वह किसी वस्तु में मिला हुआ है और न

यह पद्यांश 'वीरों का कैसा हो वसंत' नामक कविता से उद्धृत है। राष्ट्र कवयित्री गौरवपूर्ण अतीत इतिहास की शिला पर भविष्य का भव्य-भवन निर्माण करना चाहती है। वह विगत युग को मौन त्यागकर अपने गौरवमय अध्याय खोलने के लिए आवाहन करती है।

हल्दीघाटी के पत्थर का एक एक टुकड़ा वहाँ मनाये गये वसन्त का साक्षी है। सिंहगढ़ का प्रचंड गढ़ शिवाजी द्वारा मनाये गये वसन्त का प्रमाण है। "वन-वन स्वतंत्रता दीप लिए फिरने वाले बलवान" महाराणा प्रताप की कठोर प्रतिज्ञा आज भी वीरों की स्मृतियाँ जागृत कर रही हैं।

तरु के पत्तों पर अंकित, राणा की अमर कहानी है।
अब तक पथ से मिटी नहीं, चेतक की चरण-निशानी है॥—(हल्दीघाटी)

Q. 10. (क) बचाकर बीज रूप से···अभीत। (ख) सुना है दधीचि···राह। (ग) धर्म का ले लकर···घूम (पृ० ६४,६५)

Ans. (क) 'भारत वर्ष' की महिमा वर्णन करते हुए 'प्रसाद' जी कहते हैं कि यहाँ बड़े-बड़े लोग हुए हैं। जलप्लावन के बाद भारत के ही निवासी मनु ने अपने पौरुष का परिचय दिया! सारी सृष्टि आप्लावित थी। वे हर्ष-विषाद का प्रतीक बनकर कठिनाइयों को झेलते हुए विजय ध्वाजा हाथ में लिए हुए जल-मार्ग से हिमालय की ओर बढ़े। वहाँ पहुँच कर उन्होंने सृष्टि की रक्षा की। इस प्रकार भारतवर्ष ही जगत का जनक बनाने का दावा करता रहा। अतः भारत की महिमा का गान हमारे लिए बड़े गौरव का विषय है। हमलोग भारतवासी हैं। भारतीय होने के नाते हमें इसकी महिमा के लिए नाज करना चाहिए।

Q. 11. (क) कहीं भला है......बनाता।
(ख) जो जग............धन्यतर . (४६—४७)
(ग) मनु मुक्त माँग......हिय हरसि। (घ) सो को कवि...की। (४३)

(क) "चल जीवन का बस ध्येय यही शाश्वत जग का उपकार करूँ-केसरी। यह पद्य 'हरिऔध' रचित 'वन-प्रसून' से लिया गया है। इसमें बताया गया है कि जीवन का चरम उद्देश्य है लोक-सेवा। सज्जन फूल से कहता है कि तुम्हारे

विचार से जीवन की मस्ती में आनन्दित रहना अच्छा है। पर उससे कहीं अच्छा है कि हम दुखित जीवन के दुःखों को दूर करें, लोक-कल्याण में अपने जीव को न्योछावर कर दें। आत्म-कल्याण से आत्मत्याग श्रेयस्कर है, स्वार्थ से परमार्थ श्रेष्ठ है। जिसने भी इस मृत्यु लोक में शरीर धारण किया है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। जीवन के साथ मृत्यु लगी है। यदि लोकोपकार के लिए हम मरें, दूसरों के कल्याण में हमारा जीवन चला जाय, तो हम मरकर भी अमर हो जायेंगे। स्थूल भौतिक शरीर नष्ट हो जायेगा पर संसार में नाम अमर होकर रहेगा। भगवान बुद्धने कहा था:—"यदि तुमने एक भी रोते हुए हृदय को हँसा दिया, तो तुममें सहस्त्रों स्वर्ग विकसित होंगे।"

Q. 12. (क) भगत देख राजी...मगन होई। (पृ० २७)।

(ख) ना वह मिला...कहँ दूरि। (पृ० १३)।

(क) यह पद मीराबाई का रचा हुआ है। इस पद्य में मीराबाई ने भगवान् श्री कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति का परिचय दिया है। मीरा कहती है कि भगवत् भक्तों को देखकर मुझे अपार आनन्द हुआ और सांसारिक माया में लिप्त पुरुषों को देख कर अति दुःख हुआ। मैंने आनन्द के अश्रुओं से सींचकर प्रेम लता लगायी। जैसे दही को मथकर घृत निकाल लिया जाता है और मट्टा छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार मैंने सांसारिक माया को मथकर उससे प्रेम एवं भक्ति रुपी मक्खन (सार वस्तु, तथ्य) ग्रहण किया और असार वस्तु को त्याग दिया। उसी प्रभु-प्रेम के प्रताप से राणा द्वारा भेजे गए विष के प्याले को भी आनन्द पूर्वक पी गयी। अन्यत्र मीरा ने इस सम्बन्ध में कहा हैं :—

"तुम्हीं साँवले विष प्याले में मीरा हँस पी जाए।"

(ख) यह पद्यांश रहस्यवादी कवि मलिक मुहम्मद जायसी रचित 'रहस्यमय ईश्वर' से उद्धृत है। इन पंक्तियों में कवि ईश्वर के अस्तित्व पर प्रकाश डालती है। वह कहता है कि निर्गुण निराकार ब्रह्म सारी सृष्टि में व्याप्त है, वह सर्वव्यापी है। न तो वह किसी वस्तु में मिला हुआ है और न

वह पूर्णतः उससे विलग ही है। कारण, उसके बिना किसी वस्तु का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। वह सर्वत्र, सभी वस्तुओं में व्याप्त है। ज्ञानी उसे निकट ही बतलाते हैं पर मूर्ख, अज्ञानी उसे दूर समझते हैं। ज्ञानी प्रभु को अपने हृदय के अन्दर ही पा जाता है, पर अज्ञानी को तो ईश्वर की सत्ता पर भी संदेह होने लगता है। कबीर ने कहा है:—

"ज्यों तिल माँहि तिल है, ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साईं तुज्झ में, जागि सकै जो जागि।"

सत्य हरिश्चन्द्र नाटक

Q. 1. (i) गंगा-छवि या (ii) काशी का वर्णन कीजिए।

(i) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्राकृतिक वर्णन में मानवीय कृतियों की छींटें हैं। वे मानव कृतियों से अधिक प्रभावित दीख पड़ते हैं, न कि गंगा-छवि से। प्राकृतिक वस्तुओं की तुलना भी वे कृत्रिम चीजों से करते हैं।

गंगा की उज्ज्वल धारा हीरे की माला के समान शोभती हैं। बीच-बीच में जल की बून्दें माला के बीच मुक्तामणि के समान शोभती हैं। लहरें उठती और गिरती हैं, जैसे मनुष्य अनेक खेल खेलता और मिटाता है। गंगा स्वर्ग-प्राप्ति की सीढ़ी है। उसके जल के दर्शन करने से, उसमें स्नान करने से एवं उसे पीने से सभी भय दूर होते हैं। विष्णु के नख से निकलने वाली, ब्रह्मा के कमण्डल में ठहरनेवाली तथा शिव के मस्तक पर रहनेवाली गंगा भौतिक तापों से मुक्त करने वाली है। उस गंगा के तट पर कहीं-कहीं नये-नये ऊँचे घाट शोभित हैं। इसके तट पर स्थित सुन्दर, उजली अट्टालिकाओं पर ऊँचे पताके उड़ रहे हैं। चारों ओर घंटे की ध्वनि हो रही है। कहीं ब्राह्मण वेद-पाठ कर रहे हैं। कहीं योगी ध्यानलीन हैं। सुन्दर स्त्रियाँ हाथों से जल लेकर मुख धोती हुई ऐसी मालूम पड़ती हैं मानो चाँद (मुख) के कलंक (मैल) को कमल (हाथ) समुद्र के नाते मिटा रहा है। जहाँ कहीं भी दृष्टि जाती है, वहीं यह लगी रह जाती है। इस प्रकार गंगा-छवि के बहाने कवि ने सीढ़ियों, अट्टालिकाओं का वर्णन किया है। अस्तु, 'गंगा-छवि' का वर्णन सफल नहीं है।

Q. 2. इन्द्र, नारद या राजा हरिश्चन्द्र का चरित्र-चित्रण करें।

इन्द्र—इन्द्र परम स्वार्थी और ईर्ष्यालु हैं। वे दूसरों की उन्नति और विभूति कुछ भी देख सुन नहीं सकते हैं। गोस्वामी जी ने देवताओं के बारे में कहा है—"ऊँच निवास नीच करतूति, देखि न सकहिं पराइ विभूति।" इन्द्र तो सुरपति ही ठहरे। उन्होंने अपने मुख से कहा है—"हमारे ऐसे बड़े-बड़े पदाधिकारियों को शत्रु उतना सन्ताप नहीं देते, जितना दूसरों की सम्पत्ति और कीर्त्ति।" नाटककार ने इन्द्र का चरित्र चित्रण आजकल के किसी 'बड़े पदाधिकारी' या 'बड़े बाबू' के समान किया है। उन्होंने अपनी साहित्यिक प्रतिभा से इन्द्रत्व की ओर विशेष लक्ष्य न रखकर, इन्द्र का निरूपण एक ईर्ष्यालु धनी के रूप में किया है, इससे नाटक में अधिक रोचकता आ गयी है। छिपे तौर पर कलिकाल के बड़े आदमियों की जो चुटकी ली गयी है उससे नाटक मे एक प्रकार की मनरंजक सामग्री एकत्र हो गयी है।

देवेन्द्र अत्यधिक लोभी हैं और साथ ही भीरु भी। उन्हें सदा भय रहता है कि कोई धर्माचरण द्वारा उनका पद न छीन ले। अतः उनके विचारों में संकीर्णता है। दूसरों की उन्नति देखकर उनके कलेजे पर साँप लोटने लगता है।

इन्द्र हृदय पारखी भी है। वे सहज ही दूसरों के हृदय की बात आसानी से समझ लेते हैं। अपने कार्य-साधन के लिए पहले अपने साधक की बड़ाई करते हैं और उसे विरुद्ध पाकर तर्क-वितर्क करते हैं, वह भी ओछा तर्क। इसी स्वभाव के कारण इन्द्र पहले नारद की प्रशंसा करते हैं। उन्हें अनुकूल न पाकर फिर विश्वामित्र की खुशामद कर बड़ी चालाकी से उन्हें हरिश्चन्द्र के विरुद्ध उभाड़ते हैं।

इन्द्र कूटनीतिज्ञ और वाक्पटु हैं। इन गुणों के कारण वे विश्वामित्र को अपने वश में कर लेते हैं। विश्वामित्र से प्रतिज्ञा करवा लेते हैं "यदि मैं हरिश्चन्द्र को तेजोभ्रष्ट न किया तो मेरा नाम विश्वामित्र नहीं।" इस तरह इन्द्र सचमुच आधुनिक कूटनीतिज्ञ तथा निम्नकोटि के राजनीतिज्ञ के समान हैं।

Q. 3. (क) 'शैव्या-विलाप' या नाटक के करुण रस प्रधान स्थलों का वर्णन कीजिए। (ख) नाटक में चित्रित सूर्यास्त तथा सन्ध्या के दृश्य का वर्णन करें।

(क) प्रस्तुत नाटक के चतुर्थ अङ्क में हमें शैव्या का विलाप-प्रसङ्ग देखने को मिलता है। शैव्या के पुत्र रोहिताश्व की मृत्यु सर्प के काटने से होती है। पुत्र-शोक में जो दारुण व्यथा हुई है वह वास्तव में बड़ी ही मार्मिक है। शोक-सन्ताप के आवेग में शैव्या का पूजा-पाठ दान-जप इत्यादि पर विश्वास जाता रहता है। उसे अब रोहिताश्व के चक्रवर्ती होने की ज्योतिषियों की भविष्यवाणी भी निरर्थक जान पड़ने लगी है। वह पुत्र-वियोग की असह्य वेदना को सहन न कर सकने के कारण आत्महत्या करने के लिए गंगा में भी कूदना चाहती है किन्तु राजा हरिश्चन्द्र के धार्मिक उपदेशों के कारण रुक जाती है। फिर भी उसमें शोक का पारावार नहीं। वह रोती है, बिलखती है; शांत होती है और फिर बिलखती है। यही हालत उसकी जारी रहती है। वह कहती है पुत्रवती स्त्री अपने बालकों पर अब उसकी छाया न पड़ने देगी। अब तो उसकी गोद सूनी हो गयी है। अब उससे कौन माँगकर खायेगा ? वह किसको अपने आँचल से मुँह की धूल पोंछकर गले लगायेगी और किसके अभिमान से वह विपत्ति में भी फूली-फूली फिरेगी। वह रोती है और लकड़ी चुन-चुनकर पुत्र के लिए चिता बनती हुई कहती है—"जिन हाथों से ठोक-ठोककर रोज सुलाती थी, उन्हीं हाथों से आज चिता पर कैसे रखूँगी।" जब राजा हरिश्चन्द्र श्मशान के रखवाले के नाते उससे कफन का आधा हिस्सा माँगते हैं, उस समय तो वह और भी फूट-फूटकर कपस-कपसकर रोती है और कहती है—'हाय! चक्रवर्ती के पुत्र को आज कफन नहीं मिलता।'

इस प्रकार शैव्या के विलाप वर्णन में भारतेन्दुजी ने मानो करुणा को साकार बना डाला है। अमूर्त को मूर्त बनाकर लेखक ने बड़ा ही हृदय-विदारक और मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया है।

Q. 4. (क) दो घटनाओं द्वारा प्रमाणित कीजिए कि चंडाल के दास होने पर भी राजा हरिश्चन्द्र अपने कर्त्तव्य पालन द्वारा एक सच्चे स्वामीभक्त थे ?

या राजा हरिश्चन्द्र की अन्तिम परीक्षा का उल्लेख करते हुए प्रमाणित कीजिए कि राजा परमवीर, सत्यव्रती और कर्त्तव्य निष्ठ थे। (ख) 'हरिश्चन्द्र के सत्य की कसौटी रोहिताश्व ही है।' इस कथन की पुष्टि करें।

(ग) सत्य हरिश्चन्द्र नाटक के शीर्षक की सार्थकता पर विचार करें।

Ans. (क) राजा हरिश्चन्द्र में कर्त्तव्यपरायणता कूट-कूट कर भरी थी। वे मानो कर्त्तव्य की मूर्त्ति ही थे। जीवन की प्रत्येक दशा में कर्त्तव्य-पालन ही उन्हें अभीष्ट था। श्मशान में पहुँचने पर वे डोमों की देवी कात्यायनी को देखते हैं—भयंकर रूप में। प्रणाम करने पर देवी ने उन्हें वर माँगने के लिए कहा। वे क्रीत दास थे। वे तो स्वामी के इच्छानुसार पेट में भोजन और शरीर पर वस्त्र के अधिकारी थे, न कि किसी प्रकार आत्म कल्याण के। उस बिके हुए शरीर पर उनका अधिकार कहाँ था कि वे अपने लिए वरदान माँगते। उन्होंने अपने स्वामी के कल्याण का वरदान माँगा।

ऐसी ही कर्त्तव्य की उज्ज्वल भावना एवं स्वामीभक्ति का दूसरा उदाहरण है मृत रोहिताश्व को गोद में लिए विलाप करती हुई शैव्या से कफन माँगना। पुत्र-शोक के आवेश में राजा आत्महत्या करना चाहते थे पर शीघ्र ही कर्त्तव्य ने भावना पर विजय पायी। उसे उन्होने दास-धर्म के विरुद्ध समझा। क्रीत शरीर का अन्त करने का अधिकार ही उन्हें कहाँ था? इसी प्रकार रानी को भी आत्महत्या करने से उन्होंने रोका। अन्त में सबसे अधिक करुणोत्पादक, सबसे अधिक कठोर परीक्षा आती है। रोहिताश्व के मृत शरीर पर कफन का एक छोटा टुकड़ा था। शैव्या के पास कोई वस्त्र नहीं था। धर्म हेतु सूर्य के उदय से अन्त तक की पृथ्वी को त्यागने वाला आधा गज कफन के लिए कैसे धर्म छोड़ता? आँसुओ की घूट पीकर, हृदय पर पत्थर रखकर आधे कफन के लिए उन्होंने शैव्या के आगे हाथ फैला दिया। हरिश्चन्द्र कर्त्तव्य की कसौटी पर खरा उतरें। कर्त्तव्य, स्वामीभक्ति, धीरता, धर्म एवं सत्य की परमावधि हो गयी। कर्त्तव्यपरायणता एवं स्वामीभक्ति इससे ऊपर उठ नहीं सकती है।

(ख) के लिए देखें (क) का अन्तिम अनुच्छेद।

Q.5. (क) नारद ने इन्द्र से हरिश्चन्द्र के गुणों का जो वर्णन किया है, उसे संक्षेप में लिखिए। (ख) नारद-इन्द्रसंवाद से सिद्ध करें कि हरिश्चन्द्र सचमुच महात्मा और महाशय थे। (ग) इन्द्र-नारद-वार्त्तालाप या हरिश्चन्द्र-विश्वामित्र-वार्त्तालाप का वर्णन कीजिए।

Ans (क) देवराज इन्द्र कुछ चिंतित और व्यग्र हैं। उसी समय नारदजी वहाँ पहुँचते हैं। बातचीत के सिलसिले में राजा हरिश्चन्द्र की महत्ता की प्रशंसा करते हैं। नारद जी कहते हैं कि हरिश्चन्द्र वस्तुतः सत्य की मूर्ति हैं। इन्द्र राजा हरिश्चन्द्र की कीर्त्ति सुनकर ईर्ष्या से जलने लगते हैं। इन्द्र भयभीत हैं कि राजा हरिश्चन्द्र अपने सत्य बल से कहीं उनका सिंहासन न छीन लें। इस लिए उनके बारे में विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन्द्र उत्सुक हैं।

नारद जी कहते हैं कि हरिश्चन्द्र का गृह-चरित्र प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है। उसका चरित्र स्फटिक मणि की तरह उज्ज्वल है। वे सचमुच महात्मा हैं। कारण, उनके मन-वचन-कर्म एक हैं। वे मनमें जो सोचते हैं, मुँहसे वही बोलते हैं और उसे ही कार्यान्वित भी करते है। उनके मन, वचन एवं कर्म में सामञ्जस्य है। इसके विपरीत दुरात्मा के मन-वचन-कर्म में विषमता होती है। इतना ही नहीं राजा हरिश्चन्द्र 'महाशय' भी हैं। कारण, उनके आशय (विचार) बहुत ही उदार एवं महान् हैं। इन्द्र उदार एव महाशय की व्याख्या जानना चाहते हैं। नारद जी कहते हैं कि जिसका भीतर-बाहर एक सा हो, जो उपकारी और विद्यानुरागी हो, जिसके अधिकार में क्षमा, विपत्ति में धैर्य, सम्पत्ति में अनभिमान और युद्ध में स्थिरता हो, वह सचमुच उदार एवं महाशय है, सृष्टि का रत्न है। ये सारी बातें हरिश्चन्द्र में हैं। इतना ही नहीं, राजा हरिश्चन्द्र महादानी एवं ईश्वर भक्त भी हैं। उनके उदार चित्त में धैर्य और अवकाश अपार है, अतः वे कार्यभार से व्याकुल नहीं होते हैं।

इन्द्र के पूछने पर नारद ने कहा कि सर्वस्व की हानि न होने पर भी हरिश्चन्द्र पात्र मिलने पर अपना सर्वस्व क्षण भर में दे सकते हैं। हरिश्चन्द्र का सत्य पर ऐसा स्नेह है जैसा भूमि, कोष, रानी और तलवार पर भी नहीं।

इन्द्र जानना चाहते हैं कि क्या राजा का धर्माचरण स्वर्ग-प्राप्ति के लिए है। नारद जी कहते हैं कि नहीं, वे सचमुच महात्मा हैं। इस लोक में एक देकर परलोक में दो की आशा रखना क्षुद्रता है।

इसी बीच विश्वामित्र आ जाते हैं। इन्द्र जी के आचरण एवं स्वभाव से नारद जी को विश्वास हो गया कि वे राजा हरिश्चन्द्र को कष्ट अवश्य देंगे। अत: वे अन्तिम चेतावनी देकर इन्द्र के दरबार से चल देते हैं—"अधिकार पा कर कष्ट देना यह बड़ों की शोभा नहीं, सुख देना शोभा है।"

(ख) देखें (क) के प्रथम और द्वितीय अनुच्छेद।

Explain—Q. 1. (क) सब सज्जन के मान को...इक हरिश्चन्द। (ख) यहाँ सत्य-भय ··सोक। (ग) हा! प्यारे हरिश्चन्द्र ·· जायेगी (प्रस्तावना)

(क) यह पद्यांश सत्य हरिश्चन्द्र नाटक की प्रस्तावना से अवतरित है। यहाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम पंक्ति में "हरिश्चन्द्र" नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके लिए आया है और दूसरी पंक्ति में 'हरि-चन्द' सूर्य चन्द्रमा का द्योतक है। जिस प्रकार स्वभावत: सूर्य और चन्द्र नित्य दिन-रात के कारण हैं (सूर्य-चन्द्र के कारण ही दिन-रात होते हैं) उसी प्रकार सब सज्जनों की प्रतिष्ठा के कारण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी हैं। स्वयं महान् विद्वान्, एवं रसज्ञ होने के कारण कवि हरिश्चन्द्र विद्वानों और सज्जनों के गुणज्ञ थे और वह उनको मान देते थे।

टिप्पणी:—छन्द-दोहा। अलंकार-यमक और उदाहरण।

Q. 2. (क) केवल जैसा राजा···रहे हैं। (ख) अहा! बड़ा पद···नहीं है। (ग) महात्मा और दुरात्मा में···नहीं। (घ) अहा! हृदय भी···कीर्ति (अंक १).

Ans. (क) यह वाक्य 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के प्रथम अंक में हो रहे इन्द्र और नारद वार्तालाप से लिया गया है। नारद जी इन्द्र के सभा में पधारते हैं। इन्द्र कहते हैं कि वे गृहस्थी के बंधनों में ऐसे जकड़े हुए हैं कि साधु का सत्संग दुर्लभ है। स्वभाव से ही परोपकारी होने के कारण ही नारद जी उन्हें घर बैठे दर्शन देते हैं। नारद जी समझते हैं कि यह कथन इन्द्र के हृदय

का उद्गार नहीं है, उनकी बातें बनावटी हैं, शिष्टाचार मात्र हैं। नारद जी क्यों छोड़ने वाले थे ? उन्होंने इन्द्र को आड़े हाथ लिया। उन्होंने कहा कि आप देवेन्द्र हैं, आपके संग की इच्छा बड़े-बड़े ऋषि करते हैं। पर आप अभी केवल मुँहदेखी (ठकुर सुहाती) बातें कर रहे हैं। राजा लोग मुँहदेखा व्यापार (बर्ताव) करने के आदी होते हैं। आप देवताओं के राजा हैं और आप भी इसके अपवाद नहीं हैं।

(ख) यह गद्यांश 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' के प्रथम अंक में हो रहे इन्द्र-नारद वार्तालाप से उद्धृत है। नारद राजा हरिश्चन्द्र के गुणों की प्रशंसा करते हैं। इन्द्र सुनकर ईर्ष्या करते हैं और जलते हैं। इन्द्र राजा हरिश्चन्द्र की परीक्षा लेने की इच्छा प्रकट करते हैं। नारद जी इन्द्र से कहते हैं कि आप महाशय हैं, आपको दूसरों की उन्नति पर संतोष करना चाहिए। इन्द्र बात काटते हैं। नारद जी इन्द्र की क्षुद्रता समझ जाते हैं। वे मन ही मन इन्द्र की कटु आलोचना करते हैं। वे बड़े आदमी का विश्लेषण करते हैं। वे कहते हैं कि सचमुच बड़ा आदमी वह है जिसका चित्त बड़ा है। बड़े आदमी के बड़पन का मापदण्ड उसके हृदय की विशालता एवं उदारता है, न कि उसका पद। बड़ा पद पा लेना एक बात है और उसका हृदय बड़ा होना दूसरी बात है। बड़ा पद और बड़ा हृदय अन्योन्याश्रित कदापि नहीं है। बड़ा पदाधिकारी होकर बड़ा हृदय पाना या रखना और दुर्लभ है। कारण, 'प्रभुता पाई काहे मद नहीं' Powr corrupts a man. हाँ, बड़ा पद पाकर भी उदार हृदयवाला व्यक्ति सचमुच महान् है, श्रद्धा के पात्र है। यदि बड़े से बड़े पदाधिकारी का हृदय क्षुद्र है, वह नीची बातें सोचता है, 'पराई विभूति' देख नहीं सकता है, तो वह आदर योग्य नहीं है—जैसे इन्द्र।

(ग) ये पंक्तियाँ 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' के प्रथम अंक से ली गयी हैं। नारद जी इन्द्र से राजा हरिश्चन्द्र के गुणों का वर्णन कर रहे हैं। उनके गृह-चरित्र के सम्बन्ध में पूछे जाने पर नारद जी राजा हरिश्चन्द्र की बड़ाई के पुल बांध देते हैं। महात्मा और दुरात्मा में अन्तर दिखाकर नारद जी हरिश्चन्द्र को महात्मा प्रमाणित करते हैं। महात्मा के मन, वचन और कर्म में

सामञ्जस्य होता है। उनका सोचना, बोलना और कार्य करना एक सा होता है। पर दुरात्मा (नीच लोग) सोचते कुछ हैं, बोलते कुछ और हैं तथा करते उनसे भिन्न हैं। हरिश्चन्द्र के विचार उच्च हैं, उदार हैं। साथ ही उनके वचन एवं कार्य भी उच्च एवं उदार हैं। अतः निस्सन्देह वे महात्मा हैं।

Q. 3. (क) स्वप्न संसार···प्रत्यक्ष। (ख) ब्रह्मा का तो···हो रहा है। (अंक २) (ग) वसुधे ! तुम बहु···जोय। (अंक २ पद्य न० ९)

Ans. (i) ये पंक्तियाँ हरिश्चंद्र नाटक के दूसरे अङ्क से अवतरित है। राजा स्वप्न देखने से व्याकुल हो रहे हैं। रानी समझाती है किन्तु वे अपनी बात पर डटे हुए हैं। वे कहते हैं कि स्वप्न असत्य है, इसका कोई विशेष सबूत नहीं है। यदि स्वप्न सत्य नहीं होता तो लोग धर्म करने के पीछे क्यों बेहाल हैं। मनुष्य में धर्म की वृत्ति होनी चाहिए। धर्म से सारी बुराइयाँ दूर हो सकती हैं। राजा धर्म एवं सत्य से बिलकुल कायल देखे जाते हैं।

(ग) यह पद्यांश हरिश्चन्द्र नाटक के दूसरे अंक से उद्धृत है। राजा हरिश्चन्द्र विश्वामित्र को पृथ्वी दान कर चुके हैं। वे पृथ्वी की ओर देखकर उसे सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे वसुधे ! महाराज इक्ष्वाकु से लेकर अब तक सूर्यवंश के राजाओं—मेरे पिता और पितामहों—ने तुझे पाला, बड़ी योग्यता से तुम्हारी रक्षा की और उनके संरक्षण में तुमने बहुत सुख किया पर अब मैं तुम्हें सुख नहीं दे सकता हूँ। मैंने तुम्हें विश्वामित्र को दान दे दिया है। अतएव धर्म में बँधे हुए मुझ हरिश्चन्द्र को परवश देखकर क्षमा करो।

Q. 4. (क) जमकी सब त्रास···धारण में। (ख) सुभग स्वर्ग सोपान··· सरबस। (ग) धोअत सुन्दरि···मिटावत। (घ) ऋण भी कैसी······नहीं देखी हैं। (ङ) ऋण छूट्यो···मोहि दाप। (च) वाह रे तप···अनुग्रह है। (अंक ३).

(क) इस पद्यांश में गिरिधर दास 'गंगा-महिमा' का वर्णन करते हैं। हे गंगे ! मुख से तुम्हारा नाम निकलते ही तुम यमराज की सभी यातनाओं अर्थात् मृत्यु-भय से मनुष्य को मुक्त कर देती हो। तुम्हारे पावन दर्शन मात्र से ही सभी पापों का प्रभाव नष्ट हो जाता है। तुम्हारा थोड़ा ही जल मुख में डालने पर तुमने अनेक मनुष्यों को शिव बना दिया। तुम्हारी धाराओं में

स्नान करने पर तुमने बहुतों को श्रीकृष्ण-ऐसा महान् बना दिया। इसमें विभावना और यमक अलंकार है।

(ख) यह पद्यांश सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में गंगा-वर्णन से लिया गया है। इसमें गंगा का गुणगान किया गया है। स्वर्गलोक की सुन्दर सीढ़ी के समान गंगाजी सबको प्रिय लगती है। यह स्वर्ग प्राप्ति के लिये सोपान है। इसके दर्शन करने से, इसमें स्नान करने से और इसके पावन जल पीने से दैहिक, दैविक एवं भौतिक ताप दूर हो जाते हैं। विष्णु भगवान् के पैर के नख रूपी चन्द्रकांत मणि से निकली हुई यह अमृत की धारा है। ब्रह्मा के कमण्डल को शोभित करने वाली तथा सांसारिक बन्धनों को काटने वाली देवताओं की सर्वस्व है।

टिप्पणी (१) गंगा जी विष्णु भगवान् के नख से उत्पन्न होकर ब्रह्माजी के कमण्डल में रही थी ऐसी कथा प्रचलित हैं। (२) कवियों में यह धारण है कि चन्द्रमा के प्रकाश पड़ने से चन्द्रकांत मणि से जल निकलता है।

(ग) ये पंक्तियाँ 'हरिश्चन्द्र नाटक' के तीसरे अङ्क में वर्णित काशी महात्म्य से उद्धृत हैं। गंगा में सुन्दरियाँ स्नान कर रही हैं। वे अपने दोनों हाथों से मुख धोती हुई अत्यन्त शोभा पा रही हैं। मानों समुद्र के सम्बन्ध से कमल (दोनों हाथ) चन्द्रमा (मुख) का धब्बा (मालिन्य) मिटा रहे हैं। टिप्पणी—समुद्र से उत्पन्न होने से चन्द्रमा समुद्र का पुत्र है। जल में उत्पन्न होने से कमल भा समुद्र का पुत्र है। अतः दोनों भाई-भाई हुए।

(घ) प्रस्तुत पंक्तियाँ हरिश्चन्द्र नाटक के तीसरे अङ्क से ला गयी हैं। इन पंक्तिों में भारतेन्दु जी ऋण की कटु आलोचना करते हैं। राजा हरिश्चन्द्र ने ऋण चुकाने में अपनी सारी राजकीय चीजें दे दी हैं फिर भी अदा नहीं हो पाया है। वास्तव में संसार में ऋण बुरी वस्तु है। संसार में उसी का जीवन सफल है जिसके सिर पर ऋण का बोझ नहीं और जो कभी महाजनों के क्रोध का शिकार नहीं बना। ऋण-मुक्त व्यक्ति ही को सच्ची मानवता प्राप्त है।

Q. 5. (क) सोई मुख...नहि कोय। (ख) सुभग कुरूप...ग्रंथन माहीं। (ग) सांझ सोई पट...रह्यो है। (घ) बरु सूरज पच्छिम उगै...नाहिं (ङ) याही

के प्रभाव सो··· खोई। (च) चलै भेरु बरु···नहीं ललचाय। (अंक ४)

Ans. (क) प्रस्तुत पंक्तियां श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र रचित हरिश्चन्द्र नाटक के श्मशान-वर्णन से अवतरित हैं। प्रस्तुत पद्यांश में नाटककार जीवन की नश्वरता और शरीर की निस्सारता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं और कहते हैं कि मरने के बाद शरीर की विचित्र दशा हो जाती है। यद्यपि हाथ-पैर, मुँह-पेट आदि शरीर का प्रत्येक अवयव वही रहता है, तथापि उससे लोग नाक-भौं सिकोड़ने लग जाते हैं। मरने के बाद यह कोमल सुन्दर शरीर कौड़ियों की कामत पर भी नहीं बिक पाता है। अतः मानव जीवन नश्वर है यही कवि का अभिप्राय है।

(ख) यह पद्यांश सत्य हरिश्चन्द्र नाटक के 'श्मशान-घाट' के वर्णन से लिया गया है। राजा हरिश्चन्द्र के मन में श्मशान को देखकर तरह-तरह की भावनाएँ उत्पन्न हो रही हैं। श्मशान की नजरों में सभी समान हैं। उसके लिए राजा-रंक बराबर हैं। वहाँ सुन्दरता और असुन्दरता के लिए कोई अन्तर नहीं है। अमृतविष सभी समान हैं। सभी की एक ही कीमत है। पितृभक्त पुरु, दानवीर दधीचि आदि महापुरुष अब संसार में नहीं हैं। उनके नाम केवल ग्रन्थों में रह गये हैं। श्मशान साम्यवाद का महान् प्रचारक एव ज्वलंत उदाहरण है।

(ग) यह पद्य सत्य हरिश्चन्द्र नाटक के 'श्मशान-वर्णन' से लिया गया है। सूर्यास्त होते समय राजा हरिश्चन्द्र के मन में ये भावनाएँ उठती हैं। वे काल की तुलना कापालिक से करते हैं। वे कहते हैं कि सन्ध्या की ललाई रूपी लाल वस्त्र कमर में बाँधे, अस्त होते हुए सूर्य रूपी खप्पड़ हाथ में लिए, सन्ध्या समय पक्षियों के कलरव के बहाने जीवोच्चाटन मंत्र कहता हुआ, नये चन्द्र बिम्ब रूपी शराब से भरी हुई मनुष्य की खोपड़ी लेकर, जीव रूपी पशुओं की बलि देकर और मतवाला होकर यह काल (समय) रूपी कापालिक नाच रहा है।

टिप्पणी:—१. इसमें सांग रूपक अलंकार हैं। २. कापालिक—शैव मत के तांत्रिक साधु जो मनुष्य की खोपड़ी लिए रहते हैं और मद्य-मांस खाते हैं।

ये भैरव या शक्ति को बलि चढ़ाते हैं।

Q. ‥(क) न जाने विधाता…करना पड़ा। (ख) अहा! यह वीभत्स …होय। (ग) देखो सवेरा हुआ…उदास हो। (घ) बस, महाराज बस,… रक्षा करो (अंक ४)।

Ans. (क) ये पंक्तियाँ सत्य हरिश्चन्द्र नाटक के चतुर्थ अंक से उद्धृत हैं। कम्बल ओढ़े और एक मोटा लट्ठ लिए हुए राजा हरिश्चन्द्र श्मशान घाट पर चक्कर काट रहे हैं—मालिक के आज्ञानुसार कफन वसूलने के लिए। कहाँ वे राजा थे, आज वे चण्डाल के दास हैं। कैसी विधि-विडम्बना है! अपनी वर्तमान दयनीय दशा से राजा चिंतित हैं। वे सोचते हैं कि विधि उनसे वाम है जिससे उनकी यह करुण दशा है। इससे अधिक और क्या दुःख उन्हें झेलना पड़ सकता है? महापुरुषों का कथन है कि दुःख से दुःख मिटता है। एक दुःख के रहते हुए दूसरे दुःख के आ जाने से पहला दुःख मनुष्य भूल सा जाता है। पहले ब्राह्मण को दक्षिणा चुकाने की चिंता इन्हें थी। इस दास वृत्ति द्वारा वह चिंता दूर हो गयी पर यह वृत्ति कबतक चलेगी, यह पता नहीं। इतने पर भी भगवान् का क्रोध शांत हुआ कि नहीं, इनकी उन्हें चिंता है।

(ख) ये पंक्तियाँ सत्य हरिश्चन्द्र नाटक के चतुर्थ अंक से उद्धृत हैं। हरिश्चन्द्र श्मशान घाट में पहरा दे रहे हैं। वहाँ का दृश्य बड़ा ही भयंकर एवं घृणित है। चोंच बाए, डैना फैलाये, कंगालों का तरह मुर्दों पर गिद्ध गिरते हैं, मांस नोचकर आपस में लड़ते और चिल्लाते हैं। दृश्य वीभत्स होते हुए भी प्रशंसा के योग्य हैं क्योंकि वहाँ के मुर्दों से अनेक पशु-पक्षियों की क्षुधा की तृप्ति होता है।

सचमुच, विदेश में मरना अच्छा है। कारण, वहाँ अपना कोई नहीं रहता घर पर मरने से शव जला दिया जाता है या गाड़ दिया जाता है। उनका कोई उपयोग नहीं होता। पर विदेश में मरने पर कीड़े-मकड़े, पशु-पक्षी शव को खाकर क्षुधा शांत करता है और यह उनके लिए भारी महोत्सव होता है। मरने के बाद भी शरीर काम में आ जाय, यह गौरव की बात है!

Q. 7. (क) पर इतना निश्चय रहे ··नहीं होती। (अंक १)।
(ख) भए धरम में···अनुरागे। (अंक २)

(क) ये पंक्तियाँ सत्य हरिश्चन्द्र नाटक के प्रथम अंक से उद्धृत हैं। नारद जी से राजा हरिश्चन्द्र के गुणों की प्रशंसा सुनकर इन्द्र जलने लगते हैं और उनके सत्य-व्रत का परीक्षा लेने का निर्णय करते हैं। नारद जी इन्द्र की तीव्र आलोचना करते हैं। इसी समय विश्वामित्र जी वहाँ पहुँचते हैं। नारद जी आप ही आप यह कहते हुए वहाँ से जाने के लिए तैयार हो जाते हैं कि बुरे लोग सज्जनों को कुछ विगाड़ नहीं सकते हैं। वे सज्जनों को जितना ही कष्ट पहुंचाते हैं, उतना ही सज्जन खरे उतरते हैं। विपत्ति रूपी अग्नि में सत्य रूपी सोना देदीप्यमान होकर खरा उतरता है और उनकी कीर्त्ति सोने की तरह अधिक चमकने लगती है। विश्वामित्र और इन्द्र दोनों मिलकर भी राजा हरिश्चन्द्र को सत्यमार्ग से विचलित नहीं कर सकते हैं।

(ख) ये पंक्तियाँ हरिश्चन्द्र नाटक के दूसरे अंक के वैतालिक गान से ली गया हैं। इन पंक्तियों में नाटककार ने राजा श्री हरिश्चन्द्र के गुणों पर प्रकाश डाला है। आप कहते हैं कि ब्राह्मण अपने कर्म-पूजापाठ में तल्लीन हो गये हैं और प्रजागण अपने कार्यों में व्यस्त हो रहे हैं। इतना ही नहीं, आपके प्रताप से दुश्मनों की स्त्रियों के मुँह की धवलता मिट सी गयी है और आपके सभी सेवक जो चकवे चकैया के समान हैं अत्यन्त प्रसन्न हो गये हैं।

Hindi I B

गद्य-पद्य संग्रह—नौवां वर्ग (नये विद्यार्थियों के लिए)

Prose :— Q.1. (क) मर्यादा की रक्षा शीर्षक कहानी का सारांश लिखें।

(ख) 'एक अनुभूति' कहानी का सारांश लिखकर सिद्ध करें कि "परम सत्ता का अभास हृदय की अनुभूति में मिल सकता है, उपासना की बाह्य पद्धत्ति में नहीं।"

Ans. (क) राजगढ़ के राजा अजीत सिंह थे। उनकी लड़की पद्मिनी की अलौकिक सुन्दरता की शोहरत चारों ओर थी। पाठानों का पराक्रमी एवं वीर

सेनापति दाऊद ने पद्मिनी को पाने की इच्छा से राजगढ़ पर चढ़ाई की। राजपूत हार गये। कुछ वीर राजपूतोंको लेकर अजीतसिंह पद्मिनी सहित निकल भागे। दाऊद ने सोचा था कि हारकर अजीत सिंह उसे पुत्री दे देगा। पर उसे पता न था कि राजपूत अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए प्राणों को भी तृणवत् मानते हैं।

अजीत सिंह जंगल में झोपड़ी बनाकर रहने लगे। एक दिन प्रताप सिंह शिकार करनेके लिए उधर ही निकल पड़े। उन्होंने एक सुअर को घायल किया। पर घायल सूअर ने उनपर वार किया। उनके प्राण संकट में थे। इसी बीच पद्मिनी ने शिकारी के रूप में सुअर को अपने बाण से मार डाला और वहलापता हो गयी। प्रताप सिंह घूमते-घूमते अजीत सिंह की झोपड़ियों की ओर पहुँचे अजीत सिंह ने उनका स्वागत किया। अजीत सिंह की दुर्दशा जानने पर प्रताप सिंह ने दाऊद को निकाल भगाने की प्रतिज्ञा की। दाऊद को हराने वाले से व्याह करने की पद्मिनी की प्रतिज्ञा से प्रताप सिंह में नया जोश आ गया। इसी समय दाऊद का एक दूत एक पत्र लेकर आया। उसमें लिखा था कि पद्मिनी को अर्पण करने पर आप को राज्य लौटा दिया जायगा। इसपर अजीत सिंह और प्रताप अति क्रुद्ध हुए। पर पद्मिनी ने कहा कि शर्त मंजूर है पर व्याह के पहले सारा राज्य लौटा देना होगा। मैं सातवें दिन दाऊद से मिलूँगी।

निश्चित समय पर पद्मिनी की पालकी दाऊद के किले में पहुँची। उसके साथ और भी कई पालकियाँ और घोड़े थे। यह देखकर दाऊद खुश हुआ। शीघ्र ही पद्मिनी पालकी से निकलकर घोड़े पर सवार हो गयी और सभी सवार, वीर राजपूत केरूप में हो गये। दाऊदके होश उड़ गये। पद्मिनी ने एक ही बाणमें दाऊद के घोड़े को मार डाला। प्रताप सिंह ने उसे बंदी किया। पर पद्मिनी ने दया करके उसे छोड़ दिया। फिर दाऊद को सामना करने की हिम्मत नहीं हुई। अजीत सिंह का राज्य लौट गया। प्रताप की प्रतिज्ञा पूरी हुई। प्रताप सिंह ने पद्मनी का पाणिग्रहण किया।

Q.2. 'वैशाली' के गौरव का वर्णन कीजिए।

प्राचीन भारतीय इतिहास में वैशाली का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैशाली के भग्नावशेष आज भी उसकी अतीत गौरव-गरिमा की याद दिलाता है। मुजफ्फरपुर से १५ मील पश्चिम, हाजीपुर से १३-१४ मील उत्तर बसाढ़ गांव है। इसके पास में 'राजा विशाल का गढ़' है जिससे डेढ़-दो मील उत्तर-पश्चिम में शिला स्तम्भ है। यही स्थान वैशाली है। संस्कृत और पाली साहित्य में इसकी चर्चा है। महाभारत युग में इसकी चर्चा नहीं मिलती है। यह सम्भवत: मगध नरेश जरासंध के अधीन रही हो। जब संसार में राज्यतंत्र की तूती बोलती थी, तभी यहाँ प्रजातंत्रात्मक शासन था। बुद्धदेव के जन्म के पहले से ही वैशाली सात राष्ट्रीय शक्तियों का शासनकेन्द्र थी, जिनका शासन प्रजातंत्र-प्रणाली से होता था। बौद्ध संघने इसी संघ की कार्य प्रणाली अपनायी थी। पुराणों में भी वैशाली के गौरव की झांकी मिलती है। इसके राजा धर्मात्मा और प्रतापवान् थे। यहाँ के निवासी महासुन्दर, सुदृढ़, सत्य-प्रतिज्ञ तथा शासन-कुशल थे। इसके सुदृढ़ संगठन से विम्बिसार और अजातशत्रु सदा भयभीत रहते थे। इसके पास हा कुण्डलपुर नामक ग्राम महात्मा महावीर का जन्म स्थान है। महात्मा बुद्ध ने वैशाली के महारण्य की कुटी में कितने ही वर्षावास व्यतीत किये थे। यहीं लिच्छवि-कुमारों का भोजन-अभिमंत्रण त्यागकर अपूव सुन्दरी वेश्या 'अम्बपाली' का आतिथ्य स्वीकार किया था। यहीं बुद्धने भतीजे आनन्द के आग्रह पर महिलाओं को भी संघ में सम्मिलित होने का आदेश दिया था। अम्बपाली ने तथागत से प्रव्रज्या ली और सारा धन तथा सुन्दर आम्र-बाग संघ को दान कर दिया। बुद्ध के निर्वाण के सात सौ वर्ष बाद यहीं सात सौ बौद्ध भिक्षुओं की 'द्वितीय संगीति' हुई थी।

चीनी यात्री फाहियान और ह्वेनसांग ने भी वैशाली का सुन्दर वर्णन किया है। फाहियान के समय अम्बपाली का आम्र भवन, लिच्छवियों का संस्थागार की देखरेख बौद्ध भिक्षुओं के हाथ में थी, पर दशा अच्छी नहीं थी। ह्वेनसांग कालीन तथा वर्त्तमान वैशाली मे विशेष अन्तर नहीं है। वैशाली की प्राचीन वैभव सम्बन्धी कुछ मुहरें आदि प्राप्त हुई है, पर पूरी खुदाई के

अभाव में इसका पूर्ण इतिहास पृथ्वी के गर्भ में गड़ा है। प्राचीन समय में वैशालियों ने नेपाल पर शासन किया था। कोशल नरेश मगध हड़पना चाहता था। वैशाली की सहायता पाकर ही मगध ने उसकी आशा पर पानी फेर दिया। आज भी वैशाली का कण-कण पृथ्वी के गर्भ में छिपे सुन्दर स्वर्णिम गौरवमय इतिहास के अनावरण के लिए चिल्ला रहा है !

Q. 3. (क) मातृभाषा की महिमा का वर्णन करें। (ख) रोमांचकारी कुश्ती के आधार पर शेर और सूअर की कुश्ती का वर्णन करें।

Ans. (क) देखें Hindi 1A Q. 2. पृ०...22

Q. 4. सर्वोदय से क्या समझते हैं। सर्वोदय समाज की रचना क्यों और कैसे होनी चाहिए ?

Ans. सर्व + उदय = सर्वोदय (सबका उदय, सबका विकास) में ही समष्टि गत उत्कर्ष की भावना विद्यमान है। ऋषि वाक्य—"सर्वे नः सुखिनः सन्तु"—के 'सब' शब्द में केवल मानव मात्र ही नहीं बल्कि गाय और बैल ऐसे जानवर भी सम्मिलित हैं जिन्हें हमने अपने कुटुम्ब में स्थान दिया है। इसीलिए ऋषि कहता है—दो पाँववालों का और चार पाँववालों का (मनुष्य और गाय का) भला हो। राजा दलीप और भगवान् श्रीकृष्ण ने गो-सेवा का अद्भुत आदर्श रखा है। पीछे चलकर प्राणियों की बात क्या, मानव-मानव के साथ भी उपेक्षा करने लगे जिससे देश वर्षों तक परतन्त्र रहा।

स्वराज्य सर्वोदय के अन्तर्गत था। क्योंकि गुलामी में सबका उदय होना असम्भव था। इसलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति सर्वोदय की पहली सीढ़ी थी। स्वराज्य प्राप्ति के बाद शांति और अहिंसात्मक उपायों से सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में मानव-मानव के बीच की विषमता से प्रपाड़ित मानवों का उद्धार ही सर्वोदय का सिद्धान्त है।

प्रारम्भ में चातुर्वर्ण्य एक सहकारी संस्था के रूप में बना था। चारों वर्ग परस्पर पूरक थे। एक साधारण झाड़ू लगानेवाला और एक महान् ज्ञानी,

दोनों यदि अपना काम दक्षता से और ईश्वर-समर्पण बुद्धि से करते हैं तो दोनों की योग्यता समान है और दोनों मोक्ष के अधिकारी हैं, यह गीता का उपदेश है। पीछे चलकर उसमें ऊँच-नीच का भाव पैदा हो गया। दूसरे धर्मों में ऊँच-नीच का भाव नहीं था—उनमें समानता थी।

हिन्दू धर्म में फैली हुई विषमता के विरोध में इस्लाम और क्रिस्ती की समानता से आकर्षित होकर निम्न जातियों ने नये धर्म स्वीकार किये। अतः सर्वोदय-स्थापना के लिए ऊँच-नीच विषम भाव वाली वर्ण व्यवस्था को खतम करना ही होगा, अछूतोद्धार करना ही होगा। भिन्न-भिन्न धर्म उपासना के विभिन्न प्रकार हैं। भगवान् अनन्त गुणी हैं। अतः उसकी उपासना के अनन्त प्रकार हैं। उसके कारण विद्वेष की भावना नहीं होनी चाहिए।

यंत्रों के उपयोग से आर्थिक विषमता बढ़ी है। कुछ लोगों के हाथ में अधिक सम्पत्ति बढ़ी है और अधिक लोग निर्धन हैं, बेरोजगार हैं। यूरोप और अमेरिका में यही बात है। मिल का कपड़ा सस्ता होता है—यह गलत धारणा है। मिल के कारण बेकार लोगों को समाज को खिलाना पड़ता है—उस खर्च को मिलों पर चढ़ाने से खादी से कई गुणा मिल का कपड़ा पड़ेगा। अतः सर्वोदय द्वारा ही आर्थिक विषमता मिट सकती है।

सर्वोदय समाज की रचना का आरम्भ अपने निजी जीवन के परिवर्त्तन से करना है। हमें व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में असत्य और हिंसा का उपयोग नहीं करना है। कम्युनिस्ट की समानता और सर्वोदय की समानता में महान् अंतर है। कम्युनिस्ट अच्छे साध्य के लिए किसी भी साधन का प्रयोग कर सकते हैं और अपने रास्ते में आने वालों को सफाया कर सकते हैं। ऐसा होने से हमारा स्वराज्य भी खतरे में पड़ जायेगा। सर्वोदय में साध्य एवं साधन दोनों ही शुद्ध होना चाहिए। बुरे और हिंसक साधनों का कतई प्रयोग नहीं करना चाहिए। जो निज का उद्धार करता है वही संसार के उद्धार का रास्ता खोल देता है।

Q 5. हर्ष और राज्यश्री के वार्तालाप का सारांश लिखें।

Ans चिता जल उठी है। राज्यश्री प्रज्वलित चिता पर चढ़कर अपने

को भस्मीभूत करने के लिए तैयार है। ठीक क्षण हर्षवर्द्धन वहाँ पहुँच जाते हैं। भाई-बहिन में यह वार्तालाप होता है।

राज्यश्री—भैया, तुम्हारे आने से मेरा सारा विषाद खतम हो गया।

हर्षवर्द्धन—बहिन! क्या मैंने इतना रक्तपात इसलिए किया कि राज्यश्री जल मरे और नियति मेरी असफलता पर हँसे? बहिन! उत्तराखण्ड के समस्त नरेश नतमस्तक हैं। कान्यकुब्ज के सिंहासन पर वर्द्धनवंश की एक बालिका शासन कर सकती है, यही तो मुझे दिखाना था। चलो, बहिन! यह मरण का समय नहीं है।

राज्यश्री—भाई हर्ष, लाखों सिरों को पैरों से ठुकराने के लिए तुम्हें ईश्वर ने राजमुकुट नहीं दिया है। हर्ष, तुमने मेरे सदृश कितनी स्त्रियों को दुखिया बनाया। तुम्हें क्या हो गया?

हर्ष—मेरा भ्रम था। किन्तु अब क्या हो? राज्यश्री—आज्ञा दो, मैं तुम्हारा प्रायश्चित करूँ और सती धर्म का पालन करूँ।

हर्ष—बहिन, वर्द्धन कुल में हम ही दो बचे हैं। भाई राज्यवर्द्धन की हत्या हुई। मैं अकेला क्या करूँगा? मित्र दिवाकर, मुझे भी काषाय वस्त्र दीजिए। राज्यश्री—भाई! मैं तुम्हारे लिए जीवित रहूँगी। क्षमा करो भाई, मैं कठोर हो गयी थी।

हर्ष०—बहिन! इस इन्द्रजाल की महत्ता में जीवन कितना लघु है! अनन्त वैभव संसार की ठोकर से निस्सार लगने लगा।

राज्यश्री—भाई, मानव जीवन दुःखमय है। अभ्यास पड़ जाने से सबके मन में तीव्र विराग नहीं होता। तुम मुझ स्वभाव दुर्बल नारी का अनुकरण न करो। चलें, हमलोग दूसरों के दुःख-सुख में हाथ बटावें।

हर्ष०—चलो, बाहुबल से जो ऐश्वर्य छीन लिया है, उसे पानेवालों को दे दूँ। हम राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास करें।

राज्य०—चलो भाई! लोक-सेवा करके अन्त में काषाय वस्त्र हम दोनों साथ ही धारण करें।

Q. 6. 'वसन्त आ गया है' शीर्षक निबंध का भाव लिखिए।

'वसंत आ गया है' डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का गवेषणात्मक शैली में लिखित एक वैयक्तिक निबंध है। इसमें निबंधकार इस बात की ओर हमारा ध्यान ले जाता है कि 'वसंत आता नहीं, ले आया जाता है।'

निबंधकार, बुखार से पीड़ित रहने के कारण, अप्रसन्न दिखलायी पड़ता है। इस अप्रसन्नता को वह प्रकृति जगत में प्रतिबिम्बित पाता है। वसंत के रमणीक वातावरण में भी रमणीयता प्रायः दिखलायी नहीं पड़ती। सारा पार्श्व प्रायः मुहर्रम मनाता हुआ दिखलायी पड़ता है। वह शिरीष की लम्बी-लम्बी सूखी छिम्मियों को लटकते हुए पाता है। अस्थि मल्लिकावाले उन्मत कापालिक भैरव की भाँति खड़-खड़ा कर झूमते हैं। 'कुसुम जन्म ततो नव पल्लवा:' का कहीं भी नामोनिशान नहीं। नीम का पेड़ अप्रसन्न मुद्रा में दिखलायी पड़ता है। कृष्ण चुड़ाओं के दो पेड़ दिखलायी पड़ते हैं। दोनों उदास हैं। अमरुद के पेड़, मल्लिका-गुल्म, करवीर के पेड़, कोविदार के झाड़ सब अन्यमनस्क दिखलायी पड़ते हैं। महुआ, जामुन, कर्णिकार सब जड़ प्रतीत होते हैं। लेखक के दरवाजे का कांचनार फल रहित है। पड़ोसी के दरवाजे का मरियल कांचनार फूला हुआ दिखलायी पड़ता है। गन्धराज पुष्प, विष्णुकान्ता घास-पलास ये भी फुले हुए दिखलायी पड़ते हैं। पर लेखक को ऐसा प्रतीत होता है कि ये वसंत ले आये हैं। वास्तव में वसंत इनके पास नहीं आया है।

निबन्धकार वसंत के पेड़-पौधों, फूल-पत्तों को देखकर एक ही निष्कर्ष निकालता है। वह यह कि मनःकल्पना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गुलाब-जल के चहबच्चे में उतरना और दुःख के समुद्र में गोते लगाना यह मनःकल्पना पर निर्भर करता है। इसलिए वसंत को ले आने की बात वह कहता है। उदास मन से उदास वातावरण की ही सृष्टि संभव है। जब तक मन पूर्ण रूप से प्रफुल्लित नहीं रहता, प्रफुल्लता का दर्शन बहुत मुश्किल है। मन यदि स्वस्थ एवं प्रफुल्ल रहे तो कोई कारण नहीं कि वर्षा में वसंत का आनन्द नहीं लिया जा सके। वसन्त देश और काल की सीमा में आवद्ध नहीं है।

निबन्धकार का विचार शेक्सपियर की शब्दावली में इस प्रकार कहा जा

सकता है—आदमी जैसा सोचता है वैसा ही हो जाता है (Nothing is good or bad but thinking makes it so)। वास्तव में शिशिर की ठंडक और शिशिर में वसंत की ऊष्मा मनुष्य के चिन्तन पर निर्भर है। अतएव हमें चाहिए अपने मन को प्रफुल्लित बनाये रहें, उसको रुग्ण होने से बचाये रहें।

Poetry:—Q. 1. रस खान की कृष्ण भक्ति का वर्णन करें।

Ans:—देखें Hindi II प्र० ५; पृ० ७२

Q. 2. 'सुख-दुख' कविता का भावार्थ लिखें।

सुख-दुःख—कवि स्वतः अनुभूति के आधार पर इस तथ्य पर पहुँचा है कि मानव जीवन की सार्थकता और पूर्णता सुख एवं दुःख दोनों के सम्मिश्रण-में ही निहित है। कवि कहता है कि न तो मुझे अत्यधिक सुख ही वांछनीय है और न चिरस्थायी दुःख ही अभीष्ट है। मैं चाहता हूँ कि सुख और दुःख की आँख मिचौनी खेलकर मेरे जीवन का विकास हो। जब दुःख और सुख बारी-बारी से जीवन में आयेंगे तभी जीवन पूर्ण बनेगा। जीवन में इन दोनों तत्त्वों का उसी प्रकार समावेश होना चाहिए जैसे चांद कभी बादलों में छिपता है और कभी उसके बाहर निकलता है। असीम दुःख और सुख दोनों के दोनों ही संसार की व्यथा का कारण होते हैं। जगत का वास्तविक कल्याण तो इसी में है कि सुख दुःख से बँट जाय और दुःख सुख से कम हो जाय। लगातार दुःख तो कष्टकर है ही किन्तु सदा रहनेवाला सुख भी कम दुखदायी नहीं। जिस तरह रात-दिन के जोड़ में संसार के प्राणी सोकर और जागकर खुश दिल होते हैं उसी प्रकार सुखरूपी प्रकाश और दुःखरूपी अन्धकार भी नितान्त अवश्यक है। मानव-जीवन, सुख और दुःख रूपी सुबह तथा शाम की क्रीड़ाभूमि है। इस क्रीड़ाभूमि में विरह और मिलन का अलिंगन होता है। न तो विरह के बिना मिलन की कोई कीमत है और न मिलन के बिना विरह का कोई मजा। हास और अश्रु या यों कहिये कि रुदन और गान दोनों ही से मानव-जीवन बना है। दोनों में से एक के बिना जीवन एकांगी और सूना बन जाता है।

Q. 3. (क) यमुना वर्णन, भिक्षुक शीर्षक कविता का सारांश लिखें। (ख) तुलसीदास द्वारा वर्णित बाल-सौन्दर्य या राम राज्य का वर्णन करें।

Ans. (क) देखें Hindi II क्रमशः P. 76; 79

Q. 4. (क) 'प्रणति' शीर्षक कविता का सारांश लिखें। (ख) सूरदास द्वारा वर्णित श्रीकृष्ण के बाल-रूप का वर्णन करें।

(क) 'प्रणति' नामक कविता में दिनकर जी देशभक्तों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। देशभक्त देशभक्ति में अपूर्व त्याग का परिचय देते हैं। उनकी बोटी-बोटी सूख जाती है। घास की रोटी प्राप्त नहीं होती पुनरपि कठिन भूख की तेज धार सहकर वे देश का इतिहास गढ़ते हैं। वे अपनी चढ़ती हुई जवानी को देश की सेवा में लगा देते हैं। देश के लिए जल मरना ही उनकी अभिलाषा होती है और मरण को त्योहार समझकर स्वागत करते हैं। वे संसार के दुःख को पीकर सुख की बरखा करना चाहते हैं। वे अपना सर्वस्व दानकर भी सबको सुखी रखते हैं। स्वयं विष-पान करते हैं और दूसरों को अमृत-पान कराते हैं। वे सारे संसार को टिकाये रखते हैं। वे अपने जीवन के तेज को देशोद्धार के पुनीत व्रत में लगाते हैं। वे मूक स्वप्नों के सक्रिय अवतार हुआ करते हैं।

कवि ऐसे देशभक्तों के चरण-रज अपने शीश पर चढ़ाना चाहता है, अपने जीवन के बल एवं तेज जगा लेना चाहता है। वह इनका सैकड़ों बार नमन करता है और इनसे प्रेरणा लेकर अपने जीवन को इनके अनुकूल बना लेने का संदेश प्रस्तुत करता है। हमें भी अपने जीवन में इनसे प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए।

Q. 5. सच्चे काम करनेवाले या नवीन बंदना का सारांश लिखें।

सच्चे काम करने वाले—प्रस्तुत कविता में कवि ने सच्चे काम करने वाले लोगों की रूप-रेखा खींची है। कर्त्तव्यनिष्ठुर व्यक्तियों को किसी तरह की बाधा नहीं होती। जिनमें काम करने की सच्ची लगन होती है, वे विघ्न-बाधाओं को चिरते-फाड़ते बढ़ते हैं। कर्मवीर व्यक्तियों के आगे मौत की भी कोई सत्ता नहीं। वे उसे भी चुनौती देते हैं और ललकार कर आगे बढ़ते हैं।

वे आन पर भी जान देने वाले होते हैं। सच्चे काम करने वाले व्यक्तियों में इतनी शक्ति चाहिए कि समय पड़ने पर वे गंगा की धारा को उलट दें। उनमें इतनी सहिष्णुता होनी चाहिए कि वे कांटों से फल संचित कर सकें। सच्ची लगन वाले लोगों के आगे लाचारी नहीं फटकने पाती है। उनके लिए सफलता हा अभिशाप है या यों कहिये कि असफलता ही उनके लिए वरदान है। वे फूंक-फूंक कर कदम रखते हैं और समय के तकाजे से काम करते हैं। वे अपने को परिस्थितियों में खो नहीं देते, परिस्थितियों को अपने अनुसार बनाते हैं।

Q. 6. अर्थ (क) (i) कागहि कहा कपूर...न दूजो रंग (सूरदास पृ० ११३)
(ii) जिन मधुकर अम्वुज रस...दुहावै (,,)

(i) अपने मन को फटकारते हुए महाकवि सूरदास कहते हैं कि भगवान् से विमुख रहनेवाले व्यक्तियों की संगति छोड़ देनी चाहिए। दुर्जनों की दुर्जनता नहीं जाती है। यह मानी हुई बात है कि कपूर खिलाने से कौआ उजला नहीं हो सकता, गंगा में स्नान कराने से कुत्ता भी पवित्र नहीं होता, चंदन लगाने से गदहे नहीं शोभते और बन्दर भी अलंकारों से सुन्दर नहीं बनते। तरकश के वाण खाली कर देने से भी कठोर पत्थर में छेद नहीं हो सकता और साफ करने से काला कम्वल भी उजला नहीं हो सकता। इसी प्रकार ईश्वर विरोधी व्यक्तियों को भक्त बनाने में सारे प्रयत्न वेकार सिद्ध होत हैं।

(ख) (i) या लकुटी...वारौं। (ii) सेस महेश...नचावै (रसखान)

Ans. देखें Hindi II पृ०...८४

(ग) (i) निज गौरव का नित...करो मन को। (ii) कुछ कम करो,... करो मन को। (iii) हे जन, अर्जन से...बहुजन हिताय (पृ०१३२-१३३).

Ans. (i) यह पद्यांश 'व निराश करो मन को' शीर्षक कविता से उद्धृत है। इसमें राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने मनुष्य को अपने गौरव को सदा याद रखने का उपदेश किया है। वे कहते हैं कि सदा अपने गौरव, अपनी मर्यादा का ज्ञान रहे। अपने को तुच्छ नहीं समझना चाहिए। अपना सर्वस्व न्योछावर करके भी मान की रक्षा करनी चाहिए जिससे मरने के वाद भी

यशोगान गूंजता रहे ।·साध्य (लक्ष्य) की सिद्धि के लिए अपने साधन को कदापि न छोड़ना चाहिए । अनेक विघ्न बाधाओं के बावजूद भी लक्ष्य की प्राप्ति में लीन रहना चाहिए, हमें निराश नहीं होना चाहिए ।

(घ) (i) तज्यो पिता प्रह्लाद···कहाँ लौं (पृ० ११९)

(ii) दण्ड जतिन्ह कर भेद···रामचन्द्र के राज (पृ० ११६)

Ans. (i) यह पद्यांश गोस्वामी तुलसीदास कृत 'विनय पत्रिका' के विनय पदों से उद्धृत है। वे कहते हैं जिसे श्री राम-जानकी प्यारे नहीं, उसे करोड़ों शत्रुओं के समान छोड़ देना चाहिए, चाहे वह अपना अत्यन्त ही प्रिय क्यों न हो । उदाहरण स्वरूप देखिए—प्रह्लाद ने अपने पिता (हिरण्यकशिपु) को विभीषण ने अपने भाई (रावण) को, भरत जी ने अपनी माता (केकेयी) को, राजा बलि ने अपने गुरु (शुक्राचार्य) को और व्रज-गोपियों ने अपने-अपने पति को भगवत्प्राप्ति में बाधक समझ कर त्याग दिया, और ये सब (स्वजन त्यागी बुरे नहीं कहे जाते, वरन्) आनन्द और कल्याण के करनेवाले माने जाते हैं । जहां तक मित्र और भली-भाँति माननीय जन हों, उन सबको श्री रघुनाथ जी के ही सम्बन्ध और प्रेम से मानना ठीक है। तात्पर्य यह है, कि यदि ये सब भगवत् दर्शन और हरिप्रेम में सहायक हैं, तो उन्हें मानना और पूजना चाहिए, नहीं तो नहीं । जिस अंजन के लगाने से आँख ही फूट जाय, वह अंजन ही किस अर्थ का ? बस, अब अधिक क्या कहूँ । (इतने से ही समझ लीजिए)

(ङ) बिहारी—७, ४, २, ६ Ans. ७ के लिए न० ९ पृ० ८८ देखें

(च) (i) सादगी, स्वातंत्र्य···हैं । (ii) हम आर्य···भावना । (पृ० १३९).

Ans. (i) यह पद्यांश श्री माखनलाल चतुर्वेदी की राष्ट्रीयता से ओत प्रोत 'भावना' शीर्षक कविता से उद्धृत है। यहाँ कवि ने बतलाया है कि भाषा, देश एवं राष्ट्र के प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है। वे कहते हैं कि हम भारतवासियों को जीवन में सादगी, देश की स्वतंत्रता तथा लोक-सेवा के मंत्र को अपनाना चाहिए, कभी नहीं भूलना चाहिए। अपनी भाषा की

उन्नति भारत माता की सेवा एवं रक्षा और राजा भरत की राज्य शासन-प्रणाली में ...रक्षा और उसकी स्थापना—ये ही तीन हम भारतीयों के जीवन के तंत्र (निश्चित सिद्धांत) होना चाहिए। तन, मन और वचन ही हमारे यंत्र हैं अर्थात् हमें शरीर से पुष्ट, मन से दृढ़ और वचन से सत्य होकर राष्ट्र की गाड़ी को आगे बढ़ाना हैं। जो भी इन्हें भूलेंगे वे निश्चय ही परतंत्र हो जायेंगे। क्योंकि इन मंत्र, तंत्र को अपनाने से हजारों सिद्धियों के द्वारा खुल जाते हैं—उनकी प्राप्ति सहज हो जाती है। ये ही संसार के उद्धार के आधार हैं।

(छ)(i) यह सांझ उषा...का (ii) जब नजर...विराम रहा (पृ० १४२,१५४)

Ans. (i) यह पद्यांश कविवर पंत के 'सुख-दुख' शीर्षक कविता से उद्धृत है। कवि ने बतलाया है कि जीवन के लिए सुख और दुख दोनों ही अनिवार्य हैं। जीवन में इनका समन्वय होना चाहिए। यह संसार संध्या और प्रातःकाल का आंगन है जिसमें सदा दिन-रात का संयोग होता रहता है। संध्या में दिन का वियोग होता है और रात का संयोग। प्रातः में दिन का संयोग होता है और रात का वियोग। यह प्राकृतिक नियम है। कवि कहता है कि सदा से संसार में मनुष्य के मुख पर सुख में हँसी देखी गयी है और दुःख में आँसू गिरते पाये जाते हैं। अर्थात् अनन्तकाल से ही मानव जीवन में सुख-दुःख दोनों साथ-साथ चलते आये हैं और सदा दोनों रहेंगे ही। अतः सुख-दुःख के समन्वय से ही जीवन सफल और सुन्दर हो सकता है।

(ज) (i) दुखी स्वयं...शतवार ! (ii) जिनकी चढ़ती...शतवार ! (१४७)

Ans.—(i) यह पद्यांश कविवर 'दिनकर' रचित 'प्रणति' शीर्षक कविता में उद्धृत है। इसमें कवि उन त्यागी, परोपकारी महापुरुषों के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति प्रकट करते हैं जिन्होंने लोक-सेवा, लोक-कल्याण के लिए अपना जीवन बलिदान कर दिया है। वे कहते हैं कि जो संसार के दुःख दूर करने के लिए अनेक दुःखों और कष्टों को स्वयं सहन करते हैं, जो सबको सुख देकर स्वयं सुख से खाली हो जाते हैं अर्थात् सबको सुखी बनाने में अपने जीवन को सुख रहित (दुःखमय) बनाते हैं; जो जीवन मंथन से प्राप्त अमृत संसार को देकर स्वयं विष पान करते हैं उन शंकर रूपी महापुरुषों को मेरा

सौ-सौ बार नमस्कार है। सचमुच, संत परमार्थ के कारण ही शरीर धारण करते हैं, इसलिए वन्दनीय हैं। तुलसीदास ने ठीक ही कहा है :—

तुलसी अंब सुअंब तरु फूलि फलहिं पर हेतु,
इतते ये पाहन हते उतते वे फल देतु।

(झ) (i) जब नजर शिखर···रहा। (ii) इस पर तन-मन···देश का (पृ० १५४-५६)।

Ans. (i) यह पद्यांश श्री जानकी वल्लभ शास्त्री रचित 'विश्व पथ' कविता से लिया गया है। कवि कहता है कि विश्व पथ के पथिक के हृदय में साहस, शौर्य और उत्साह है और है लक्ष्य प्राप्ति का दृढ़ संकल्प। पथिक को पर्वत की शिखर पर चढ़ना है। वह उसपर नजर गड़ाये हुए आगे बढ़ रहा है। यदि वह पर्वत से गिर भी जाय तो वह शान की बात है। सागर में वह नाव खेता जा रहा है—किनारे पर पहुँचने के उद्देश्य से। यदि बीच में ही उसकी मृत्यु हो जाय तो भी वह गौरव ही है। सिद्धि-प्राप्ति के लिए सारी बाधाओं और विपत्तियों को झेलते हुए अपने कर्मपथ पर आगे बढ़ते जाने पर असफलता भी हो, तो उसकी परवाह नहीं। पथिक को अपने अपूर्व साहस एवं धैर्य पर अटूट विश्वास है पर वह बारम्बार सोचता है, उसके अन्दर से यही आवाज निकलती है कि आने वाले संसार में उसका नाम जानेवालों की श्रेणी में ही रहेगा। उसके पथ में क्षण भर के लिए भी विश्राम नहीं, शांति नहीं।

खण्ड 'आ'-गद्य पद्य संग्रहःआठवाँ वर्ग (पुराने विद्यार्थियों केलिए)

Q. 1. 'आदर्श बदला' शीर्षक कहानी का सारांश लिखें। उससे क्या शिक्षा मिलती है। या बैजू बावरा कौन था; उसने अपने पिता की मृत्यु का बदला तानसेन से किस प्रकार लिया ?

Q. 2. अजेय सत्याग्रही, हमारे प्रथम राष्ट्रपति, प्रियदर्शी अशोक, श्रम यज्ञ या सच्ची वीरता का सारांश लिखें।

Q. 3. ध्वजवंदना, ईश-अन्वेषण, शक्ति और सौन्दर्य, यशोदा-विलाप, ग्रामश्री या जीरादेई कविता का सारांश लिखें।

Q. 4. (i) कबीर के दोहे—३,५,९,१० (ii) रहीम २,३,५,८,१० (iii) मरकत डिब्बे-सा...मन। (iv) सीस पगा...सुदामा (१४१, १२३) (v) मुझे तोड़ लेना...अनेक (१३५) (vi) यशोदा विलाप न० १५,१७,१८ (vii) अराति सैन्य...बढ़े चलो। (viii) बल के सम्मुख...अगर (१३८,१४८)

भीष्म—१. 'धन्य हो देवव्रत! मैं तुम-सा शिष्य पाकर धन्य हुआ।' इस कथन के आधार पर देवव्रत के चरित्र की विशेषता बतलाइए। २. भीष्म शान्तनु, दाशराज या अम्बा का चरित्र-चित्रण कीजिए। ३. भीष्म और परशुराम या भीष्म और गांधारी के बीच हुए वार्तालाप का सारांश लिखें। ४. धीवर की कन्या सत्यवती किस प्रकार सम्राज्ञी के पद पर पहुँची? ५. शिखण्डी का परिचय दीजिए। ६. भीष्म की मृत्यु किस परिस्थिति में हुई? ७. व्यासदेव और भीष्म के वार्त्तालाप के आधार पर लिखें कि सुख क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? ८. अम्बा ने भीष्म से अपने अपमान का बदला लेने में किस प्रकार सफलता पायी? ९. परशुराम और भीष्म के बीच युद्ध क्यों हुआ और उसका अन्त किस प्रकार हुआ।

आत्मकथा—१. कलकत्ते से पटना वापस आने पर राजेन्द्र बाबू के सेवा-कार्यों का वर्णन करें २. बीहपुर सत्याग्रह या चम्पारण सत्याग्रह का वर्णन करें। ३. बंगाल के अकाल से भारत की अखंडता और अंग्रेजों की नृशंसता किस प्रकार प्रमाणित हुई? ४. परीक्षा के संबन्ध में डा० राजेन्द्र प्रसाद के विचार लिखें। ५. लंदन में राजेन्द्र बाबू के कार्यक्रम का संक्षिप्त विवरण लिखिए। ६. राष्ट्रभाषा के विषय में राजेन्द्र बाबू के विचार, उनके हिन्दी-प्रेम या ग्राम-सुधार-योजना का उल्लेख कीजिए। ७. विहार छात्र-सम्मेलन, विहार में शिक्षा सम्बन्धी सुधार या विहार के प्रलयकारी भूकम्प में राजेन्द्र बाबू की की गयी सेवाओं का वर्णन कीजिए। ८. बंग-भंग के आन्दोलन का संक्षिप्त वर्णन करें। या राजेन्द्र-गोखले की मुलाकात की चर्चा करें। ९. बर्मा यात्रा में राजेन्द्र बाबू किन बातों से विशेष प्रभावित हुए?

पंचफूल—१, 'जिन बालकों को हम निरा निकम्मा समझते हैं वे भी उपयुक्त अवसर पाकर अपने देश और माता-पिता का मुख उज्ज्वल कर

सकते हैं।' 'कप्तान साहब' शीर्षक कहानी के आधार पर इसकी पुष्टि करें।

२. (क) डा० चड्ढा के पुत्र की प्राण-रक्षा द्वारा बूढ़े भगत ने अपने पुत्र की मृत्यु का आदर्श बदला लिया।' 'मंत्र' कहानी से इसकी पुष्टि करें। (ख) 'सदा रुपयों के पीछे दौड़ने वाले डाक्टर धन को इन्सानियत से अधिक कीमती समझते हैं, पर यह उनकी भूल है' 'मंत्र' कहानी के आधार पर प्रमाणित करें। (ग) 'मंत्र' कहानी का सारांश लिखें। उससे क्या शिक्षा मिलती है? ३. 'मौत से डरने वाले कुत्ते की मौत मरते हैं।' या 'नारी धर्म वीर का आदर करता है।' जिहाद कहानी के आधार पर इसकी पुष्टि करें। ४. (क) जिन्दगी में हर जगह हार खाकर फतहचन्द अंत में किस प्रकार विजयी हुए? 'आदमी के लिए सबसे बड़ी चीज इज्जत है।' इस्तीफा कहानी के आधार पर लिखें। (ख) फतहचंद ने जीवन की सच्ची प्रसन्नता का अनुभव कब और कैसे किया? ५. (क) तूरिया का चरित्र-चित्रण करें। (ख) मेजर सरदार हिम्मत सिंह को अफ्रीकियों से कैसे छुटकारा मिला? (ग) 'सरल हृदय वाली स्त्रियाँ धोखा खाकर सिंहिनी की तरह खूँखार बन जाती हैं।' फातिहा शीर्षक कहानी से इस कथन की पुष्टि करें।

सर्वोदय विचार—Q. 1 से 8 देखें Hindi 1 A पृष्ठ 39 से 45 तक

Q. 9. (क) 'सर्वोदय एक क्रांतिकारी कल्पना है?' कैसे?

(ख) साधन शुद्धि का सिद्धान्त क्या है? समझाकर लिखें।

Essays—१. देहाती बाजार (हाट), भारत के गाँव, भारतीय किसान, विद्यालय का पारितोषिक वितरण या कोई उत्सव। २. ग्राम-पंचायत, ग्रामोद्धार, भूदान यज्ञ, सामुदायिक विकास योजना। ३. सबसे प्रिय खेल या पुस्तक। ४. आप जीवन में क्या होना चाहते हैं या महापुरुषों के जीवन से शिक्षा। ५. मुहर्रम, दीपावली, होली। ६. चौकीदार, डाकपिउन। ७. रेलयात्रा, नावयात्रा, साइकिल की सवारी, बैलगाड़ी, रिक्सावाला। ८. खाद्य संकट (अकाल), धान की खेती। ९. अपना विद्यालय या अपना गाँव। १०. स्वतन्त्रता दिवस (१५ अगस्त) समारोह, २६ जनवरी का उत्सव, गाँधी या तुलसी जयन्ती। ११. वर्षा काल; ग्रीष्म

ऋतु, वसन्त या शरद शोभा। १२. समाचारपत्र, पुस्तकालय। १३. छात्रावास का जीवन। १४. कोई मेला जो आपने देखा हो। १५. सिनेमा।

Q. व्याकरण देखें पृ० १ से २० तक।

SOCIAL STUDIES

Q. 1. (क) समाज अध्ययन की क्या आवश्यकता है ? (ख) उसके अध्ययन के मुख्य पहलू कौन-से हैं ?

Ans (क) (i) लगभग २३०० वर्ष पूर्व यूनानी दार्शनिक अरस्तु ने कहा था, 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है'। यह अक्षरशः सत्य है। मनुष्य समाज में ही जन्म लेता है, बढ़ता है, उन्नति करता है और मरता भी है। उसके शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए समाज आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य है। जिस प्रकार भवन-निर्माण-कला के सिद्धान्तों का ज्ञान बिना भव्य भवन का निर्माण नहीं हो सकता, उसी प्रकार समाज अध्ययन के बिना आदर्श नागरिक जीवन का निर्माण सम्भव नहीं। इसके अध्ययन से ही हमें अपने कर्तव्यों एवं अधिकारों का सम्यक् ज्ञान संभव है और हम उनके प्रति जागरूक रह सकते हैं। (ii) हम इससे आदर्श नागरिकता का पाठ पढ़ते हैं। व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग है। अतः समाज की रचना, व्यवस्था एवं विकास में हमारा पारस्परिक सहयोग एवं सहायता अपेक्षित है। 'जियो और जीने दो तथा समाज हित में ही व्यक्ति का यथार्थ हित है' के दिव्य सिद्धान्त इससे हम सीखते हैं। (iii) यह हमें राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान कराता है। आज के वैज्ञानिक युग में विश्व एक सूत्र में बंध गया है। संसार के किसी कोने की घटनाओं का प्रभाव हमारे समाज पर भी पड़ता है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय के समन्वय का पाठ पढ़ाता है और विश्व को कुटुम्बवत् समझने का सन्देश देता है। (iv) सरकार के सगठन, उद्देश्य, कार्यप्रणाली तथा नागरिक के मौलिक अधिकार तथा राज्य के प्रति कर्त्तव्य का बोध कराता है। प्रजातन्त्र में नागरिक पर राष्ट्र की व्यवस्था का दायित्व रहता है। अतः नागरिक को राज्य-संचालन में योग देने और शासन का उत्तरदायित्व संभालने का भी

पाठ पढ़ाता है। अतः समाज अध्ययन जनतांत्रिक शासन प्रणाली के सफल संचालन के लिए अनिवार्य है।

(ख) समाज अध्ययन के विशिष्ट पहलू हैं—भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, नागरिक शास्त्र तथा राजनीति शास्त्र। (i) भौगोलिक स्थिति में भिन्नता के कारण ही विभिन्न हिस्सों के निवासियों के रहन-सहन, खाना-पीना, उद्योग-धंधा और सभ्यता-संस्कृति भिन्न हैं। इस वैज्ञानिक युग में संसार की घटनाओं से हम अछूते नहीं रह सकते हैं। अतः भौगोलिक ज्ञान आवश्यक है। (ii) समाज की गति ही इतिहास है। इतिहास सभ्यता के निर्माण का कहानी है। मानव की अतीत सभ्यता, संस्कृति, शासन व्यवस्था के ज्ञान के आधार पर हम वर्तमान समाज का संगठन करते हैं। (iii) अर्थशास्त्र का विषय सम्पत्ति का उत्पादन, उपार्जन, उपयोग, विनिमय तथा वितरण है जिनके लिए समाज में सहयोग और संगठन की आवश्यकता है। सहयोग और संगठन समाज अध्ययन से हम सीखते हैं। (iv) नीतिशास्त्र व्यक्ति के आदर्श आचरण का शास्त्र है। यह सत्य-असत्य, नीति-अनीति का विवेचना करता है। नातिशास्त्र के मंतव्यों के अनुसार हा उन आदर्शों का निश्चय होता है जो मनुष्य को आदर्श नागरिक बनाते हैं। (v) नागरिक शास्त्र नागरिकों के अधिकार, कर्त्तव्य और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का बोध कराता है। (vi) राजनीति शास्त्र के द्वारा राज्य के संगठन, विकास और शासन की व्यवस्था का ज्ञान होता है। समाज के प्रत्येक सदस्य को राज्य के नियमों एवं कानूनों को पालन करना पड़ता है। अतः उनका ज्ञान अपेक्षित है।

Q. 2. (a) 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।' या 'व्यक्ति समाज के बिना नहीं रह सकता है' क्यों ? (b) "व्यक्ति और समाज परस्पर अवलंबित हैं" कैसे ?

Ans. (a) लगभग २२०० वर्ष पूर्व यूनान दार्शनिक अरस्तु ने यह सिद्धान्त-वाक्य बतलाया था कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है'। जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य को समाज से सम्बन्ध बना रहता है। मानव सभ्यता के

प्रारम्भ से ही मनुष्य सदा समाज में रहता आया है और वह समाज में रहेगा।

मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के कारण ये हैं:—(१) मनुष्य असहाय बच्चे के रूप में पृथ्वी पर जन्म लेता है। वर्षों तक अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए उसे माता-पिता तथा अन्य व्यक्तियों पर पूर्ण आश्रित रहना पड़ता है। उसे बड़ा होने के लिए उसकी उचित सेवा और देखभाल होना चाहिए। उसे इस असहायावस्था में छोड़ देने पर एक दिन भी जीना उसके लिए सम्भव नहीं है। (२) बच्चों के अन्दर मानव की सारी शक्तियाँ सुप्तावस्था में वर्तमान रहती हैं। उन शक्तियों का विकास वातावरण (Environment) पर बहुत निर्भर करता है। उसे भाषा सीखने, विचारने, अनुभव करने, खेलने-कूदने के लिए भी सामाजिक प्रेरणा एवं स्वस्थ सामाजिक वातावरण अनिवार्य है। इनके अभाव में बच्चा मानव शरीर धारण करके भी मानव नहीं बन सकता है —यह मनोवैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है। यदि बच्चे को भेड़िया उठा ले जाता है और लालता है तो वह दो पैरों और दो हाथों के बल चलने लगता है, भेड़िये की तरह बोलने के लिए सीख लेता है। कारण, बालक का कोमल मस्तिष्क अपने इर्द-गिर्द से संस्कार ग्रहण करता है। अतः उसकी सुप्त शक्तियों को जगाने और विकास करने के लिए समाज अनिवार्य है। (३) बच्चा ज्यों-ज्यों बड़ा होता है उसकी आवश्यकताएँ भी बढ़ती जाती हैं और साथ-साथ समाज पर निर्भरता भी। आर्थिक आवश्यकताएँ—भोजन, वस्त्र, रोशनी, सवारी आदि—के लिए उसे समाज पर निर्भर रहना ही पड़ता है। वह सब चीजों को स्वयं निर्माण नहीं कर सकता है। उदाहरणार्थ गृहस्थ भी भोजन के लिए समाज पर आश्रित हैं। सुनने में आश्चर्य लगता है। पर जरा सोचें, उन्हें खेती करने के लिए हल चाहिए। हल के लिए लकड़ी, लोहा और बढ़ई चाहिए। लोहा को उनके पास पहुँचाने में न जाने कितने आदमियों ने परोक्ष रूप में सहयोग दिया होगा। फिर बीमार पड़ने पर डाक्टर दवा, अस्पताल, सेवा करने वालों की आवश्यकता होती है। ज्ञानार्जन के लिए मनुष्य को गुरु और ग्रन्थ चाहिए। एक ग्रन्थ की आत्मकहानी ही मानव समाज की आवश्यकता को बतलाने के लिए पर्याप्त है। अतः यह सिद्ध

है कि शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए समाज आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य है।

Q. 3. (क) वयस्क मताधिकार से आप क्या समझते हैं ? मतदाताओं के अधिकार और कर्त्तव्य क्या हैं ? (ख) इसके गुण-दोषों की विवेचना करें।

Ans. (क) मत देने के अधिकार को मताधिकार कहते हैं। पर राजनीति में निर्वाचन के समय प्रतिनिधि को मतदाता द्वारा चुनने के अधिकार को ही मताधिकार कहते हैं। प्रजातन्त्र राज्य में प्रभु-सत्ता मतदाताओं के हाथ में रहती है। मतदाता शासन-संचालन में सीधे-सीधे भाग नहीं ले सकते हैं। इसलिए प्रतिनिधि चुनने की प्रणाली चल पड़ी। फिर देश के प्रत्येक आबाल-वृद्ध-वनिता में मतदान के लिए उचित विवेक नहीं रहता है। अस्तु, प्रमाणित अयोग्य (पागल, विदेशी, अपराधी) व्यक्तियों के अतिरिक्त प्रत्येक वयस्क नागरिक के मतदान अधिकार को 'वयस्क सार्वजनिक मताधिकार' कहते हैं। मतदाता को कई अधिकार हैं :—(१) उन्हें मत देकर विधान सभाओं के लिए प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। (२) उन्हें मतदान करने में स्वतन्त्रता का अधिकार है। उन्हें अपना मतदान के लिए कोई बाध्य नहीं कर सकता है।

अधिकार के साथ-साथ उनके कुछ कर्त्तव्य भी हैं। (१) उन्हें मतदान में विवेक और सावधानी से काम करना चाहिए। योग्यतम व्यक्ति को ही उन्हें अपना प्रतिनिधि चुनना चाहिए। उनके प्रतिनिधि को विद्वान्, बुद्धिमान्, प्रजातन्त्र का समर्थक, निर्वाचन क्षेत्र की समस्याओं से परिचित होना चाहिए। मूर्ख, प्रजातन्त्र में विश्वास न करने वाला तथा उनकी समस्याओं से अपरिचित व्यक्ति उनकी तथा देश की भलाई कदापि नहीं कर सकता है। (२) आज निर्वाचन क्षेत्र के लिए राजनीतिक दल अपने उम्मीदवारों को खड़ा कर देते हैं। कभी कभी ऐसे उम्मीदवारों को भी जो प्रतिनिधि चुने जाने के बाद उस क्षेत्र में पैर तक नहीं रखते हैं। अस्तु, मतदाताओं का कर्त्तव्य है कि वे मतदान के पूर्व ही इस विषय पर ध्यान दें कि उनका प्रतितिधि उनके लिए निकम्मा न हो जाय। (३) उन्हें

जाति या धर्म के नाम पर या किसी प्रलोभन में पड़कर अपने मतदान का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। गत आम चुनाव में खासकर जाति के नाम पर अनेक निकम्मे-अयोग्य प्रतिनिधि चुन लिये गये। इससे देश का कल्याण कदापि नहीं हो सकता है। (४) सबसे बड़ा कर्त्तव्य उनका यह होता है कि वे पहले इसका निर्णय करें कि वे प्रजातन्त्रात्मक राज्य में भी किस प्रकार की सरकार बनाना चाहते हैं। कांग्रेस दल अपनी राजसत्ता का दुरुपयोग करती है। बापू के पवित्र नाम को बेचती है, जाति-पाति को केवल बुरा बतलाता है। भारतीय जनता को, आगामी आम चुनाव में सतर्क एवं होशियार हो जाना चाहिए। यदि वह कांग्रेस के चक्कर से मुक्त होना चाहती है तो उसे राजनीतिक दल के चुनाव में विवेक एवं बुद्धि से काम करना चाहिए। अन्यथा कांग्रेस सरकार की धांधली और बढ़ जायेगी। वह हकबंदी कानून द्वारा किसानों का जमीन लेने और उसकी जमीन पर लगान बढ़ाने के लिए तैयार है, सोसलिस्ट पार्टी भी कानून के जरिये जमीन लेना चाहती है और कम्युनिस्ट पार्टी बलपूर्वक भी। आज कांग्रेस सरकार कानून के द्वारा सहकारी खेती किसानों की इच्छा के विरुद्ध उनके मत्थे लादने जा रही है। इससे उत्पादन बढ़ने के बजाय घटेगा, नौकरशाही की तूती बोलेगी, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता खतम हो जायेगी और सत्ता का केन्द्रीकरण होगा। इसके विरुद्ध देश के महान् वयोवृद्ध नेता श्रीचक्रवर्त्ती राजगोपालाचारी के प्रभुत्वशाली नेतृत्व में स्वतन्त्रपार्टी का निर्माण हुआ है। यह पार्टी गाँधी वाद के सिद्धान्तों पर समाज का नवनिर्माण करना चाहती है। अतः भारत के ८१% किसान—मजदूर को स्वतन्त्र पार्टी को अवश्य अपनाना चाहिए। उसी में उनका कल्याण है।

(ख) गुण :—(i) वयस्क सार्वजनिक मताधिकार राजनैतिक समानता की पुष्टि करता है। सभी को अप्रत्यक्ष रूप से शासन में भाग लेने का मौका मिलता है। (ii) जनता प्रभुता का मुख्य स्रोत है। सरकार के कानून और नीति का प्रभाव सब पर पड़ता है। अतः उनका निर्णय सबके द्वारा होना चाहिए। (iii) इससे प्रत्येक नागरिक का राजनैतिक प्रशिक्षण होता है

और सार्वजनिक कार्यों में उनकी दिलचस्पी बढ़ती है। (iv) यह जनता में स्वाभिमान का भाव उत्पन्न करता है। बड़े-बड़े नेता मत माँगने जाते हैं और जनता को अपनी वास्तविक शक्ति का ज्ञान होता है। (v) इससे जनता अपने को राष्ट्र का एक अंग समझती है जिससे राष्ट्रीयता का विकास होता है। (vi) इससे सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व होने से सबमें संतोष होता है। (vii) प्रजातन्त्र में बिना प्रतिनिधित्व के राज्य को कर लगाने का अधिकार नहीं है। अस्तु, यह न्याय संगत है।

दोष :—इसके विरुद्ध कुछ थोथी दलीलें भी दी जाती हैं। (i) साधारण जनता अशिक्षित और अज्ञानी होती है। अतः इसके द्वारा शासन को मूर्ख, अयोग्य और दरिद्र मनुष्यों के हाथ में सौंपना है। (ii) शारीरिक एवं मानसिक कमजोरी के नाम पर स्त्रियों को तथा धन के लोभ में बहुमूल्य मत वेचने के नाम पर गरीबों को इससे वंचित रखने की दलील भ्रमात्मक है। (iii) शासन की जटिलता को समझने की क्षमता वाले ही को यह अधिकार मिलना चाहिए। (iv) मताधिकार एक पावन कर्त्तव्य है। गार्नर के शब्दों में "यह नैसर्गिक अधिकार नहीं है जो राज्य के प्रत्येक नागरिक को बिना किसी भेद-भाव के प्राप्त होता है।"

Q. ५. (a) सम्मिलित परिवार क्या है ? (b) इसके गुण-दोष क्या हैं ? (c) भारत में इसका भविष्य कैसा है ? या भारतीय परिवार छिन्न-भिन्न क्यों हो रहा है।

Ans. (a) एक ही वंश के सहवास, सहभोजन और सम्पत्ति में सह-अधिकार वाले सदस्यों का इकाई को सम्मिलित परिवार कहते हैं। प्रत्येक सदस्य एक दूसरे के हर्ष-विषाद का साथी होता है और उसमें त्याग की भावना होती है। भारतीय परिवार सुसंगठित समाज की एक ऐसी ही छोटी इकाई है। परिवार में एक मुखिया होता है। साधारणतः मुखिया घर का वृद्ध, अनुभवी व्यक्ति ही होता है। परिवार का प्रत्येक सदस्य मुखिया को सहयोग देता है। घर का मालिक भी प्रत्येक सदस्य को सुखी बनाने के लिए चिन्तित रहता है।

(b) गुण :—परिवार सभी समुदायों में श्रेष्ठ है। प्रथम, परिवार—प्रजनन तथा पालन-पोषण का काम सम्पन्न करता है। बच्चे की जितनी सेवा-शुश्रषा उसके परिवार में हो सकती है उतनी अन्यत्र नहीं। जिस प्रकार बच्चे की असहायावस्था में माता-पिता उनका पालन-पोषण करते हैं उसी प्रकार वृद्धावस्था में उनके बच्चे उनका भरण-पोषण करते हैं। बच्चे की शिक्षा-दीक्षा, चाल-चलन, स्वास्थ्य, सभी बातों पर परिवार की ही जिम्मेवारी रहती हैं। परिवार का दूसरा कार्य आर्थिक व्यवस्था है। परिवार से ही सच्चा प्रेम, संगठन और सच्ची सहानुभूति का सृजन होता है। परिवार सांस्कृतिक भाव भी उदय करता है। प्रेम, त्याग, सहानुभूति, शिक्षा आदि हमें बचपन में परिवार से ही मिलते हैं। परिवार सामाजिक और नागरिक जीवन की पाठशाला है। परिवार में ही हम अधिकार और कर्त्तव्य की भावना से परिचित होते हैं, जो नागरिक जीवन का एक अंग है। परिवार में अर्जन और उपभोग में कोई अनुपात नहीं। ऐसी व्यवस्था में निर्बल, अपाहिज, लंगड़े-लूल्हे, अन्धे सबकी गुंजाइश हो जाती है। सुसंगठित परिवारों के समूह से एक सुसंगठित ग्राम-समाज उत्पन्न होता है।

दोष:—संयुक्त परिवार में अक्सर देखा जाता है कि कार्य करनेवाले तो कम हैं और उन पर निर्भर रहने वाले अधिक। कोई अधिक कार्य करता है और कोई बहुत कम। अकर्मण्यता बढ़ जाती हैं। इच्छा शक्ति का ह्रास हो जाता है। घर में चोरी होने लगती है। इस प्रकार उत्पादन में बाधा पड़ती है, साथ ही मानसिक चिन्ता बढ़ जाती हैं। बाद में परिवार का विघटन भी हो जाता है।

(c) साधारणतः कहा जा सकता है कि पारिवारिक जीवन अधिक उपयुक्त है। इसे छिन्न-भिन्न नहीं होने देना चाहिए। पाश्चात्य देशों में परिवार की सीमा अपेक्षाकृत कुछ छोटी होती है। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में तो सम्मिलित परिवार की बहुत आवश्यकता है। पर इस भौतिक युग में मनुष्य अधिक स्वार्थी होता जा रहा है। हृदय की उदारता के अभाव में भारतीय सम्मिलित परिवार का भविष्य अंधकारमय है।

Q. 5. भारतीय संविधान की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं ?

विभिन्न ज्ञानानुभव, विशिष्ट संस्कृति, स्वर्णिम अतीत एवं विस्तृत भौगोलिक स्थिति एवं क्षेत्र के कारण भारतीय संविधान में कई विशेषताएँ हैं। (१) 'विभिन्नता में एकता' ही हमारी राष्ट्रीयता का मेरूदण्ड है। इस संविधान ने केन्द्र को सर्वाधिक शक्ति-संपन्न रखा है। राष्ट्रपति का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है उसमें संघ की कार्यपालिका शक्ति निहित है। उसका चुनाव संसद की दोनों सभाओं तथा राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा अनुपातिक प्रतिनिधि पद्धति से गुप्त मतदान द्वारा होता है। उसकी कार्यावधि ५ वर्ष की है। साधारण समय में वह एक वैधानिक प्रधान मात्र है पर संकटकाल में वह विभिन्न अंगीभूत राज्यों के स्वशासन को एक निश्चित अवधि तक स्थगित कर सकता है। (२) संघ शासन में मंत्रिपरिषद् की स्थिति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक आम चुनाव के बाद लोक सभा में बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल के नेता को राष्ट्रपति प्रधान मंत्री नियुक्त करता है। तदुपरांत प्रधान मंत्री की सलाह से वह अन्य मन्त्रियों को चुनता है। प्रधान मंत्री मन्त्रियों के कार्यों का बँटवारा करता है। मन्त्रि-परिषद् का कार्य सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धांत पर ही चलता है। प्रधान मंत्री मंत्रिपरिषद् और राष्ट्रपति के बीच एक कड़ी का काम करता है। वह मंत्रिपरिषद् ही के समस्त निर्णयों को राष्ट्रपति तक पहुँचाता है। (३) भारतीय संसद् के दो सदन हैं—लोक-सभा और राज्य-परिषद्। लोक-सभा में सदस्यों की महत्तम संख्या ५०० हो सकती है। जनता की प्रभुता के सिद्धान्त के अनुसार ये प्रतिनिधि वयस्क मताधिकार और प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति से निर्वाचित होते हैं। इसकी अवधि ५ साल की है। अनुसूचित, आदिम एवं आँग्ल जातियों के लिए १५ वर्षों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित हैं। राज्य-परिषद् संसद की उच्च सभा है। यह भारतीय गण-राज्य के संघात्मक स्वरूप का प्रतीक है। इसकी महत्तम संख्या २५० है। इसमें १२ सदस्यों को राष्ट्रपति मनोनीत करता है। शेष सदस्यों का निर्वाचन परोक्ष रीति से विभिन्न राज्य करते हैं। संसद् मंत्रिमण्डल के अनुचित कार्यों को देखकर उनपर अविश्वास भी प्रकट

कर सकता है। ऐसी स्थिति में इसे त्याग पत्र देना पड़ता है। नीति-निर्धारण भी संसद ही करती है। (४) अधिकारों की दृष्टि से लोकसभा, राज्य-परिषद् की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। मंत्रिमण्डल सामूहिक रूप से केवल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है। धन-विधेयक केवल लोक सभा में ही उपस्थित किये जा सकते हैं। लोक-सभा से पास होने पर वे राज्य-परिषद में भेजे जाते हैं। राज्य-परिषद् को १४ दिनों के अन्दर उन्हें अपनी सिफारिशों के साथ लौटाना आवश्यक है जिन्हें मानना लोक-सभा की इच्छा पर है। उन्हें नहीं मानने पर विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास किये गये समझे जायेंगे। अन्य विधेयकों में दोनों सदनों को समानाधिकार है। (५) भारतीय संविधान में न्यायपालिका को सर्वोच्च स्थान है। संविधान द्वारा प्राप्त मूल अधिकारों की प्राप्ति में कहीं व्यवधान होने पर कोई भी नागरिक न्याय-पालिका से न्याय की माँग कर सकता है और उच्चतम न्यायालय उस सम्बन्ध में निर्भीक होकर निर्देश, आदेश या लेख निकालकर उस नागरिक की उचित माँगों की पूर्त्ति कार्यपालिका से करा सकता है। न्याय पालिका राष्ट्रपति के अवैधानिक व्यवहारों के विरुद्ध भी निर्णय दे सकती है। उच्चतम न्यायालय संघ एवं राज्यों के अधिकार सम्बन्धी मतभेदों में निर्णय देता है। (६) एक केन्द्रीय नियंत्रक मह लेखा-परीक्षक केन्द्र में रहता है जो सरकारी आय-व्यय की जाँच के लिए भारत का सर्वोच्च एवं स्वतंत्र अधिकारी है। (७) भारतीय संविधान में एक नागरिकता का विधान है न कि संयुक्त राज्य अमेरिका जैसी दोहरी नागरिकता का। प्रत्येक भारतवासी भारत का नागरिक है तथा समस्त भारत में उसे नागरिकता की सुविधाएँ प्राप्त हैं और वह समस्त भारत के प्रति उत्तरदायी है। (८) साम्प्रदायिकता के लिए भारतीय संविधान में कोई स्थान नहीं है। भारत-धर्म-निरपेक्ष संघ है। जाति, धर्म तथा लिंग भेद-भाव के बिना सभी नागरिकों को समान सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक न्याय का विधान है। उन्हें धर्म, उपासना, विश्वास, विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है। सबके विकास के लिए समान सुविधाएँ हैं। इस प्रकार संविधान स्वतः पूर्ण है।

Q. 6. (a) राज्य किसे कहते हैं ? इसके मुख्य उपादान कौन-कौन हैं ? उसका उत्तरदायित्व क्या है ? (b) राज्य और सरकार में क्या अन्तर है ? (c) सरकार के मुख्य अंग कौन-कौन हैं ? सरकार के कितने भेद हैं ?

Ans. (a) राज्य को 'किसी निश्चित भू-भाग में शांतिमय जीवन के लिए संगठित जनता' कहा गया है। राज्य के आवश्यक अंग हैं—(१) जन संख्या या जनता, (२) निश्चित भू-भाग, (३) सरकार और (४) राज्यसत्ता। इनमें से किसी एक के अभाव में राज्य नहीं बन सकता है। उत्तरदायित्व—राज्य के कुछ निश्चित उत्तरदायित्व ये हैं :—(i) राज्य का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है वाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना। इसके लिए राज्य को फौज की व्यवस्था करनी पड़ती है। (ii; देश के अन्दर शांति की व्यवस्था करना दूसरा कर्त्तव्य है। इसके अभाव में देश की प्रगति असम्भव है। (iii) नागरिकों के अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए न्याय की व्यवस्था करना पड़ता है। (iv) नागरिक अपने अधिकारों को समुचित उपयोग और कर्त्तव्यों को पालन कर सकें इसके लिए उनमें शिक्षा का समुचित प्रचार एवं प्रसार करने का दायित्व राज्य पर है। (v) जन-स्वास्थ्य की रक्षा, उद्योग और व्यापार के विकास, यातायात आदि का उत्तरदायित्व राज्य पर है। अर्थात् नागरिकों के शारीरिक, मानसिक, नैतिक विकास करने तथा जीवन को सुन्दर बनाने का भार राज्य पर ही है। (b) राज्य और सरकार में अन्तर :—(i) राज्य के चार तत्त्वों—जनता, निश्चित भू-भाग, सकार एवं राज्यसत्ता—में से सरकार एक अनिवार्य तत्त्व है। अर्थात् सरकार राज्य का अंग है। (ii) सरकार उस संगठन का समुदाय वाचक नाम है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा निर्मित होती है और कार्यान्वित होती है। (iii) राज्य के सभी नागरिक राज्य के सदस्य होते हैं पर सभी नागरिक सरकार का निर्माण नहीं कर सकते। सरकार तो वैसे कुछ आदमियों का समूह है जो कानूनों को बनाते हैं और उन्हें कार्यान्वित करते हैं। राज्य में शासक और शासित दोनों आते हैं पर सरकार से मतलब केवल शासक वर्ग से है। (iv)

राज्य का स्वरूप स्थायी है पर सरकार का स्वरूप अस्थायी और परिवर्तन-शील है। (v) राज्य एक भाववाचक राजनीतिक धारणा है, पर सरकार एक मूर्त्त चीज है। (c) सरकार के तीन विभाग हैं :—(१) विधान बनाने वाला-व्यवस्थापिका विभाग, (२) विधानों को कार्यान्वित करने वाला-कार्यकारिणी विभाग और (३) मुकदमों को फैसला करने वाला न्याय विभाग। सरकार के स्वरूप ये हैं :—(१) राजतन्त्र में राज्य का प्रधान राजा होता है। राज्य के सभी अधिकार, सत्ता और कार्य उसी में केन्द्रीभूत होते हैं। शासन में जनता का कुछ हाथ नहीं रहता है प्रायः राज वंशागत होता है। भारत में अशोक, चन्द्रगुप्त और अकबर आदि उदाहरण हैं। (२) कुलीन तन्त्र—मुट्ठी भर बड़े व्यक्तियों द्वारा संचालित शासन व्यवस्था को कुलीन तंत्र सरकार कहते हैं। कुलीन तथा बुद्धिमान् को तथा-कथित शासनकार्य में दक्ष समझे जाने के सिद्धांत पर यह आश्रित रहती है। ऐसी सरकार जन-कल्याण नहीं करती बल्कि अपने परिवारों का कल्याण करती है। (३) तानाशाही :—सैनिक-शक्ति या दलबन्दी के बल पर राज्य के सारे अधिकार प्राप्त करने पर तानाशाही सरकार कायम होती है जैसे हिटलर और मुसोलिनी। ऐसी सरकार में जनता की सारी स्वतंत्रता और सम्पर्ण अधिकार छीन लिए जाते हैं। उसे सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संस्था बनाने की आज्ञा नहीं मिलती है। तलवार का भय और जातीय विद्वेष के आधार पर ही तानाशाही पनपती है। इस तरह का शासन मानव का सबसे बड़ा दुश्मन है। (४) प्रजातंत्र :—प्रत्येक वयस्क नागरिक चुनाव द्वारा व्यवस्थापिका सभा में अपने प्रतिनिधि को भेजकर जिस सरकार का निर्माण करता है उसे प्रजातंत्र शासन कहते हैं। इसकी आधार शिला है—समानता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व। इसमें जाति, धर्म, रंग या लिंग भेद के लिए स्थान नहीं है। सचमुच, समानता लाने का यह बहुत बड़ा साधन है।

Q. 7. (क) प्रजातंत्र शासन से आप क्या समझते हैं? सफल प्रजातंत्र के मूलभूत सिद्धांत क्या हैं? (ख) प्रजातंत्र सरकार के कौन-कौन से अंग हैं? उनके काम क्या हैं?

Ans.(क) प्रजातंत्र शासन सर्वोत्तम शासन है। यह जनता का शासन है। जनता अपना प्रतिनिधि प्रांतीय तथा केन्द्रीय सभाओं में भेजती है। वे कानून बनाते हैं और शासन चलाते हैं। प्रजातंत्र की सफलता इन बातों पर निर्भर करती है—(१) जनता को शिक्षित होना चाहिए जिससे वह अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को जान सके। अशिक्षित लोग शिक्षितों के चंगुल में चले जाते हैं और प्रजातंत्र के नाम पर उनपर अत्याचार किया जाता है। वे जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि के नाम पर ठगे जाते हैं। (२) स्वतंत्रता एवं प्रजातंत्र की रक्षा में लोगों को तन-मन-धन से सतत् तत्पर रहना चाहिए। आजादी का मूल सतत् जागरुकता ही है। सजग और सचेत न रहने पर स्वार्थी देशवासी ही धोखा दे सकते हैं या देश की आजादी भी खतरे में पड़ सकती है। (३) देश में प्रबल जनमत का होना अनिवार्य है। ऐसा न होने से सरकार भी मनमाना कर सकती है। जनमत को प्रगट करने के मुख्य साधन हैं—समाचारपत्र, भाषण, शिक्षा आदि। विचारों एवं प्रेसों का स्वतंत्रता अत्यावश्क हैं। जवान पर ताला लगाने से सरकार की बुरी कारवाइयों के विरुद्ध कोई भी आवाज बुलन्द नहीं कर सकता है। (४) पार्टियों की स्थापना राजनीतिक चेतना पैदा करने तथा जनमत को संगठित करने में सहायक हुई है। पार्टी के बल पर एक गरीब, पर योग्य व्यक्ति भी उम्मीदवार खड़ा हो सकता है। (५) प्रजातंत्र की सफलता के लिए विरोधी दल का होना अनिवार्य है। इसे सरकारी कार्यों की स्वस्थ एवं रचनात्मक आलोचना करनी चाहिए तथा उसकी गलतियों को प्रकाश में लाना चाहिए। इससे शासन चलानेवाली पार्टी की धांधली और आत्याचार पर लगाम लगता है।

Q. 8. भारतीय संसद् के संगठन, कार्य और अधिकार क्या हैं ?

Ans. भारतीय संसद् के दो सदन हैं—लोक-सभा (निचला) और राज्य परिषद् (ऊपरी सदन)। दोनों सदन की बैठक वर्ष में दो बार अवश्य होगी और दोनों बैठकों के बीच छः महीने से अधिक का समय नहीं बीतना चाहिए। लोक सभा :—में सदस्यों की महत्तम संख्या ५०० हो सकती है।

लोक-सभा के सदस्यों को (i) भारत का नागरिक होना, (ii) कोई लाभ के पद पर न होना, (iii) कम से कम २५ वर्ष का होना और (iv) वोट देने का अधिकारी होना चाहिए। जनता की प्रभुता के सिद्धान्त के अनुसार वयस्क मताधिकार और प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति से कम से कम ५ लाख की आवादी पर एक सदस्य निर्वाचित होता है। अनुसूचित, आदिम एवं आँग्ल जातियों के लिए १५ वर्षों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित हैं। इसकी अवधि ५ वर्ष की है। सदस्यों के बीच से लोक-सभा एक अध्यक्ष चुनती है जो दलगत राजनीति से परे रहता है। सभा की कार्यवाही सुचारु रूप से चलाना इनका कर्त्तव्य है। राज्य-परिषद् :—भारतीय गणतंत्र के संघात्मक स्वरूप का प्रतीक है। इसकी महत्तम संख्या २५० है जिनमें राष्ट्रपति, १२ सदस्य (साहित्य, कला, विज्ञान और समाज सेवा में विशेषज्ञ होने के कारण) मनोनीत करता है। शेष सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष प्रणाली से राज्य की सभी विधान सभाओं के सदस्य करते हैं। सदस्य की उम्र कम से कम ३० वर्ष होनी चाहिए। अन्य योग्यताएँ और अयोग्यताएँ लोक-सभा के सदस्य की जैसा हैं। राज्य-परिषद् की अवधि स्थायी है पर इसके $\frac{1}{3}$ सदस्य प्रति द्वितीय वर्ष अलग होते जाते हैं। भारत का उपराष्ट्रपति ही पदेन राज्य-परिषद् का सभापति होगा। परिषद् अपने सदस्यों में से किसी को उपसभापति चुनेगी। संसद के कार्य एवं अधिकार :—संसद के नियमों के अन्दर सदस्यों को सभा-भवन में भाषण की स्वतंत्रता रहेगी। संसद में भाषण करने या वोट देने के कारण सदस्यों पर कचहरी में कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती है। सदस्यों के वेतन और भत्ते समय २ पर संसद निर्धारित किया करेगा। संसद् के कार्यों के ४ भाग हो सकते हैं :—(१) विधि सम्बन्धी अधिकार:—संघ सूची एवं समवर्त्ती सूची में दिये गये सारे विषयों पर कानून बनाने का हक संसद को है लेकिन राज्य सूची के विषयों पर केवल संकट काल में। संसद द्वारा बनाये कानूनों की वैधानिकता पर विचार करने का अधिकार उच्चतम न्यायालय को है। संसद के किसी सदन में कोई साधारण विधेयक पेश किया जा सकता है। एक सदन से पास होने पर उसे दूसरे सदन में विचारार्थ

भेजा जाता है। वहाँ भी पास होने पर स्वीकृति के लिए राष्ट्रपति के पास जाता है। किसी विधेयक पर दोनों सदनों में मतभेद होने-पर दोनों सदनों की संयुक्त बैठक राष्ट्रपति बुलायेगा जहाँ अंतिम निर्णय होगा। पास हो जाने पर वह राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए जायेगा। राष्ट्रपति विधेयकों पर अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति देगा या अपनी सिफारिशों के सहित पुनः विचारार्थ संसद के पास भेज देगा। संसद से दुबारे पास होने पर किसी विधेयक पर राष्ट्रपति को अपनी स्वीकृति देनी ही पड़ेगी। (२) वित्त सम्बन्धी अधिकार :—आमदनी और खर्च सम्बन्धी विधेयक वित्त विधेयक कहलाता है। वित्तमन्त्री वित्तीय वर्ष में होने वाले अनुमानित आय और व्यय का लेखा (बजट) लोक-सभा में ही पेश करता है राज्य-परिषद् में नहीं। अनुदान की माँगों को लोक-सभा स्वीकार करेगी, घटा देगी या अस्वीकार करेगी। राज्य-परिषद् का वित्त सम्बन्धी अधिकार सीमित है। लोक-सभा से पास होने पर वित्तविधेयक राज्य-परिषद् में भेजे जाते हैं। राज्य-परिषद् को १४ दिनों के अन्दर उन्हें अपने विचारों और सिफारिशों के साथ लोक-सभा में लौटाना आवश्यक है। जिन्हें मानना लोक-सभा की इच्छा पर है। उन्हें नहीं मानने पर लोक-सभा स्वयं विधेयकों को पास कर देगी। १४ दिनों के अन्दर वापस नहीं करने पर विधेयक पास समझा जायेगा। (३) कार्यकारिणी पर नियंत्रण:—केन्द्रीय मंत्रिमंडल लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगा। लोक-सभा उसपर नियंत्रण इस प्रकार रखती है :—(i) सरकार से प्रश्न पूछकर, (ii) किसी एक मंत्री के विरुद्ध भर्त्सना का प्रस्ताव पास कर, (iii) सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर या (iv) किसी महत्व पूर्ण सरकारी विधेयक को अस्वीकार कर। केवल लोक-सभा ही सरकार के प्रति अविश्वास का प्रस्ताव पास कर सकती है। (४) जनता की शिकायतों को व्यक्त करने के लिए संसद सरकार से तरह-तरह के प्रश्न पूछता है। सरकार को प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता है, नहीं तो सदस्य कार्यस्थगन प्रस्ताव पेश कर सकते हैं।

इस प्रकार भारत में उत्तरदायी शासन है। लोक-सभा सरकार (केन्द्रीय मंत्रिमंडल) को हटा सकती है। राज्य-परिषद् को साधारण विधेयकों में लोक-सभा के समान अधिकार हैं पर वित्तविधेयक में उसके अधिकार नगण्य हैं। उसे मंत्रिमंडल पर नियंत्रण रखने का अधिकार नहीं है। सचमुच, राज्य-परिषद् एक शक्तिहीन सभा है।

Q. 9. भारत के प्रधान मंत्री की नियुक्ति, अधिकार और कार्यों का वर्णन करें। या भारत के राष्ट्रपति एवं प्रधान मंत्री के सम्बन्ध का वर्णन करें।

नियुक्ति :—संविधान के अनुसार प्रधान मंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति के निर्णय और चुनाव पर निर्भर है। पर यह संविधानीय औपचारिकता है। कारण, व्यवहार में राष्ट्रपति का लोक-सभा के बहुमत दल के नेता को ही प्रधान मंत्री नियुक्त करना पड़ता है। किसी दल के स्पष्ट बहुमत और किसी मिले-जुले दल-निर्माण के अभाव में राष्ट्रपति को अपना मन चाहा प्रधान मंत्री नियुक्त करने का अवसर मिल सकता है। आज कल लोक-सभा में कांग्रेस पार्टी के बहुमत होने के कारण उसके नेता पं० जवाहर लाल नेहरू प्रधान मंत्री है।

कार्य और अधिकार :—(i) प्रधानमंत्री राष्ट्रपति की औपचारिक स्वीकृति से मंत्रि-परिषद् के अन्य व्यक्तियों को नियुक्त करता है। (ii) प्रधान मंत्री किसी मंत्री को त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य कर सकता है। किसी मंत्री के त्याग पत्र नहीं देने पर मंत्रिमंडल को भंगकर नया मंत्रिमण्डल बना सकता है। (iii) वह राष्ट्रपति की औपचारिक स्वीकृति से सभी मंत्रियों के कार्य वितरण करता है। (iv) वह मंत्रिमण्डल का अध्यक्ष होता है, उसकी बैठकें बुलाता है, बैठकों में सभापतित्व करता है। मंत्रिमण्डल की कार्यवाहियों, निर्णयों और नीति में उसका प्रमुख हाथ रहता है। (v) सभी विभागोंपर उसका नियंत्रण होता है और उनमें समन्वय लाता है। उसकी जानकारी के बिना कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया जा सकता है। (vi) वह मंत्रि-परिषद् के कार्यों की सूचना राष्ट्रपति को देता है। फिर, परिषद् सामूहिक

रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है जिसका नेता प्रधानमंत्री होता है। संसद में सरकार की ओर से नीति या महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर वह वक्तव्य देता है। इस प्रकार प्रधान मंत्री न केवल परिषद् और राष्ट्रपति के बीच संपर्क की शृंखला होता है वरन् दूसरी ओर परिषद् और संसद के बीच भी। (vii) राज्यपाल; न्यायाधीश, राज्यदूत, विविध आयोगों के सदस्य, प्रमुख सेनापति आदि उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति राष्ट्रपति की औपचारिक स्वीकृति से प्रधानमंत्री ही करता है। (viii) वैदेशिक मामलों में प्रधानमंत्री का विशेष उत्तरदायित्व है। वह इनका निर्णय परिषद् की बैठक के पूर्व ही कर लेता है। उससे असहमत होने वाले मंत्री को त्याग पत्र देना पड़ता है—जैसे जॉन मथाई, सी० डी० देशमुख आदि। (ix) संकटकाल में उसकी शक्ति बढ़ जाती है क्योंकि संकट से प्रभावित क्षेत्र का स्थानीय शासन सीधे संघीय शासन के नियंत्रण में आ जाता है।

इस प्रकार प्रधान मंत्री मंत्रिपरिषद् का सृजनकर्त्ता, पालनकर्त्ता एवं संहारकर्त्ता है। संसद् में बहुमत प्राप्त दल के नेता के रूप में और मंत्रि-परिषद् के अध्यक्ष के रूप में वह वस्तुतः मंत्रिपरिषद् का, संसद का और राष्ट्र का नेतृत्व करता है। वह यथार्थ में ब्रिटिश प्रधान मंत्री की तरह 'शासन की केन्द्रीय मेहराब का महत्त्वपूर्ण पत्थर' होता है।

Q.10. (a) भारतीय राज्यपाल के पद, कार्यों एवं अधिकार का वर्णन करें (b) बिहार के उच्च न्यायालय के संगठन और कार्यों का वर्णन करें।

Ans. (a) पद :—राज्य के मुख्य मंत्री तथा केन्द्रीय मंत्रिमंडल की राय से राज्यपाल की नियुक्ति ५ वर्षों के लिए राष्ट्रपति द्वारा होता है। राज्यपाल के पद के लिए ये योग्यताएँ अनिवार्य हैं—भारत का नागरिक होना, ३५ वर्ष की आयु होना, संसद या विधानमण्डल का सदस्य न होना, लाभ-पद पर नहीं होना। इसके अतिरिक्त सम्बन्धी राज्य का निवासी नहीं होना चाहिए। राज्यपाल को ५५०० मासिक वेतन, कई प्रकार के भत्ते, निःशुल्क निवास स्थान—राज्यभवन-मिलते हैं।

कार्य एवं अधिकार :—राष्ट्रपति की तरह राज्यपाल भी एक संवैधानिक शासक है। राज्यपाल के कार्यों एवं अधिकार ये हैं :—

(क) कार्यपालिका क्षेत्र :—(i) जिन विषयों पर राज्य विधान मण्डल को कानून बनाने के अधिकार हैं, उन सभी कार्यों के सम्पादन का अधिकार राज्यपाल को है। (ii) वह मुख्यमंत्री तथा मंत्रिपरिषद् के अन्य सदस्यों को नियुक्त करता है जो उसके प्रसाद-पर्यन्त पद धारण करते हैं। (iii) वह मंत्रियों में कार्यों का बंटवारा करता है। (iv) सरकार की समस्त कायपालिका की कार्रवाई राज्यपाल के नाम से की जाती है। वह महा-अधिवक्ता, एडवोकेट जेनरल, लोक-सेवा-आयाग के सदस्य तथा अन्य उच्च पदाधिकारियों को नियुक्त करता है। (v) उसे मंत्रिमण्डल के निर्णयों की सूचना प्राप्त करने का अधिकार है। (vi) राष्ट्रपति की तरह वह किसी मंत्री के निर्णय को समस्त मंत्रिमण्डल के विचारार्थ भेज सकता है।

(ख) विधायी क्षेत्र :—(i) वह राज्य विधान मण्डल का आह्वान, सत्रावसान और विघटन करता है। (ii) वह प्रत्यक्ष रूप से या संदेशों द्वारा विधान मण्डल को सम्बोधित कर सकता है। (iii) विधानमण्डल से पास किया हुआ विधेयक उसकी स्वीकृति के विना कानून नहीं बन सकता है। (iv) वह किसी विधेयक पर अपनी अनुमति प्रदान करने से इन्कार कर सकता है या उसे पुनर्विचार के किए विधानमण्डल को वापस कर सकता है। (v) विधानमण्डल के सत्र न रहने पर वह अध्यादेश जारी कर सकता है। (vi) वह विधान-परिषद् के कुछ सदस्यों को मनोनीत करता है। (vii) विधान-सभा में ऐंग्लो इंडियनों के उचित प्रतिनिधित्व न होने पर वह उन्हें उचित संख्या में मनोनीत कर सकता है।

(ग) वित्तीय क्षेत्र :—(i) वह प्रत्येक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में उस वर्ष का बजट विधानमण्डल के सामने वित्तमंत्री पेश करता है। (ii) आवश्यकता पड़ने पर अनुपूरक अनुदान की माँग उसकी अनुमति से विधानमण्डल में पेश की जा सकती है। (iii) उसकी सिफारिस के बिना कोई धन विधेयक विधानमण्डल में पेश नहीं किया जा सकता है।

(घ) न्याय क्षेत्र :—राष्ट्रपति उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति में राज्यपाल की सम्मति लेता है। (ii) अधीनस्थ अदालतों के न्यायाधीशों की नियुक्ति वह करता है। (iii) राज्य द्वारा बनाये कानूनों के उल्लंघन में मिली सजा को स्थगित करने, बदलने या क्षमा करने का अधिकार राज्यपाल को है।

(ङ) संकटकाल में राज्यपाल शासन सूत्र अपने हाथों में ले लेता है। किसी राज्य में संविधानीय यंत्र छिन्न-भिन्न होने पर प्रशासन का प्रत्यक्ष नियंत्रण संकट की घोषणा द्वारा केन्द्र करता है। पर 'घटना स्थल पर उपस्थित व्यक्ति' होने के नाते राज्यपाल ही लोक-सेवा की सहायता से प्रशासन चलाता है।

वस्तुत: राज्य के शासन की बागडोर मंत्रिपरिषद् के हाथ में है और राज्यपाल केवल नाममात्र का प्रधान होता है। प्रो० पायली के शब्दों में "राज्यपाल साधारण या विशेष किसी भी परिस्थिति में स्वतंत्र प्रतिकर्त्ता (agent) नहीं है।" "वह वास्तव में शक्तिहीन और सदैव मंत्रियों की सलाह के अनुसार कार्य करने वाला केवल सांवैधानिक और प्रतीकात्मक प्रमुख है।"

Q. 11. (a) स्वायत्त-शासन से आप क्या समझते हैं? इसके अन्तर्गत कौन सी संस्थाएँ हैं? किसी एक संस्था के काम का विवरन दीजिए। (b) ग्राम पंचायत की आवश्यकता, संगठन, कार्य और अधिकार क्या हैं? इसके आय-स्रोत क्या हैं?

Ans. (a) गाँव और शहर की छोटी-छोटी आवश्यकताओं की पूर्त्ति एवं समस्याओं के समाधान जब स्थानीय लोग स्वयं या अपने प्रतिनिधियो द्वारा करते हैं तो उसे स्थानीय स्वशासन कहते हैं। हमारे देश में स्थानीय शासन की संस्थाएँ दो वर्गों में बांटी जा सकती हैं—(क) नगरों के लिए स्थानीय संस्थाएँ—बड़े-बड़े शहर, शहर, कैंटोनमेंट तथा पोर्ट के लिए क्रमशः कारपोरेशन, म्युनिसिपैलिटी, कैंनटोनमेंट बोर्ड तथा पोर्ट ट्रस्ट—हैं (ख) देहाती क्षेत्रों के लिए स्थानीय संस्थाएँ—जिला, सबडिविजन, यूनियन और ग्राम के

लिए क्रमशः डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, लोकल बोर्ड, यूनियन बोर्ड तथा ग्रामपंचायत हैं।

(b) आवश्यकता (i) स्वतन्त्र शासन के विकेंद्रीकरण के रूप में ग्राम पंचायत शासन की लघुतम इकाई के सदृश है। किसी न किसी रूप में पंचायत की सत्ता प्राचीन काल से लेकर अबतक बनी रही है। (ii) गाँव के समुचित और बहुमुखी विकास तथा नागरिकता के अधिकार के उपभोग के लिए ग्राम पंचायतों के संगठन की आवश्यकता है। इसकी चर्चा भारत के संविधान में भी हुई है। (iii) ग्रामपंचायत आम जनता के द्वारा संगठित आम जनता के उपकार के लिए सफल प्रजातन्त्र का जीता जागता नमूना है। (iv) अपना प्रबन्ध, अपनी रक्षा, शिक्षा, सफाई और न्याय का भार देकर इस संस्था को स्वावलम्बी बनाया गया है। (v) अज्ञान के कारण ग्रामवासी बेतरह आपस में झगड़ते है, मुकदमेबाजी में बहुत रुपया बेतरह खर्च करते हैं पर ग्रामपंचायत की ग्राम कचहरी के माध्यम से अपना सस्ता, सुलभ एवं शीघ्र न्याय पा सकते हैं। (vi) शासन को गाँवों में विकेन्द्रित करने के लिए ग्रामपंचायत ही सर्वोत्तम माध्यम है।

संगठन (i) एकाधिक गाँवको मिलाकर कम से कम २००० और अधिकतम ५००० को आबादी पर पंचायत बनती है। बड़ी आबादी पर गाँव में एक से अधिक पंचायत भी बन सकती हैं। (ii) बालिग मताधिकार के आधार पर संशोधित विधान के अनुसार मुखिया, सरपंच और चार कार्यकारिणी समिति के सदस्य और चार पचोंका निर्वाचन होता है। (iii) पागल, दिवालिया, कोढ़ी और २५ वर्ष से कम उम्र के और नैतिक अपराध के अपराधी व्यक्ति तथा सरकारी कर्मचारी पदाधिकारी नहीं हो सकते हैं। (iv) मुखिया की कार्यकारिणी समिति में ९ सदस्य होंगे जिनमे ४ की नियुक्ति निर्धारित रीति से मुखिया करते हैं। (v) ग्राम कचहरी में ९ पंच होते हैं जिनमे ५ निर्वाचित और ४ मनोनीत होते हैं। (vi) संशोधित विधान में पंचायतें कार्यकुशलता के आधार पर ३ श्रेणियों में बाँटी जायेगी। प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी और तृतीय श्रेणी। प्रत्येक का अधिकार अलग-अलग रहेगा। इसकी निर्वाचन अवधि क्रमशः ५, ४ और ३ वर्ष की होगी। (vii) इस बार राज्य-स्तर पर एक

पंचायत वोर्ड के संगठन का विधान किया गया है और क्षेत्रस्तरपर क्षेत्र परामर्श दात्री समितिबनेगी जिसमें सभी पंचायतोंके सभी मुखिया पदेन सदस्य होंगे। इसी समिति की सलाह से क्षेत्र में विकास सम्बन्धी सभी कार्य होंगे। (viii) ग्राम सेवक का नाम संशोधित विधान में पंचायत सेवक रहेगा। ये सरकार की ओर से नियुक्त किये जाते हैं। इनका काम कार्यालय-संचालन के साथ पदाधिकारियों को पंचायत विधान और नियम के दायरे में सहायता करना हैं।

कार्य (i) पंचायतोंके सर्वांगीण विकासके लिए दो प्रकार का कर लगाया जायेगा। अनिवार्य कर और ऐच्छिक कर। संशोधित विधान में श्रम कर हटा दिया गया है। (ii) गाँव की सफाई, स्वास्थ्य. ग्राम रास्तों की रक्षा के साथ महामारी से बचाना, पशु गणना, प्राथमिक शिक्षा, गृह-उद्योगों का विकास, जन मार्गों का निर्माण, प्रकाश का प्रबन्ध, ग्रामपंचायत के कार्य हैं।

(iii) ग्राम-कचहरी द्वारा फौजदारी और दिवानी मामले देखे जाते हैं। बेंच को तृतीय श्रेणी के दण्डाधिकारी का अधिकार होता है। श्रेणी के हिसाब से ग्राम कचहरी में न्यायाधिकार भी कम-वेश रखा गया है। (iv) ग्राम-स्वयं सेवक दल का काम चोर-डकैत से रक्षा करना, माहमारी से पीड़ितों की सेवा करना, आगलगी आदि आकस्मिक घटनाओं में पीड़ितों की सेवा करना है। प्राथमिक उपचार की शिक्षा दल सदस्य को दी जाती है। दल के नायक चीफ अफसर मुखिया के आदेश से पचायत में कर वसूली और ग्राम कचहरी के सर पंच के आदेश का पालन करते हैं।

अधिकार—स्थानीय सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध ग्राम-पंचायत के पदाधिकारी उच्च अधिकारियों को लिख सकते हैं। मुखिया की कार्य समिति से सफाई और वसूली के लिए निर्धारित अधिकार हैं। कार्य की पूर्त्ति नहीं होने पर स्वयं पंचायत कोष से काम करवा सकते हैं और ५० रुपया तक जुर्माना भी कार्यकारिणी कर सकती है।

ग्राम-कचहरी में बेंच को तृतीय श्रेणी के दण्डाधिकारी का अधिकार प्राप्त है। १ माह तक की सजा और १०० रु० तक का अर्थदंड दिया जा सकता है। प्रथम श्रेणी की पंचायत को इससे अधिक अधिकार भी दिया जायगा।

तृतीय श्रेणी की पंचायत को सिर्फ अर्थ दण्ड का अधिकार रहेगा। दिवानी मामलों में १०० रु० तक की मालियत के देखने का अधिकार ग्राम कचहरी को है किन्तु वादी-प्रतिवादी के सम्मिलित आवेदन पत्र पर इससे अधिक का भी मामला देखनेका अधिकार है। राज्यमें ग्रामपंचायतों के मालगुजारी वसूलने और चौकीदारी तहसीलने का भी अधिकार दिया जा रहा है।

कुछ स्थानों में परीक्षनार्थ पुलिस का भी अधिकार पंचायतों को दिया जानेवाला है। पंचायत के पदाधिकारियों के लिए शिक्षा की भी व्यवस्था हुई है। इसके लिए राज्य में दो चल प्रशिक्षण संस्था बनी हुई हैं। पंचायत के ग्राम-सेवक को जन्म-मरण के आकड़ा लिखने के लिए रजिस्ट्रार का अधिकार दिया गया है।

आयके स्रोत—(i) अनिवार्य कर जो जमीन, मकान, वाग आदि अचल सम्पत्ति पर लगाया जाता है इसकी आय का मुख्य स्रोत है। (ii) अनुपूरक कर इन वस्तुओं पर लगा सकती हैः—अपने क्षेत्र के अन्दर (क) खरीदार, दलाल आदि व्यवसायी पर लाइसेंस फीस, (ख) विक्री के लिए माल लाने वाली गाड़ी और लद्दू पशु पर कर, (ग) पशुओं के निवंधन पर फीस, (घ) सराय, धर्मशाला, विश्राम गृह या पड़ाव पर फीस, (ङ) जल, शौचालय और रोशनी कर जहाँ इसका प्रबन्ध ग्राम पंचायत द्वारा हो।

Q. 12. (a) म्युनिसिपैलिटी के संगठन एवं कार्यों का वर्णन करें। (b) जिला परिषद् के संगठन और कार्य क्या हैं? विहार में इसका अंत क्यों हुआ?

(a) संगठन—'नगरपालिका' भारत के प्रायः सभी शहरों में है। इसके सदस्य म्युनिसिपल कमिश्नर कहलाते हैं। निश्चित अयोग्यताओं से मुक्त २१ वर्ष से ऊपर अवस्था वाले सभी नगर-निवासी अपने-अपने क्षेत्रों से कमिश्नर चुनते हैं। ये सदस्य अपने में से एक चेयरमैन (प्रधान) तथा एक वाइस चेयरमैन (उपप्रधान) चुनते हैं। ये नगरपालिका के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के प्रयोग और पालन के उत्तरदायी होते हैं। इसकी अवधि प्रायः ५ वर्ष की होती है। हाँ, कहीं-कहीं ३ वर्ष की। इसके सदस्यों की बैठक महीने में एक बार अवश्य

होती है। बैठक का सभापतित्व चेयरमैन, उसकी अनुपस्थिति में वाइसचेयरमैन या दोनों की अनुपस्थिति में कोई कमिश्नर करता है। किसी विषय का निर्णय बहुमत से होता है। इसके कार्य दो प्रकार के हैं (१) आवश्यक एवं अनिवार्य, (२) ऐच्छिक। (१) स्वास्थ्य-रक्षा हेतु नगर में बिकने वाली खाद्य पदार्थों के निरीक्षण एवं नियंत्रण का प्रबन्ध करती है। स्वच्छ जल के लिए 'वाटर टैंकों' का प्रबन्ध करती है। रोशनी, रास्तों की सफाई, आवश्यक नई सड़कों को बनाने का प्रबन्ध करती है। संक्रामक रोगों को रोकने के लिए सूई या टीके का इन्तजाम करती है। मनुष्यों एवं जानवरों के लिए अस्पताल चलाती है। शिक्षा हेतु प्राइमरी स्कूलें चलाती है। जन्म-मरण का लेखा रखती है। नक्शा पास कर नये घर बनाने की इजाजत नगरवासियों को देती है। ये उनके आवश्यक कार्य हैं। (२) ऐच्छिक कार्यों में पेड़ लगाना, टहलने घूमने के लिए 'पार्क' बनाना, सार्वजनिक सभाओं और उत्सवों के लिए भवन बनाना, पुस्तकालय एवं वाचनालय बनाना आदि उसके ऐच्छिक विषय हैं। इस प्रकार नगरवासियों के जीवन को सुन्दर, सुखमय बनाना ही नगर-पालिका का मुख्य उद्देश्य है। इन कार्यों के सम्पादन के लिए अनेक कर्मचारी रहते हैं।

निःसन्देह इन कार्यों के लिए पूंजी की जरूरत है। उसके आय के साधन ये हैं:—(१) भिन्न-भिन्न प्रकार के टैक्सें; जैसे मकान, जमीन, पानी, रोशनी, नाला, पैखाना, पेशाब, सवारी पर कर लगाती है। (२) सवारी में जोतनेवाले पशुओं की रजिस्ट्री फी तथा किसी कार्य के लिए लाइसेंस फी भी लेती है। (३) चुंगी वसूल करती है। (४) व्यापार से लाभ उठा सकती है। (५) समय-समय पर सरकारी सहायता भी मिलता है। (६) आवश्यकता पड़ने पर सरकार से ऋण भी लेती है।

Q. 13. (a) आवश्यकता से क्या समझते हैं ? इसकी प्रमुख विशेषताएँ क्या है ? हमारी आवश्यकताएं क्या हैं ? उनके भेद क्या हैं ? (b) आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे होती हैं ? (c) आराम और विलासिता की वस्तुओं में क्या अन्तर है ?

(a) सृष्टि के आरम्भ की आवश्यकता व्यक्तिगत और कम थी। सभ्यता

के विकास के साथ ये बढ़ती गयी और उसका क्षेत्र भी व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से देश तथा देश से विश्व के रूप में बढ़ता गया। जीवित रहने के लिए आवश्यक वस्तुओं की चाह को ही हम आवश्यकता कहते हैं। आवश्यकताएँ दो प्रकार की हैं। आर्थिक—भोजन-वस्त्र, घर आदि की आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमें आर्थिक प्रयत्न करना पड़ता है। गैर-आर्थिक मनोरंजन आदि की आवश्यकता की पूर्ति हेतु हमें गैर-आर्थिक प्रयत्न करना पड़ता है। (१) जीवित रहने की आवश्यकता—इसके भी तीन भाग हैं। (क) जीवन-धारण की आवश्यकता में भोजन, वस्त्र आदि के लिए हमें प्रयत्न करना पड़ता है तथा हवा, धूप, पानी आदि प्रकृति-प्रदत्त हैं। (ख) कार्य-कुशलता के लिए आवश्यकताओं में अच्छी कलम, मोटर, रेल, टेलिफोन आदि हैं। (ग) रीति-जनित आवश्यकताओं में पर्व आदि उत्सवों पर किये गये आयोजन हैं। (२) आराम की आवश्यकता—इससे हमारे शरीर एवं मन की थकान दूर होती है और कार्य-क्षमता लौट आती है, बढ़ती नहीं है; जैसे मनोरंजन की आवश्यकताएँ। (३) विलास जनित आवश्यकता से न तो विशुद्ध विश्राम मिलता है, न कार्य-क्षमता और न जीवनी शक्ति ही बढ़ती है जैसे रासरंग। ये आवश्यकताएँ देश, काल एवं व्यक्ति विशेष के प्रभाव से एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में चली जाती हैं। (b) हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं। हम अपनी कार्य-क्षमता की वृद्धि आराम तथा विलास की पूर्ति के लिए अनेक वस्तुओं का संग्रह अपने प्रयत्नों द्वारा करते हैं। इनकी प्राप्ति एवं उपयोग द्वारा हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है जिसे उपभोग कहते हैं। आवश्यकता पूर्ति करने की शक्ति ही वस्तु विशेष की उपयोगिता कहलाती है। किसी वस्तु के उपभोग का अर्थ वस्तु की उपयोगिता के उपभोग से ही है। हवा, पानी, धूप आदि प्रकृति-प्रदत्त वस्तुएं स्वतः उपयोगी हैं। हाँ, कभी-कभी जल को उपयोगी बनाने के लिए हमें श्रम करना पड़ता है। अधिकांश वस्तुओं को उपयोगी बनाने के लिए मनुष्य को श्रम करना पड़ता है; जैसे-जंगल की लकड़ी से कुर्सी बनाने में, मिट्टी से ईंट तैयार कर घर बनाने में। अस्तु, अधिकांश वस्तु में उपयो-

गिता लाने के लिए मनुष्य का श्रम आवश्यक है । वस्तु के उपयोगी होने पर उसके उपभोग से हमारी आवश्यकताओं की पुष्टि होती है ।

Q. 14. (क) महात्मा गाँधी के रचनात्मक कार्य क्रम से आप क्या समझते हैं ? इसके मूल तत्त्व क्या हैं ? कहाँ तक इसे सफलता मिली है ? (ख) समाज के प्रति गाँधी जी के प्रमुख देन की विवेचना करें । (ग) किन सिद्धांतों पर आप अपने समाज का पुनर्गठन करेंगे ? नये समाज की रूप रेखा संक्षेप में दीजिए ।

Ans. (क) भारत का अतीत अत्यन्त उन्नत एवं गौरवान्वित था । पर सदियों से गुलामी की जंजीर में जकड़े रहने के कारण इसका शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं नैतिक पतन हो गया है । चारों ओर स्वार्थ, कलह, द्वेष, हिंसा, अशांति, ऊँच-नीच और अमीर-गरीब के भेद-भाव की तूती बोल रही है । गाँधी जी समाज की पुनरंचना, इसका सर्वांगीण विकास—सर्वोदय समाज की स्थापना—रचनात्मक कार्यों द्वारा करना चाहते थे । इसक मूल तत्त्व ये हैं :—(i) राष्ट्रीय एकता—विभिन्न जाति, लिंग, धर्म, वर्ग तथा संस्कार के होते हुए भी हम सभी एक ही राष्ट्र के नागरिक हैं । राष्ट्रीय एकता से ही देश का सर्वांगीण विकास सम्भव है ।

(ii) अछूतोद्धार—अछूत कहा जाने वाला समाज का बहुत बड़ा अंश नागरिक अधिकारों से वंचित था । उसे 'हरिजन' की संज्ञा देकर शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास आदि की योजनाओं द्वारा सवर्ण हिन्दुओं के समकक्ष लाने का प्रयत्न इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना है । वे स्वयं हरिजन कालोनी में रहना पसंद करते थे ।

(ii) किसानों की उन्नति—हमारे अन्न दाता किसान आज भी समाज में अशिक्षित एवं उपेक्षित हैं । शिक्षा एवं सिंचाई का उचित प्रबंध नहीं है । उन्होंने कई किसान आन्दोलनों (जैसे चम्पारण में निल्हे साहबों के विरुद्ध) का सफलता पूर्वक नेतृत्व किया । (iv) नारी उद्धार—नारी उत्थान के बिना समाज का सर्वांगीण विकास असम्भव है । महिलाओं के समुचित विकास के

लिए उनके कुशल पथ-प्रदर्शन के फलस्वरूप अब महिलाएँ भी कठिन राष्ट्रीय दायित्वों का निर्वाह करने लगी हैं।

(v) जन-स्वास्थ्य—जब तक गाँव पूर्णतः स्वच्छ नहीं होगा, ग्रामीण अस्वस्थ रहेंगे ही। अतः उन्होंने अपने रचनात्मक कार्यों में जन-स्वास्थ्य-रक्षा हेतु गाँवों की सामूहिक सफाई का सन्देश दिया। (vi) मद्य-निषेध—गांधी जी ने देखा कि भारतीयों की दरिद्रता, अनैतिकता एवं स्वास्थ्यहीनता का प्रमुख कारण नशाखोरी है। अतः उन्होंने नशीले द्रव्य-निषेध की योजना रखी।

(vii) आर्थिक समानता—आर्थिक विषमता एवं सरकार की दूरंगी अगाँधीवादी आर्थिक नीति ही समाज में कलह, द्रोह और वैर के मूल कारण हैं। गाँधीजी के ट्रस्टीशीप, विनोबा के भूदान, ग्रामदान और सर्वोदय के सिद्धांत ही आर्थिक विषमता के सुन्दर समाधान हैं। गाँधीजी ने खादी और ग्रामोद्योग के विकास को प्रश्रय दिया।

(viii) कुटीर उद्योग—कृषि प्रधान भारत की आर्थिक उन्नति के लिए कुटीर उद्योगों को प्रश्रय देना गाँधी जी ने आवश्यक समझा। इससे लोग स्वावलम्बी होंगे, उनकी आर्थिक दशा सुधरेगी।

(ix) बुनियादी शिक्षा :—जगद् गुरु भारत असभ्य, अशिक्षित और अविकसित है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली के दोषों से बचने के लिए गाँधीजी ने बुनियादी शिक्षा की योजना देश के सामने रखी।

(x) इनके साथ साथ राष्ट्रभाषा, प्रांतीय भाषा, विद्यार्थी आदि जीवन के विभिन्न पहलुओं पर गाँधी जी ने सुन्दर योजनाएँ प्रस्तुत कीं। निस्सन्देह हम राष्ट्रीय एकता, अछूतोद्धार आदि कुछ विषयों में कुछ आगे बढ़े हैं। पर अफसोस, हमारी सरकार-बापू के तथाकथित अनुयायियों की सरकार-गाँधीवाद से दूर भागती जा रही है। यही कारण है कि गाँधी जी के रचनात्मक कार्य अब चर्चा का विषय मात्र रह गये हैं। भाषा आदि नाजुक समस्या के अनुचित समाधान करने की सरकारी चेष्टा से हमारी राष्ट्रीय एकता भी संकट में पड़ सकती है। किसानों की दशा अब तक दयनीय है। जन-स्वास्थ्य का स्तर दिनों दिन गिरता जा रहा है। सहयोगी खेती, राज्य व्यापार, नये नये करों द्वारा

आर्थिक विषमता दूर करने के अदूर दर्शी प्रयास से देश में असंतोष की लहर फैल रही है। समस्या का सुन्दर समाधान सम्भव है-गाँधीवाद एवं विनोबावाद द्वारा, न कि रूसी मार्क्सवाद द्वारा। सरकारी असफल आर्थिक नीति के परिणाम स्वरूप अपार विदेशी ऋण के बावजूद भी जनता का जीवन-स्तर ऊँचा नहीं हो रहा है। बुनियादी शिक्षा में स्वावलम्बन और विकेन्द्रीयकरण की भावना है। पर आज कितने मंत्री तथा सरकारी पदाधिकारी बुनियादी विद्यालयों में अपने बच्चों को भेजते हैं? हाई स्कूल्स कन्ट्रोल ऐक्टद्वारा शिक्षा में केन्द्रीकरण किया गया है। अतः सरकार की अगाँधीवादी नीति के कारण गाँधी जी के रचनात्मक कार्यों की सफलता देश में नहीं मिल रही है।

Q. 15. वर्तमान राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्वपूर्ण घटनाओं का हमारे नित्य के जीवन पर जो प्रभाव पड़ रहा है, उनके कुछ उदाहरण दें।

सारा संसार एक बड़ी इकाई है। महादेश, देश, राज्य इत्यादि इसकी छोटी इकाइयाँ हैं। संसार के किसी कोने में हुई घटना का प्रभाव सर्वत्र पड़ता है। कहीं प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से शीघ्र ही पड़ता है और कहीं अप्रत्यक्ष रूप से विलम्ब कर के। कुछ प्रभाव जीवन में हलचल पैदा करनेवाले होते हैं और कुछ नगण्य।

हिन्द-चीन-लड़ाई :—अंगरेज और चीनी सरकार के बीच समझौते के अनुसार भारत और चीन के बीच मैकमोहन रेखा सीमा मान ली गयी थी। समस्त तिब्बत को हड़पने के बाद चीन की साम्यवादी सरकार की गृद्ध दृष्टि भारत के कुछ क्षेत्रों पर पड़ी। उसने १२ हजार वर्गमील हमारी पवित्र भूमि पर कब्जा कर लिया। भारत सरकार का शान्तिपूर्वक समस्या के समाधान का सारा प्रयत्न विफल रहा। चीन ने नेफा और लदाख में बजापते चढ़ाई कर दी। इसके ये प्रभाव पड़ रहे हैं :—(१) विश्व के सभी प्रजातंत्र प्रिय देशों की सहानुभूति और सहयोग भारत को मिल रहा है। यह युद्ध चीन और भारत का नहीं है, बल्कि प्रजातंत्र एवं साम्यवाद के बीच है। अतः सारा संसार चीन के इस अमानुषिक कार्य से तिलमिला उठा है। (२) शांति प्रिय एवं तटस्थ नीति वाले भारत को ही युद्ध का शिकार होना पड़ा है वह

भी पंचशील के सिद्धांत के तथाकथित समर्थक चीन के साथ। इससे भारत और चीन की शताब्दियों की मित्रता कटुता में परिणत हो गयी। हमारी सांस्कृतिक समता चीनी अदूरदर्शिता के कारण विषमता के विष को दूर न कर सकी। (३) निर्धन भारत अपनी पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा राष्ट्रनिर्माण में लगा हुआ था। आज इस लड़ाई ने हमारे राष्ट्रीय जीवन के संतुलन को नष्ट कर दिया है। विकास के कार्य बहुत अंश में ठप्प पड़ जायेंगे। लड़ाई के लिए अपनी योजनाओं में कटौती करने लगे हैं। (४) प्रत्येक भारतीय नर-नारी अपने सभी प्रकार के मतभेदों को भूल कर मातृभूमि की रक्षा हेतु मर मिटने को कटिबद्ध हैं। सब में समता, एकता का भाव जाग गया है। (५) प्रत्येक आदमी अपनी शक्ति के अनुसार राष्ट्रीय सुरक्षा निधि में दान दे रहा है। (६) अमेरिका, इंगलैण्ड, कनाडा आदि मित्र राष्ट्रों ने हमें सहायता देना प्रारंभ कर दिया है। हम अब अपने दोस्त और दुश्मन को पहचान सकेंगे। (७) युद्ध का सामान जो हम बाहर से खरीद रहे हैं उसके कारण हमारी भावी आर्थिक जीवन पर भी गहरा प्रभाव पड़ेगा। (८) राम और कृष्ण का भारत, अर्जुन और चन्द्रगुप्त का भारत, लक्ष्मीबाई और कुँअर सिंह का भारत जाग गया है। कठोरतम यातनाओं को सहकर भी चीनियों को अवश्य मार भगायेंगे। रामत्व के सामने रावणत्व को झुकना होगा। सत्यमेव जयते।

Q. 16. (a) स्कूल-पंचायत से क्या समझते हैं ? आप इसकी व्यवस्था कैसे करेंगे ? इसके उद्देश्य और कार्य क्या हैं ? (b) ग्राम स्वावलम्बन से आप क्या समझते हैं ? गाँव में भोजन, पीने के शुद्ध पानी तथा वस्त्र की समस्या के समाधान के लिए क्या सुझाव हैं ?

Ans. (a) आज का विद्यार्थी कल का आदर्श नागरिक, सफल शासक और कुशल प्रबन्धक होगा। पर इसके लिए स्कूल शिक्षा के अतिरिक्त उन्हें उत्तरदायित्व की शिक्षा देनी होगी। शिक्षकों के निर्देशन से विद्यार्थियों द्वारा निर्मित वह संस्था स्कूल-पंचायत कहलाती है जो विद्यार्थियों के सर्वाङ्गीण विकास कर उनके भव्य भविष्य की पृष्ठभूमि तैयार करती है। संगठन— स्कूल के सभी विद्यार्थी स्कूल-पंचायत के साधारण सदस्य होते हैं। सदस्य की

संख्या के अनुसार प्रत्येक वर्ग अपना प्रतिनिधि भेजता है। जो कार्यकारिणी समिति के सदस्य होते हैं। ये अपना सभापति, उपसभापति, मंत्री, उपमंत्री तथा कोषाध्यक्ष चुनते हैं। कार्यकारिणी समिति के सदस्यों को स्कूल-जीवन से सम्बन्धित कई विभागों का उत्तरदायित्व दिया जाता है, जैसे स्कूल की कृषि, खेल-कूद, मनोरंजन, साहित्य-परिषद्, वादविवाद सभा आदि के प्रबन्ध विभिन्न सदस्यों के जिम्मे रहेगा। दूसरी योजना इस प्रकार की होगी। प्रत्येक वर्ग एक निश्चित संख्या में अपना प्रतिनिधि चुनेगा। सभी प्रतिनिधि आपस में से एक व्यक्ति को अपना प्रधान मंत्री चुनेंगे। उनके नेतृत्व में सभी विद्यार्थी काम करेंगे। इसके कार्य होंगे—(१) कृषि और भोजन का प्रबन्ध, कृषि एवं खाद्य-मंत्री के अधीन रहेगा। विद्यार्थी आम, अमरूद, केला, बैर, पपीता आदि के पेड़ काफी संख्या में लगायेंगे जिससे मौसमी फल पर्याप्त मात्रा में मिलेंगे। इससे दोपहर का नाश्ता अच्छी तरह चलेगा। तरकारियाँ उपजाने से छात्रावास के लड़कों को ताजी और सस्ती तरकारी मिलेगी। आज हमारे ९५% विद्यार्थियों को पाव भर दूध नहीं मिलता है। अतः गोपालन अवश्य होना चाहिए जिससे विद्यार्थियों को थोड़ा भी दूध मिल सके। इस विभाग के समुचित प्रबन्ध से विद्यार्थियों के स्वास्थ्य में बड़ी उन्नति होगी। (२) वस्त्र स्वावलम्बन का भार वस्त्र-मंत्री पर रहेगा। कताई-बुनाई का प्रबन्ध रहेगा। इससे वस्त्र की समस्या हल होगी। (३) स्वास्थ्य एवं शरीर विकास के लिए भी एक मंत्री होगा जो अपनी छोटी समिति की सहायता से स्कूल में खेल-कूद, व्यायाम, वर्ग के कमरों, की सफाई मैदान, पेशाबखाने, पैखाने आदि का प्रबन्ध करेगा। (४) साहित्य-परिषद् और मनोरंजन विभाग के मंत्री अपनी समिति की मदद से साहित्यक गोष्ठियों, वाद-विवाद आयोजनों के अतिरिक्त तुलसी, भारतेन्दु, गाँधी जयन्तियों का आयोजन करेगा और प्रमुख कवियों एवं लेखकों को आमंत्रित करेगा। कभी-कभी ड्रामा का प्रबन्ध करेगा। इस प्रकार स्कूल-पंचायत के निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्त्ति होगी—(i) प्रजातंत्रात्मक प्रणाली का व्यावहारिक ज्ञान कराना, (ii) उत्तरदायित्व की भावना जगाना, (iii) योजना बनाकर काम करना,

(iv) संगठन का व्यावहारिक ज्ञान कराना, (v) सहकारिता की भावना पैदा करना, (vi) आत्मनिर्भरता एवं स्वावलम्बन की पृष्ठभूमि तैयार करना। अतः प्रत्येक स्कूल में शीघ्रातिशीघ्र स्कूल-पंचायत के निर्माण की नितांत आवश्यकता है।

Q. 17. (a) ग्राम-पुस्तकालय का संगठन एवं प्रबन्ध किस प्रकार हो? (b) अपने गाँवों में साक्षरता प्रचार (Mass Literacy Compaign) के लिए आप क्या प्रबन्ध करेंगे? या आप सामाजिक शिक्षा केन्द्र या पाठशाला का प्रबन्ध कैसे करेंगे? (c) पर्व-त्योहारों के मानने में किन-किन बातों पर ध्यान रखना चाहिए।

(a) ग्रामों में शिक्षा प्रचार के लिए पुस्तकालयों एवं वाचनालयों का उत्तम प्रबन्ध अत्यन्त आवश्यक है। ग्रामपंचायत के भीतर पुस्तकालय तथा वाचनालय समिति की स्थापना होनी चाहिए जिसमें बाल-साहित्य, नारी साहिय, किसान-साहित्य, धर्म एवं ग्राम साहित्य का सुन्दर समन्वय हो। यह सार्वजनिक स्थान पर गाँव या महल्ला भर के लोगों के सहयोग से स्थापित किया जाय। इसके लिए सर्वप्रतिनिधि समिति हो, खर्च की उचित व्यवस्था हो तथा यह सबडिविजनल, जिला तथा प्रादेशिक पुस्तकालय संघ से सम्बन्धित हो। इसकी समिति की मासिक बैठक होनी चाहिए।

यह केवल साक्षरता का माध्यम ही नहीं बल्कि ग्राम-जीवन का केन्द्र बिंदु है। इसके द्वारा ग्राम-जीवन को सुखी-सम्पन्न बनाने का प्रयत्न होना चाहिए। समय-समय पर सांस्कृतिक बैठक के अवसर पर नाट्य-परिहास, अनुकृति, अभिनय, संगीत, उपदेश, संभाषण आदि होना चाहिए। कभी-कभी पुस्तकालय की देखरेख में कीर्त्तन-भजन का आयोजन होना चाहिए। बाहरी विद्वानों को बुलाकर ग्रामोन्नति-सम्बन्धी व्याख्यान होना चाहिए। इसकी देख-रेख में रात्रिपाठशाला का प्रबन्ध होना चाहिए। एक रेडियो सेट भी होना चाहिए।

पुस्तकालय के साथ-साथ वाचनालय होना आवश्यक है जिससे लोग पुस्तकालय में कुछदेर तक मनोयोग पूर्वक-पुस्तकों का अध्ययन कर सकें। एक साथ उठने, बैठने, बातचीत करने एवं लिखने-पढ़ने से संघ शक्ति बढ़ती है।

जाग्रतावस्था के आत्म-निर्देश

जिस प्रकार हम अपने-आपको सोते समय शुभ विचार सुझाकर आरोग्य बना सकते हैं, इसी प्रकार जाग्रतावस्था में भी हम अपने-आपको सुन्दर विचार सुझाकर आरोग्य बना सकते हैं, अथवा दूसरे प्रकार की अपनी उन्नति कर सकते हैं। इसके लिए पहले अपने विचारों को स्थिर करना आवश्यक है। मन की स्थिर अवस्था में जो निर्देश मनुष्य अपने-आपको देता है उसी से मनुष्य का कल्याण होता है। साधारणतः मनुष्य को अपने विचारों की शक्ति में ही विश्वास नहीं होता। अतएव उसके आत्मनिर्देश व्यर्थ ही नहीं जाते वरन् कभी-कभी उनका उलटा परिणाम होता है। आरोग्य के निर्देश देने से मनुष्य का रोग और भी बढ़ जाता है।

जाग्रतावस्था के आत्म-निर्देश की आवश्यकतायें

जाग्रतावस्था के आत्म-निर्देश के विषय में दूसरी बात यह स्मरण में रखना आवश्यक है कि प्रत्येक क्रिया उसकी पूरक प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। अतएव आरोग्य प्राप्त करने की प्रबल इच्छा उसकी पूरक बीमार रहने की प्रबल कल्पना को उत्तेजित करती है। इसी प्रकार स्वास्थ्य-रक्षा की इच्छा स्वास्थ्य-विनाश की कल्पना को उत्तेजित करती है।

उक्त दो बातों को ध्यान में रखकर मनुष्य यदि अपने-आपको आत्म-निर्देश दे तो उसे पूरी सफलता मिले। जिस व्यक्ति के मन

में जितना ही अधिक अन्तर्द्वन्द्व होता है उसके लिए इन बातों को ध्यान में रखना उतना ही आवश्यक है। अतएव किसी प्रकार का आत्म-निर्देश देने के पूर्व अपने-आपको विचारहीन बनाना आवश्यक है। इसके लिए किसी प्रकार के मन्त्र का जप, सूर्य की ओर एकटक होकर देखना, अथवा साँस के आने-जाने पर मन को एकाग्र करना सहायक होता है। चित्त की एकाग्रता के समय जो निर्देश मनुष्य का मन पाता है वह उसी प्रकार की रचना करने लगता है। मन की प्रतिक्रिया से बचने के लिए एक ही उपाय है कि मनुष्य अपने-आपके विषय में चिन्ता न कर दूसरों के विषय में ही चिन्ता करे। जितना ही मनुष्य दूसरे लोगों के हित के विषय में सोचता है वह अपने हितसाधन में उतना ही अधिक समर्थ होता है। रोगी मनुष्य अपने रोग के विषय में ही चिन्ता करते रहता है और अपने-आपको बड़ा दया का पात्र समझता है। इससे उसका रोग नष्ट न होकर और भी बढ़ जाता है। यदि किसी प्रकार रोगी के मन में उदारता के भावों को लाया जा सके तो उसका रोग नष्ट हो जाय। अतएव जो व्यक्ति अपने रोग के विषय में चिन्ता न करके उसी प्रकार के दूसरे लोगों के रोगों के विषय में चिन्ता करते हैं वे रोगों से शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं। इस प्रसंग में लिंड लहर महाशय का अपनी प्राकृतिक चिकित्सा की पुस्तक में दिया गया निम्नलिखित उपदेश उल्लेखनीय है—

"बहुत से लोग अपने कल्पित दुःखों से दुःखी रहते हैं। यह एक प्रकार का मानसिक क्षय रोग है। इसके कारण बहुत से लोग

सचमुच में नर्क के भागी हो जाते हैं। यदि ऐसे लोग अपनी कल्पित अथवा वास्तविक आपत्तियों और दुःखों के ऊपर ध्यान न देकर दूसरे लोगों के वास्तविक दुःखों की ओर ध्यान दें तो वे अपने-आपको इस मानसिक क्षय रोग से बचा लें।"*

बीमारी से मुक्त होने के लिए बीमारी से उकता जाना हानिकारक होता है। हम जितना ही अधिक बीमारी की चिन्ता करते हैं और उसे शत्रु के रूप में देखते हैं उसको और भी भीषण बना देते हैं। बीमारी की चिंता हमारी मानसिक शक्ति को कमजोर कर देती है। अतएव जब हम ऐसी अवस्था में बीमारी से मुक्त होने की इच्छा करते हैं तो हमारी कल्पना उलटा निर्देश हमें देती है। जो मनुष्य बीमारी से जितना अधिक डरता है वह बीमारी को उतना ही बढ़ाता है। यह भाव प्रकृति से शत्रुता का सूचक है। बीमारी हमें किसी प्रकार की शिक्षा देने के लिए उत्पन्न होती है और जब हमें यह शिक्षा मिल जाती है तो वह चली जाती है। इस प्रकार रोग के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास रोग को नष्ट कर डालता है।

इस तरह हम देखते हैं कि अपने रोग के विषय में नहीं सोचना, सोचने की अपेक्षा अच्छा है। दूसरे, यदि अपने रोग से कोई व्यक्ति मुक्त होना चाहता है तो दूसरे लोगों को उसी प्रकार के रोगों से मुक्त कराने की चेष्टा करे। तीसरे, जिस प्रकार

* Natural Therapeutics, Vol. II P. 165.

मनुष्य मात्र के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास मनुष्य के अपने रोगों से मुक्त होने में सहायक होता है, उसी प्रकार रोग के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास अर्थात् उसे अपना कल्याणकर्त्ता सोचने से रोग शीघ्रता से रोगी को छोड़ देता है।

देखा गया है कि धनी, स्वार्थी और निकम्मे लोगों को सामान्य लोगों की अपेक्षा मानसिक रोग अधिक होते हैं। धनी मनुष्य को मुफ्त में खाने को मिलता है। वह संसार को अपने भोग का क्रीड़ास्थल समझ लेता है। धन के बचाने के लिए वह दूसरे लोगों से सदा सशंक रहता है। अतएव उसके सच्चे मित्र बहुत कम होते हैं। जो उसके पास आते हैं वे स्वार्थवश आते हैं। ऐसी स्थिति में उसे मैत्री भावना का अभ्यास करने का अवसर कम मिलता है। सदा भोग-विलास में लगे रहने के कारण और कठिन परिश्रम का अभ्यास न रहने के कारण ऐसे लोगों की इच्छाशक्ति कमजोर हो जाती है।

धन और निकम्मेपन का परिणाम

अतएव जब किसी प्रकार का बुरा विचार ऐसे लोगों के मन में घुस जाता है तो वे उससे मुक्त नहीं होते। प्रायः धनी लोग अनेक प्रकार की भूत बाधाएँ, कल्पित, शारीरिक अथवा मानसिक रोगों से ग्रसित रहते हैं। इस प्रकार प्रकृति उनके धन को ही उन्हें भार रूप बना देती है। धन की वृद्धि मनुष्य को जितना सुख देती है उतना ही वह दुःख भी देती है। अपने-आपको सदा परोपकार में लगाये रखनेवाले व्यक्ति की इच्छा शक्ति प्रबल रहती

है और इसके कारण कोई भी बुरा विचार उसके मन में स्थान नहीं पाता।

किसी प्रकार का रचनात्मक कार्य मनुष्य का उत्साह बढ़ाता है और इससे उसे शुभ आत्म-निर्देश मिलता है। हमने पिछले प्रकरण में मानसिक शक्ति के शोध की चर्चा करते समय बताया था कि रचनात्मक कार्य से मनुष्य की दलित भावनाओं का शोध होता है और उनकी शक्ति कोई ध्वंसात्मक कार्य न करके मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करती है। पर रचनात्मक कार्य से शुभ आत्म-निर्देश भी मिलता है। जो मनुष्य सदा नये-नये काम करते रहता है उसे अपने-आप पर विश्वास रहता है। इसके कारण उसके मन में अभद्र विचार उत्पन्न नहीं होते।

रचनात्मक कार्य द्वारा आत्मनिर्देश

लेखक के एक विद्यार्थी को अतिसार की बीमारी है। इसकी चर्चा इस पुस्तक के दूसरे प्रकरण में की जा चुकी है। डाक्टरों का कथन है कि उसकी बीमारी कल्पित है। उसे वास्तव में कोई बीमारी नहीं। पर उस विद्यार्थी को उसी प्रकार की पेट की पीड़ा होती है जिस प्रकार की पीड़ा वास्तविक रोग से होती है। उसका कथन है कि वह जब किसी बड़े काम में लगा रहता है तो उसका पेट का दर्द नहीं होता। उसका पेट का दर्द उसकी बेकारी की अवस्था में बढ़ जाता है।

जब मनुष्य का मन किसी एक क्षेत्र में रचनात्मक कार्य करने लगता है तो वह अपने ही आत्म-निर्देश से दूसरे क्षेत्र में

भी रचनात्मक कार्य करने लगता है। इस प्रकार समाज की भलाई में लगे हुए व्यक्ति का मन स्वार्थ के विषय में भी रचनात्मक कार्य करता है। रचनात्मक कार्य करते समय अनेक प्रकार के उत्साहवर्द्धक विचार मनुष्य के मन में आते हैं। ये विचार एक ओर मनुष्य की कार्यक्षमता की वृद्धि करते हैं और दूसरी ओर उसके स्वास्थ्य की उन्नति करते हैं। निकम्मा मनुष्य निराशावादी होता है। वह अपने मन से किसी प्रकार के अशुभ विचार को निकाल नहीं सकता। उसका मन उसे रोग का निर्देश देते रहता है और इसके कारण वह बीमार बना रहता है। कितने ही निकम्मे लोगों को इस प्रकार कल्पित बीमारियाँ घेरे रहती हैं। जो मनुष्य अपने शरीर के विषय में जितनी अधिक चिन्ता करता है उसे रोग भी उतना ही अधिक घेरते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य को इस बात के लिए भाग्यशाली समझना चाहिए कि उसका मन किसी प्रकार के रचनात्मक कार्य में लगा हुआ है और वह उससे आनन्द पाता है। रचनात्मक कार्य से दूसरा कोई लाभ हो अथवा नहीं इससे मनुष्य को शुभ आत्म-निर्देश मिलता है जिसके कारण उसकी अनेक मानसिक ग्रन्थियाँ अपने-आप ही नष्ट हो जाती हैं, उसमें आत्म-विश्वास आता है उसके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की वृद्धि होती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य के प्रतिक्षण के विचार आत्म-निर्देश का रूप धारण कर लेते हैं। "वृत्तिसारूप्यमितरत्र।" मनुष्य जो कुछ सोचता है उसका संस्कार उसके अचेतन

सत्पुरुष का ध्यान

उन पर रह जाता है। जब कोई मनुष्य किसी बात को बार-बार सोचता है तो वह विचार आत्म-निर्देश का रूप धारण कर लेता है। बार-बार जिस व्यक्ति के बारे में हम सोचते हैं, चाहे प्रेमवश सोचें अथवा घृणावश, उससे हम अपना आत्मसात् कर लेते हैं। फिर हममें आत्मनिर्देश के द्वारा उस व्यक्ति के गुण अथवा दोष अपने-आपमें आ जाते हैं। यदि हम बार-बार रोगी व्यक्ति के बारे में चिन्ता करते हैं तो हम स्वयं रोगी हो जाते हैं और यदि आरोग्यवान् व्यक्ति के बारे में हम सदा चिन्ता करते रहते हैं तो हम आरोग्यवान् बन जाते हैं। इसी प्रकार साधु का ध्यान रहने से मनुष्य साधु बन जाता है और दुष्ट व्यक्ति का ध्यान करते रहने से दुष्ट बन जाता है। जिस व्यक्ति में घृणा के भाव प्रबल होते हैं वह किसी प्रकार के संक्रामक रोग से पीड़ित व्यक्ति से भय करने लगता है और उससे बचने की चेष्टा करता है। पर इस प्रकार आत्म-निर्देश की प्रबलता के कारण वह उस रोग को ही पकड़ लेता है। इस प्रकार संक्रामक रोग एक व्यक्ति से दूसरे पर चले जाते हैं। पर जिस प्रकार रोग संक्रामक है, आरोग्य भी संक्रामक है। वास्तव में अधिकतर हमारे चिन्तन का अभ्यास ही रोग और स्वास्थ्य की उत्पत्ति कर डालता है। अभ्यास ही आत्मनिर्देश का रूप धारण कर लेता है।

बीमार मनुष्य का बार-बार चिन्तन करने से अपने-आप में उसी रोग की उत्पत्ति कर देता है। इस प्रसंग में लेखक की एक

छात्रा की बीमारी का निम्नलिखित वृत्तांत उल्लेखनीय है—

गत वर्ष (सन् १९४६) लेखक की एक छात्रा के पिता बीमार पड़े। इन्हें प्लूरेसी का रोग हो गया था। इस छात्रा की अवस्था कोई बाईस साल की थी। पर वह अभी तक अविवाहित थी। उसके पिता की आयु साठ साल की थी। उनका सारा जीवन देश-सेवा और जेलखाने में बीता था। यह छात्रा अपने पिता की वृद्धावस्था में सेवा करना चाहती थी। अचानक प्लूरेसी से पीड़ित होकर पिता की मृत्यु हो गई। पिता की मृत्यु की घटना ने उसके मन पर बड़ा प्रभाव डाला। जब वह घर से वापस आई तो उसका मन पढ़ने में नहीं लगता था। कुछ दिन के बाद वह स्वयं बीमार हो गई। बीमारी की परीक्षा कराने पर पता चला कि उस छात्रा को भी प्लूरेसी का रोग हो गया है।

लेखक इसी बीच इस छात्रा के पास पहुँचा। उसकी मानसिक व्यथा जानकर पता चला कि वह सदा अपने पिता की मृत्यु के बारे में कल्पना करती रहती है और पिता की मृत्यु को भूलने की चेष्टा करने पर भी उस दृश्य को नहीं भूलती। उसकी मानसिक परिस्थिति को जानकर रोगी के रोग का कारण प्रत्यक्ष हो गया। वास्तव में छात्रा ने अपने पिता के साथ इतना अधिक आत्मसात कर लिया था कि वह पिता के रोग का उसी प्रकार वास्तविक अभिनय करने लगी जिस प्रकार इरीन नामक महिला (जिसका वर्णन पृष्ठ १३२ में किया गया है) अपनी माँ की मृत्यु का अभिनय विक्षिप्तावस्था में करती थी।

उक्त उदाहरण में पिता के प्रति प्रेम के कारण उक्त रोग उत्पन्न हो गया। साधारणतः अधिक रोग घृणा के कारण पैदा होते हैं। रोगी मनुष्य के प्रति सहानुभूति दर्शाने का एक लाभ यह होता है कि हमारा उसके रोग के प्रति डर मिट जाता है। डर के मिट जाने पर हमारी इच्छाशक्ति बली हो जाती है और रोगी से हमें दुर्निर्देश नहीं मिलता।

मनुष्य की इच्छाशक्ति अनेक प्रकार की बाह्य क्रियाओं के करने से बढ़ती है। इससे उसको आत्मनिर्देश की शक्ति भी बढ़ती है। यज्ञ, होम, जप, पूजा-पाठ इस दृष्टि से उपयोगी होते हैं। कितने ही लोगों के मानसिक रोग रविवार के उपवास से अथवा सूर्य-दर्शन से नष्ट हो जाते हैं। वास्तव में इन क्रियाओं के करने से आत्मनिर्देश की शक्ति उत्पन्न होती है और इससे मानसिक दृढ़ता आती है और रोग नष्ट हो जाता है। पर यहाँ हमें यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि जिस समाज में वह व्यक्ति रहता है उसमें इन बातों पर विश्वास न हो तो इस प्रकार की क्रियाओं के करने का कोई मौलिक लाभ नहीं होता। जब मनुष्य अपनी आन्तरिक धारणाओं के प्रतिकूल कोई काम करता है तो उसे लाभ न होकर हानि ही होती है।

आत्म-निर्देश और बाह्यक्रियाएँ

सभी प्रकार के लाभ से तथा परोपकार से मनुष्य के मन में आत्म-प्रसाद उत्पन्न होता है। इससे उसकी इच्छाशक्ति अवश्य ही दृढ़ होती है। अतएव अपने आत्मनिर्देश की शक्ति को बढ़ाने

के लिए किसी प्रकार का तप करना, चित्त को एकाग्र करना, दूसरों को सुखी बनाने के काम करना अथवा इसी प्रकार के काम की कल्पनामात्र करना लाभदायक होता है। रोगी व्यक्ति से किसी प्रकार की साधना अथवा त्याग करवाना उसके लिए कल्याणकारी होता है। रोगी से जितना ही अधिक मैत्रीभावना का अभ्यास कराया जाय उतना ही भला है। उसमें घृणा के भावों की प्रबलता होती है। मैत्री भावना के अभ्यास से इन भावों का विनाश हो जाता है अतएव उसकी इच्छाशक्ति भी दृढ़ होती है और रोग भी नष्ट हो जाता है।

शान्तविचार की शक्ति

दो प्रकार के विचार

हमारे मन में दो प्रकार के विचार आते हैं—उद्वेग मुक्त और शान्त। भय, क्रोध, शोक, लोभ आदि मनोवेगों से पूर्ण विचार उद्वेग युक्त विचार हैं; जिन विचारों में मानसिक उद्वेगों का अभाव रहता है उन्हें शान्तविचार कहा जाता है। साधारणतः हम विचारों के बल को उससे सम्बन्धित उद्वेगों से मापते हैं। पर यह हमारी भूल है। क्रोधातुर व्यक्ति से अधिक डरा जाता है, पर क्रोधातुर व्यक्ति से उतना डरने का कारण नहीं जितना कि शान्तविचार के व्यक्ति से डरने का कारण है। जिस व्यक्ति में अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं रहता वह उद्विग्न मन होता है जिसे अपनी शक्ति में भरोसा रहता है वह शान्त मन रहता है।

जब हम किसी प्रकार के उद्वेगपूर्ण विचार को शान्त कर देते हैं तो उससे अपनी इच्छाशक्ति को दृढ़ बना लेते हैं। इससे मनुष्य की आत्मनिर्देश की शक्ति बढ़ जाती है।

उद्वेगपूर्ण विचार वैयक्तिक विचार हैं; उनका उद्गमस्थान वैयक्तिक मनोभाव होते हैं। शान्त विचारों का उद्गमस्थान मनुष्य का समष्टिमन होता है। ऐसे विचार मनुष्य की अन्तरात्मा से आते हैं। शान्तमन से किये गये निश्चय फलित होते हैं, उनके पीछे बृहदात्मा की शक्ति काम करती है। मनुष्य के मन में कल्पनातीत शक्ति है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक इस शक्ति का ज्ञान करता है वह उतना ही शान्त मन रहता है और उसके संकल्प उतने हो सफल होते हैं।

शान्तविचारों की शक्ति का केन्द्र

शान्तविचार सृजनात्मक होता है और उद्वेगात्मक विचार प्रायः ध्वंसात्मक। एक से अपना और दूसरों का कल्याण होता है और दूसरे से हानि होती है। वैयक्तिक विचार संशययुक्त होता है, अतएव चाहे उसे कितने ही प्रभाव के साथ क्यों न प्रकाशित किया जाय विफल हो जाता है, समष्टि के कल्याण का विचार संशयरहित होता है, अतएव वह अपने-आप ही फलित हो जाता है। संशय नकारात्मक विचार है। शान्तविचार के साथ नकारात्मक विचार का सहयोग नहीं होता, अतएव ऐसा विचारफलित होता है। यही कारण है कि सत्पुरुष का दिया हुआ आशीर्वाद फलित होता है। जो मनुष्य अपने विचारों की शक्ति

में जितना अधिक विश्वास करता है उसके विचार उतने ही अधिक फलित होते हैं। वह अपने आत्मनिर्देश से विचारों की शक्ति को बढ़ा देता है।

आत्मा की अनुकूलता ही ईश्वर अथवा प्रकृति की अनुकूलता के विचार के रूप में मनुष्य की चेतना के समक्ष आती है। ये भावनाएँ अचेतन मन की अनुभूति के प्रतिभासमात्र हैं। मनुष्य अपनी आन्तरिक अनुभूति के अनुसार अपनी कल्पनाओं को रचता है। इन कल्पनाओं की वास्तविकता उसकी अज्ञात आन्तरिक प्रेरणा पर निर्भर करती है। ईश्वर का कृपापात्र वही व्यक्ति होता है जो अपने-आपका कृपापात्र है। जैसा मन का रुख होता है वैसी ही मनुष्य की कल्पनाएँ होती हैं। आशावादी मन की कल्पनाएँ अथवा विचार आशावादी होते हैं, चाहे वह ईश्वरवादी हो अथवा जड़वादी, निराशावादी मन की कल्पनाएँ निराशायुक्त होती हैं। मन का रुख बदलने से ही कल्पनाओं का स्वरूप बदल जाता है और इसे बदलने के लिये मनुष्य को अन्तर्मुखी होना पड़ता है। विचारों को बाहर दौड़ाने से मन की शक्ति खर्च होती है और उन्हें समेटने से मन की शक्ति बढ़ती है। इसी शक्ति पर मनुष्य की आत्मनिर्देश की शक्ति निर्भर करती है।

गम्भीर परिस्थितियों में शान्त मन रहनेवाला पुरुष प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल परिस्थितियों में परिणत कर लेता है। शान्त मन की शक्ति का दूसरे लोगों के मन पर स्थायी प्रभाव

पड़ता है। वास्तव में दूसरे व्यक्तियों का निश्चय हमारे दृढ़ निश्चय पर ही निर्भर करता है। जिस मनुष्य में जितनी मानसिक दृढ़ता होती है वह उतने ही शान्तभाव से दूसरों को अपनी बात कहता है और उसके मन पर उसके कथन का प्रभाव उसी प्रकार का पड़ता है।

शान्त विचारों का प्रभाव धीरे-धीरे होता है; उद्वेगपूर्ण विचारों का प्रभाव तुरंत होता है। पर एक का कार्य स्थायी और व्यापक होता है और दूसरे का अस्थायी और परिमित। जिस प्रकार किसी बीज के वृक्षरूप में परिणत होने के लिए अदृश्य जगत् में काम करनेवाली शान्त शक्तियों की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार प्रतिक्षण के शान्त विचार हमारे संकल्प को फलित करने के लिए आवश्यक होते हैं और उनका कार्य अदृश्य होता है। ये शान्त विचार ही आत्मनिर्देश कहे जाते हैं। हमारे शान्त विचार धीरे-धीरे हमारे मन की बनावट को बदल देते हैं। जैसी मन की बनावट होती है वैसा ही हमारा आचरण भी होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार किसी काम में लगता है, पर इस स्वभाव को भी शान्त विचारों से बदला जा सकता है।

शान्त मन से सोचने से मनुष्य अपने काम के भावी परिणाम की रूपरेखा जान सकता है। जब मनुष्य आन्तरिक प्रेरणा के प्रतिकूल कोई काम करता है तो उसे विफलता मिलती है। शान्त विचार अन्तरात्मा से आते हैं और इनकी ज्ञानशक्ति

अपरिमित है। शान्त विचार के द्वारा दूसरे व्यक्ति के विचार भी जाने जा सकते हैं। आत्मनिर्देश की शक्ति शान्त विचारों में ही है।

शान्त विचार वैयक्तिक इच्छाओं के नियन्त्रण और विनाश से आते हैं। इच्छाओं की वृद्धि से इच्छाशक्ति का बल कम होता है और उनके विनाश से उसका बल बढ़ता है।

शान्त विचारों की वृद्धि के उपाय

इच्छाओं की वृद्धि ही उद्वेगों की वृद्धि करती है और इससे शान्त विचारों का अन्त हो जाता है और उनके स्थान पर भय, शोक, क्रोध आदि के उद्वेगात्मक विचार मनमें भर जाते हैं। इनकी प्रबलता होने पर मनुष्य को अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इन रोगों का अन्त शान्त विचारों से ही किया जाता है। ऊपर कही गई आत्मनिर्देश की विधि शान्त विचारों की वृद्धि करने की ही विधि है।

सभी प्रकार के गुण मनुष्य में अभ्यास से आते हैं। मनुष्य अपने-आप पर अधिकार धीरे-धीरे प्राप्त करता है। शान्तविचारों की वृद्धि धीरे-धीरे होती है। जैसे-जैसे मनुष्य का आत्मविश्वास बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसके विचार शान्त होते जाते हैं। इसके लिए प्रतिदिन का अभ्यास आवश्यक है। सभी प्रकार की सच्ची धार्मिक साधनाएँ शान्त विचारों की वृद्धि के उपाय हैं। भगवान् बुद्ध के बताये हुए अष्टांगी मार्ग के अभ्यास से मनुष्य में शान्त विचारों की वृद्धि होती है। इसमें से सम्यक् स्मृति, सम्यक् व्यायाम और सम्यक् समाधि विशेष प्रकार से उपयोगी हैं।

सम्यक् स्मृति में अपने प्रत्येक विचार के ऊपर ध्यान रखा जाता है, किसी भी अवाञ्छनीय विचार को मन में ठहरने नहीं दिया जाता है। इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य की इच्छाशक्ति का बल बढ़ता है। हम जितना ही अवाञ्छनीय विचारों को अपने मन से बाहर निकालने में समर्थ होते हैं उतना ही अपनी इच्छा-शक्ति का बल बढ़ा लेते हैं। यह इच्छाशक्ति का बल फिर पीछे अपने शुभ संकल्पों को फलित करने में काम में आता है। सम्यक् समाधि से चित्त की एकाग्रता आती है। मनुष्य की निर्देश की शक्ति इसी एकाग्रता पर निर्भर करती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक किसी एक बात पर एकाग्रचित्त होकर सोच सकता है उसका मानसिक बल उतना ही बढ़ा हुआ रहता है। किसी बात को एकाग्रचित्त होकर सोचने से वह सफल होती है। इसके लिये प्रतिदिन का अभ्यास आवश्यक है। सम्यक् व्यायाम के द्वारा पुराने भले विचारों का अभ्यास किया जाता है और नये कल्याणकारी विचारों की सृष्टि की जाती है। इन विचारों से मनुष्य का आत्म-ज्ञान बढ़ता है और आत्म-नियन्त्रण की शक्ति आती है।

मनुष्य विचारों की शक्ति के विषय में जैसा सोचता है वैसी ही शक्ति उसमें आ जाती है। किसी प्रकार की भावना बार-बार मन में लाने से वह फलित होती है। वास्तव में हमारा स्वरूप विचार ही है। विचार की कोई सीमा नहीं है। यह देश और काल के परे है। विचार की सीमा स्वयं विचार ही निर्धारित करता है, अर्थात् जैसा मनुष्य सोच लेता है कि मैं अमुक काम

कर सकता हूँ और अमुक नहीं कर सकता है, वह उतना ही काम करने की योग्यता रखता है और दूसरे काम के करने में असमर्थ रहता है। हमारे पुराने विचार ही हमारी उन्नति में सहायक अथवा बाधक बन जाते हैं। अचेतन मन का भंडार इन्हीं का बना हुआ रहता है।

विचार की शक्ति की वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि किसी प्रकार का व्यर्थ विचार मनमें ठहरने न दिया जाय। किसी प्रकार की चिन्ता करना अपने विचारों की शक्ति को व्यर्थ खर्च करना है। सभी कुछ हमारे कल्याण के लिये है—इस प्रकार का विचार चिन्ता का विनाश करता है और इच्छाशक्ति को दृढ़ बनाता है। इसका हमें अभ्यास करना आवश्यक है।

मानसिक चिकित्सक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी विचारों की शक्ति बढ़ावे। रोगी सदा उद्विग्न मन रहता है। उसके विचार निराशाजनक होते हैं। उसे शान्त मन रखना तथा उसके मनमें आशा का सञ्चार करना यह मानसिक चिकित्सक का परम कर्तव्य है। यदि मानसिक चिकित्सक स्वयं किसी प्रकार उद्विग्न मन हो जाता है तो वह रोगी को लाभ न कर उसकी हानि ही करता है। जिस व्यक्ति के मन में किसी प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ हैं उसके विचार स्थिर नहीं रहते ऐसा व्यक्ति सफल मानसिक चिकित्सक नहीं हो सकता। रोगी को बार-बार उत्साहवर्द्धक संदेश देना पड़ता है और उसके

संशयों का निवारण करना पड़ता है। इसके लिए बड़े धैर्य और आत्मविश्वास की आवश्यकता है।

ऊपर कहा गया है कि विचारों की कोई सीमा नहीं है। जिस प्रकार विचार समीपवर्ती व्यक्ति को प्रभावित करते हैं, उसी प्रकार वे दूर के व्यक्ति को भी प्रभावित करते हैं। विचार प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों ही रूप से दूसरे लोगों के पास भेजे जा सकते हैं। रोगी के कल्याण के विषय में प्रतिदिन चिन्तन करने से उसका कल्याण होता है। उसका रोग धीरे-धीरे उसके अनजाने ही चला जाता है। जिस मनुष्य की इच्छाशक्ति जितनी दृढ़ है वह उतनी ही प्रबल विचार धाराएँ दूसरे लोगों के पास भेजता है और इसका परिणाम भी उसके निश्चय के अनुसार होता है। विचार की लहरें रेडियो की लहरों के सदृश अदृश्य रहती हैं। जब किसी प्रकार की लहर रेडियो के ट्रान्समिटर से पैदा हो जाती है तो वह जगत् में चली जाती है और जहाँ पर उसके पकड़ने के लिए सेट पहले से तैयार रहता है वहाँ वह प्रकाशित होने लगती है, अर्थात् वह मनुष्य के चेतन मन को ज्ञात हो जाती है। इस प्रकार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक विचार भेजा जा सकता है और उसे ज्ञात किया जा सकता है। पर हमारा भेजा हुआ विचार किसी भी व्यक्ति के अचेतन मन को प्रभावित करता ही है। मनुष्य के स्वास्थ्य की वृद्धि में इस प्रकार के विचारों का बड़ा महत्त्व है।

मन की लहरों की क्रियाएँ

रोगी साधारणतः अपने आसपास निराशा के भाव उत्पन्न कर लेता है। वह दूसरे लोगों में अपनी बीमारी का प्रचार करता है। इससे दूसरे लोग भी उसे बीमार सोचते हैं। वह जैसी कल्पना अपने विषय में करता है, दूसरे लोग भी उसी प्रकार की कल्पना उसके विषय में करते हैं। इस प्रकार के विचारों के कारण उसकी बीमारी और भी बढ़ जाती है। उसके चारों ओर से उसे बीमारी के निर्देश मिलते हैं और उसके अज्ञात मन में भी बीमारी के विचार बाहर से आते हैं। जिस व्यक्ति के विषय में सभी लोग सोचते हैं कि वह स्वस्थ हो जावेगा वह स्वस्थ हो जाता है और जिसके विषय में सभी लोगों की दृढ़ धारणा हो जाती है कि वह मर जावेगा तो वह प्रायः मर ही जाता है। इस प्रकार किसी व्यक्ति की बीमारी को उसके पास कल्याणकारी विचार प्रकाशित अथवा अप्रकाशित रूप से भेज कर नष्ट किया जा सकता है।

एक बार लेखक का एक मित्र भयानक बीमारी से बीमार पड़ा था। उसके आस-पास रहने वाले व्यक्तियों के विचार निराशाजनक थे। उसके आस-पास रहने वाले लोगों के मन में आशाजनक विचारों का सञ्चार किया गया। इसके परिणामस्वरूप वह मित्र अच्छा हो गया। एक दूसरे मित्र को लेखक ने बीमार अवस्था में देखा। वह बड़ा परोपकारी व्यक्ति था। उसे देखकर लेखक को बहुत ही दुःख हुआ। उसके विषय में स्वास्थ्य की भावना का अभ्यास किया गया और वह कुछ काल में ही आरोग्य हो गया।

लेखक का एक छात्र शान्त विचारों की शक्ति में विश्वास करता है। उसे एक बार अपने एक मित्र का पत्र मिला कि उसका लड़का बीमार है। इसके लिए पर्याप्त डाक्टरी दवा की जा चुकी थी। पर रोग नहीं जाता था। इस छात्र ने कहा कि अब मैं इस रोग की चिकित्सा करूँगा और वह उस लड़के के लिए शुभ विचार भेजने लगा। तीन-चार रोज के बाद इस मित्र का पत्र आया कि वह लड़का अब अच्छा हो गया है।

मानसिक चिकित्सा की दृष्टि से अपने मित्रों को शुभ-कामना के पत्र लिखते रहना बहुत ही अच्छा है। यह एक पुण्य-कार्य है।

मैत्री भावना के विचारों से लाभ

ये पत्र सच्चे मन से लिखे जाने चाहिए और किसी प्रकार का भ्रम तथा चिन्ता का उनमें प्रकाशन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के पत्र लिखने से एक ओर उन मित्रों का लाभ होता है और दूसरी ओर स्वयं अपना लाभ होता है। मित्रों को पत्र लिखना मैत्री-भावना का अभ्यास है। इस प्रकार का अभ्यास हमारे शान्त विचारों की वृद्धि करता है और अपनी इच्छाशक्ति को दृढ़ बनाता है। प्रातःकाल उठ कर अपने मित्रों के विषय में सोचना भी इस दृष्टि से अपने लिए तथा दूसरों के लिए बड़ा हितकर होता है। बहुत से रोगियों के रोग इस प्रकार के चिन्तन से नष्ट हो जाते हैं। मानसिक चिकित्सक को चाहिए कि वह रात के समय उठकर अपने सम्पर्क में आये हुए रोगियों के प्रति कल्याण के विचार भेजे। इस प्रकार के विचार रोगी

मनुष्य को अपने रोग से मुक्त करने में बहुत ही सहायक होते हैं। सोते समय प्रत्येक मनुष्य का मन शान्त रहता है और जो विचार किसी व्यक्ति को इस समय भेजे जाते हैं वे उसके भीतरी मन में प्रवेश कर जाते हैं। जब मनुष्य के भीतरी विचारों में परिवर्तन हो जाता है तो उसे अज्ञात रूप से आत्म-विश्वास उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार उसके विचार सकारात्मक हो जाते हैं और उसे आरोग्य लाभ होता है।

दूसरे व्यक्ति के कल्याण की भावना का अभ्यास प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। इसके लिए किसी विशेष प्रकार की ट्रेनिंग की आवश्यकता नहीं है। इसका लाभ दूसरे व्यक्ति को होता है, पर अपने-आपको और भी अधिक होता है। जो व्यक्ति इस प्रकार के अभ्यास की मौलिकता में जितना अधिक विश्वास करता है उसे अपने-आप भी उतना ही अधिक आध्यात्मिक लाभ होता है। यदि एक भी व्यक्ति हमारे इस प्रकार के अभ्यास से लाभ उठाता है तो हमारा उसमें विश्वास बढ़ जाता है। फिर विश्वास के साथ इस अभ्यास को प्रतिदिन सोते, जागते तथा बीच रात में करते रहने से मनुष्य की दूसरों को आरोग्य प्रदान करने की शक्ति बढ़ जाती है।

यदि हम किसी मानसिक रोगी के आस-पास के विचारों का वातावरण देखें तो उसे बहुत ही दूषित पावेंगे। इस दूषित वातावरण के कारण हमारे कल्याणकारी विचारों का रोगी पर तुरन्त प्रभाव नहीं होता। मानसिक रोगी को स्वास्थ्य-प्रदान करने

के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसे अपने पुराने वातावरण से अलग रखा जाय। जब मानसिक रोगी किसी चिकित्सक के पास पहुँच जाता है तो एक ओर वह दूषित वातावरण से अलग हो जाता है और दूसरी ओर उसके सम्बन्धियों के आशातीत विचार उसके समीप आने लगते हैं। ये विचार रोगी को आशावान् बनाने में सहायक होते हैं।

रोगी के वातावरण में परिवर्तन की आवश्यकता

जिस व्यक्ति को मानसिक चिकित्सक पर किसी प्रकार विश्वास हो गया है, वह उससे अवश्य लाभ उठाता है। इसके प्रतिकूल जिस चिकित्सक के ऊपर मानसिक रोगी का विश्वास नहीं होता उससे रोगी को कोई विशेष लाभ नहीं होता। कोई भी मानसिक चिकित्सक चाहे किसी प्रकार की चिकित्सा-विधि में विश्वास क्यों न करे बिना रोगी की आन्तरिक सहायता के उसे लाभ नहीं पहुँचा सकता। वास्तव में जैसा कूये महाशय ने कहा है कि रोगी का आन्तरिक मन ही अपने-आपको सच्चा लाभ पहुँचाता है। हम बाहर से उसके मन को किसी विशेष ओर प्रभावित कर सकते हैं, पर रोग स्वयं रोगी के आन्तरिक प्रयत्न से ही नष्ट होता है। रोगी का प्रभावित होना भी उसकी इच्छा पर निर्भर करता है। जो व्यक्ति स्वयं प्रभावित होना नहीं चाहता उसे चिकित्सक प्रभावित नहीं कर सकता।

विश्वास का प्रभाव

चिकित्सक के ऊपर विश्वास की अवस्था में रोगी सरलता से प्रभावित हो जाता है, और उसे जैसा सुझाया जाता है उसी प्रकार उसका मन काम करने लगता है। अतएव रोगी का, चिकित्सक पर विश्वास बढ़ाने के लिए जो भी प्रयत्न किया जाय वह रोगी के लिए हितकर है। इस सिद्धान्त की सत्यता आगे चलकर कुछ प्रमाणों के द्वारा दर्शायी जायगी।

किसी भी रोगी को चिकित्सक के पास रहना लाभदायक होता है। एक ओर इससे चिकित्सक उसके विशेष रोग की पहचान कर लेता है और दूसरी ओर रोगी को उससे शुभ निर्देश सदा मिलते रहते हैं। चिकित्सक अपने शुभ विचार रोगी के पास भेजता रहता है। इन विचारों का भला प्रभाव रोगी के मन पर होता है और इससे उसकी विचारधारा विशेष ओर मुड़ जाती है और उसे आरोग्य लाभ होता है। यह कार्य अज्ञातरूप से होता है। चिकित्सक के अप्रकाशित विचार रोगी को स्वस्थ बनाने में उतने ही सहायक होते हैं जितने कि प्रकाशित विचार। इतना ही नहीं, अप्रकाशित विचारों का महत्व भी प्रकाशित विचारों से अधिक होता है। यदि चिकित्सक रोगी का कल्याण चाहता है तो धीरे-धीरे उसका रोग नष्ट हो जाता है। जितना ही निःस्वार्थभाव से चिकित्सक अपने शुभ विचार रोगी के प्रति भेजता है उसे उतना ही अधिक लाभ होता है।

निर्देश और रेचनविधि की तुलना

मानसिक तथा मनोविकारजनित शारीरिक रोगों की

चिकित्सा की दो विधियाँ हैं—रेचनविधि और निर्देश विधि।

समानता और विरोध

दोनों प्रकार की विधियों में कुछ समानता है। दोनों ही विधियों में बाहरी औषधियों की आवश्यकता नहीं रहती। दोनों विधियों की सफलता मनोवैज्ञानिक की कुशलता पर निर्भर करती है। दोनों विधियों में मनोवैज्ञानिक को सहृदय होने की आवश्यकता होती है। दोनों विधियों के द्वारा आश्चर्यजनक प्रभाव रोगी पर पड़ता है।

किन्तु इन दोनों विधियों में विरोध इतना अधिक है कि एक विधि में विश्वास करनेवाला दूसरी विधि को तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। रेचनविधि वैज्ञानिकविधि कही जाती है और निर्देशविधि का आधार विश्वास है। अतएव निर्देश विधि को वैज्ञानिक दृष्टिवाले व्यक्ति अंधविश्वास मात्र मानते हैं। निर्देश के द्वारा रोगी के मन पर चामत्कारिक प्रभाव अवश्य पड़ता है, पर मनोविश्लेषकों के अनुसार इस प्रकार के प्रभाव का अन्तिम परिणाम वांछनीय नहीं होता। उनके कथनानुसार निर्देश के द्वारा मानसिक ग्रन्थि का रेचन नहीं होता, वरन् रोग का दमन हो जाता है। यह रोग फिर पीछे निकल आता है। रेचनविधि में कारण जानने में बड़ी कुशलता दिखाई जाती है, निर्देशविधि में रोगी से उसके रोग के विषय में अधिक चर्चा करना ही ठीक नहीं समझा जाता। इस प्रकार की चर्चा से रोग और भी दृढ़ हो जाता है। रेचनविधि का प्रयोग करनेवाला

व्यक्ति दूर के व्यक्ति को प्रभावित करने अथवा सोते हुए व्यक्ति को प्रभावित करने की विचार की शक्ति में विश्वास नहीं करता। निर्देशविधि में विश्वास करनेवाला व्यक्ति इस प्रकार की शक्ति में विश्वास करता है। रेचनविधि में दान, पुण्य, उपवास आदि को स्थान नहीं, निर्देशविधि में इन्हें स्थान है।

निर्देशविधि के प्रति आक्षेप

निर्देशविधि के प्रति सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि उससे रोगी की इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है। इसके द्वारा रोग का दमन हो जाता है, पर इच्छाशक्ति के निर्बल होने के कारण पीछे रोग की भीषणता बढ़ जाना स्वाभाविक है। यह आक्षेप साधारण निर्देश की क्रिया को जानकर किया गया है। यह सत्य है कि जिस बालक को बारबार सम्मोहित किया जाता है उसकी इच्छाशक्ति कमजोर हो जाती है, पर निर्देशविधि में मनुष्य दूसरे के द्वारा सदा सम्मोहित नहीं होता। उसमें अधिक काम आत्म-निर्देश का ही है। कूये महाशय स्वयं आत्मनिर्देश और आत्म-नियंत्रण पर ही जोर देते थे। आत्मनिर्देश के द्वारा मनुष्य को मानसिक शक्ति नष्ट न होकर और भी बढ़ जाती है। आत्मनिर्देश इच्छाशक्ति को दृढ़ करता है। जब किसी व्यक्ति की इच्छाशक्ति एक बार दृढ़ हो जाती है तो वह एक ही रोग से मुक्त नहीं होता, वरन् अनेक रोगों से मुक्त हो जाता है। निर्देशविधि की मौलिकता इसमें ही है कि उससे मनुष्य में आत्म-विश्वास उत्पन्न होता है और उसे स्थायी लाभ भी होता है।

निर्देशविधि के प्रयोग के लिये विशेष प्रकार की ट्रेनिंग की आवश्यकता नहीं होती, जैसे कि रेचनविधि के लिये आवश्यकता होती है। निर्देशविधि को प्रत्येक मनुष्य अपने निर्देशविधि की आप काम में ले आ सकता है और इसके व्यापक मौलिकता द्वारा वह अपने तथा अपने मित्रों के रोगों को नष्ट कर सकता है। निर्देशविधि से मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण भी होता है। सभी मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण यदि उन्हें रेचनविधि के द्वारा चेतना की सतह पर लाकर ही किया जा सके तो यह काम जीवन भर नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के मन में अनजानी अनगिनत मानसिक ग्रन्थियाँ रहती हैं, और उन्हें खोजना और उनका एक-एक करके निराकरण करना जीवन भर का काम हो जाता है। हमारी बहुत सी मानसिक ग्रन्थियाँ अपने आप ही हमारे साधारण कामों के करने से नष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार प्रति दिन भले आत्मनिर्देश देते रहने से मनुष्य के आन्तरिक मन में अपने-आप सुधार हो जाता है। जो मनुष्य सोते और जागते अपने-आपको यह निर्देश देता है कि मैं प्रतिदिन अच्छा होते जा रहा हूँ, वह कुछ काल में अपने आपको अच्छा व्यक्ति बनाने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार न केवल उसके मानसिक अथवा शारीरिक रोग नष्ट हो जाते हैं, वरन् उसके चरित्र में भी चामत्कारिक परिवर्तन हो जाता है।

कितने ही व्यक्ति सदा अपने चरित्र की नुक्ताचीनी किया

करते हैं। वे अपने-आपको आदर्श व्यक्ति बनाना चाहते हैं, और इसके लिये सदा आत्म-निरीक्षण करते रहते हैं। वे अपने कृत्यों के लिये दुःखी होते हैं, पर वे देखते हैं कि जिन भूलों के लिये उन्होंने एक बार पश्चात्ताप किया वही भूल वे फिर बार-बार करते हैं। उनके पश्चात्ताप करने से उन्हें आत्म-नियंत्रण प्राप्त करने में कोई लाभ नहीं होता। ऐसे व्यक्ति वास्तव में अपने-आपको नकारात्मक आत्म-निर्देश देते रहते हैं, अतएव वे अपनी इच्छाशक्ति को और भी निर्बल बना लेते हैं। जब वे अपने-आपको सकारात्मक आत्म-निर्देश देने लगते हैं, अर्थात् जब वे आत्म-नियंत्रण प्राप्त करने में अपनी सफलता पर ही ध्यान रखते हैं और सोचते हैं, कि हम धीरे-धीरे चरित्र में उन्नति कर रहे हैं तो वे बहुत कुछ चरित्र में उन्नति कर डालते हैं। इस प्रकार का परिणाम आत्मनिर्देश से ही होता है।

आत्मनिर्देश की शक्ति को जानना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है। इससे हम अपनी बीमारी को नष्ट न कर सकें, तो उसे हलकी अवश्य बना सकते हैं। हम अपने रोग के बारे में जैसा सोचते हैं, रोग वैसा ही बनते जाता है। कहा जाता है कि कायर मनुष्य हजारों बार मरता है और वीर पुरुष एक बार ही मरता है। वास्तव में अपनी बीमारी की भयंकरता के बारे में सदा विचार करने के कारण कितने ही लोग उस बीमारी को भयंकर बना लेते हैं और समय के पूर्व अपनी जीवनयात्रा को पूरी कर देते हैं।

मानसिक चिकित्सा में इन दोनों विधियों का मेल होना आदर्श की बात है। यदि कोई व्यक्ति दोनों प्रकार की विधियों तथा उनके महत्व को जानता है तो वह जहाँतक उससे काम लेगा और जहाँ दूसरी विधि लाभकारी होती है वहाँ उससे काम लेने लगेगा। रोगी के रोग के कारण जानने के लिये मनोविश्लेषण विज्ञान को जानना अत्यन्त आवश्यक है। पर उसकी सफल चिकित्सा के लिये न केवल उसके मानसिक ग्रन्थियों का रेचन आवश्यक है, वरन् उसे सन्निर्देश देना भी आवश्यक है। डाक्टर होमरलेन रोगियों की मानसिक-चिकित्सा में इसलिये ही अधिक सफल होते थे कि वे एक ओर उनकी मानसिक ग्रन्थियों का रेचन करते थे और दूसरी ओर उनके प्रति सद्भाव प्रदर्शन करके उनमें सद्गुणों का संचार करते और उनमें आत्म-विश्वास उत्पन्न करते थे।

मानसिक चिकित्सा में दोनों की सहायता की आवश्यकता

निर्देशविधि के प्रयोगकर्त्ता के लिये यह आवश्यक है कि वह रोगी की कमजोरियों पर अपना ध्यान अधिक न देकर उसके सद्गुणों पर अपना ध्यान जमावे और उसे प्रेम करने के लिये कुछ कारण ढूँढ़ निकाले। जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक की दृष्टि रोगी के प्रति होती है उसी प्रकार की दृष्टि स्वयं रोगी की अपने प्रति हो जाती है। प्रत्येक मानसिक रोगी अपने-आपको घृणा करता है। उसके आन्तरिक मन में अपने प्रति हीनता की मानसिक भावना रहती है। इस भावना को स्वयं रोगी नहीं

बदल सकता, क्योंकि न तो वह इस भावना को जानता है और न प्रयत्न करने पर उसे इसका पता चलता है। वास्तव में वह ऊपर से दूसरे प्रकार का ही व्यक्ति दिखाई देता है। वह अपने-आपको भला व्यक्ति और दूसरों को नीचा समझता है। ऐसी अवस्था में उससे कोई विरला ही व्यक्ति सहानुभूति रखता है। साधारणतः सभी लोग उससे घृणा करने लगते हैं। इस प्रकार वे उसके मानसिक रोग को और भी जटिल बना देते हैं। उसके रोग को नष्ट करने के लिये उसके साथ प्रेम करना आवश्यक है, पर कोई भी व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को तब तक प्यार नहीं कर सकता जबतक वह उसमें वास्तविक भलाई नहीं देखता। सच्चा मानसिक चिकित्सक प्रत्येक व्यक्ति में परमात्मा की उपस्थिति देखता है, अतएव किसी भी व्यक्ति की बुराइयाँ उसकी आँख से उसकी भलाइयों को ओझल नहीं करतीं। वह रोगी को उसकी भलाइयाँ खोजकर दर्शाता है और इस प्रकार उसमें आत्मविश्वास की वृद्धि करता है। आत्मविश्वास ही शुभ आत्म-निर्देश का आधार है। निर्देशनविधि की महत्ता माननेवाला व्यक्ति रोगी के विषय में शुभ चिन्तन करके उसे वास्तव में भला व्यक्ति बना देता है। इस प्रकार वह उसे न केवल स्वस्थ बनाता है वरन् एक सुयोग्य व्यक्तिके रूप में परिणत कर देता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि मानसिक चिकित्सक को दोनों विधियों को जानना चाहिये और समय पर दोनों से काम लेना चाहिये।

मानसिक रोगों की प्रेम-चिकित्सा

किसी प्रकार मानसिक अथवा मनोविकारजनित शारीरिक रोग का प्रभाव घृणा से बढ़ता और प्रेम से नष्ट होता है। रोगी दूसरे लोगों से और अपने आपसे घृणा करता है। जब दूसरों को नुकसान पहुँचाने वाली भावना अपने आप पर आरोपित हो जाती है तो वह रोग के रूप में प्रकाशित होती है। मानसिक रोग, मानसिक विकार को बाहर निकालने का प्राकृतिक उपाय है। जिस प्रकार शारीरिक रोग शारीरिक विकार को बाहर फेंकने का प्राकृतिक उपाय है। आत्मा स्वयं किसी बुराई को अपने आप नहीं ठहरने देता, बुराई रोग के रूप में बाहर आती है। जबतक मनुष्य का मन शुद्ध नहीं हो जाता तब तक रोग रहता है। इस प्रकार रोग का उत्पन्न होना, रोगी के लिये आध्यात्मिक स्वास्थ्य प्राप्त करने का उपाय है। इस नैसर्गिक चिकित्सा के कार्य में हम सहायता पहुँचा सकते हैं अथवा उसमें बाधा डाल सकते हैं। रोगी से घृणा करने से उसमें घृणा की प्रवृत्ति की वृद्धि होती है और उससे प्रेम करने से उसमें प्रेम के प्रभाव की वृद्धि होती है। रोगी का मन पहले ही निर्बल रहता है अतएव यदि हम उससे घृणा करें तो उसका रोग और भी बढ़ जाता है। इसके प्रतिकूल यदि हम उससे प्रेम करें तो उसका रोग कम हो जाता अथवा नष्ट हो जाता है।

घृणा और प्रेम का प्रभाव

मनुष्य के भले अथवा बुरे मानसिक भाव संक्रामक होते हैं। जैसे प्रबल भाव एक व्यक्ति के होते हैं, वैसे ही उसके आस पास रहने वाले व्यक्तियों के भाव हो जाते हैं। किसी व्यक्ति के घृणा के भाव आस पास के लोगों में उन्हीं भावों की उत्पत्ति करते हैं और प्रेम के भाव प्रेम उत्पन्न करते हैं। स्वयं रोगी का मन निर्बल होता है, अतएव उसमें बुरे विचारों से प्रभावित होने की जितनी प्रवृत्ति होती है, भले विचारों से प्रभावित होने की उतनी प्रवृत्ति नहीं होती। पर प्रबल प्रेम अथवा आशा के विचार रोगी के विचार-धारा को भी बदल देते हैं और वह मानसिक चिकित्सक के सद्विचारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

संक्रामक भाव

मानसिक रोगियों के प्रति साधारणतः कठोरता का व्यवहार किया जाता है। इससे उनका रोग और भी जटिल हो जाता है। कठोर व्यवहार के कारण मानसिक रोगी की घृणा की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। प्रत्येक मानसिक रोगी अपने आपसे घृणा करता है। जब उसके प्रति कठोरता का व्यवहार होता है तो वह अपने आपसे और भी निराश हो जाता है। वह जीना भी नहीं चाहता। ऐसी अवस्था में उसके रोग का बढ़ जाना स्वाभाविक ही है। इस प्रसंग में लेखक के मित्र डाक्टर महादेव प्रसाद एम० डी० (गुरुकुल, कांगड़ी, हरिद्वार) के मानसिक रोग की चिकित्सा के निम्नलिखित अनुभव उल्लेखनीय हैं—

कठोर व्यवहार का प्रभाव

डाक्टर महादेव प्रसाद ने अहमदाबाद में अपना अस्पताल खोला था। इसमें एक ऐसा रोगी लाया गया जो अपने-आपको निस्तत्त्व हुआ मानने लगा था। वह बार-बार कहा करता था "मैं पोला हो गया हूँ, मैं अब कुछ नहीं कर सकता"। वह अपने हाथ से भोजन भी नहीं करता था। वह जहाँ बैठ जाता वहीं बैठा रहता था। वह सदा यही सोचा करता था कि वह कुछ भी नहीं कर सकता। वह शरीर से पूर्ण स्वस्थ था, पर उसको विश्वास हो गया था कि वह बिलकुल निकम्मा हो गया है। सभी मिलने वाले लोगों से वह कहता था "मैं पोला हूँ"।

यह व्यक्ति पहले एक फैक्टरी का कर्मचारी था। उसके मन में एक दिन यकायक उक्त धारणा उत्पन्न हो गई। उसने फैक्टरी के अधिकारियों से छुट्टी ले ली और "मैं पोला हो गया हूँ" इसी विचार की रट लगाने लगा।

डाक्टर साहब ने इस रोगी के साथ पहले बड़ी सख्ती से काम लिया। उसके लिये एक तगड़ा नौकर रखा, जिसका काम था कि एक नियमावली के अनुसार रोगी से खाने-पीने, नहाने-धोने आदि के काम करावे। पर इस प्रकार की सख्ती से उसका रोग नहीं घटा और वह अपने जीवन से परेशान हो गया। एक दिन उसने कहा "यदि मुझे बादाम का हलुआ खिलाया जाय तो मेरा बल फिर वापस आ सकता है"। ऐसा ही फिर किया गया। उसकी इच्छा के अनुसार उसे खाने-पीने को दिया गया। कुछ काल के बाद इस रोगी का रोग जाता रहा।

डाक्टर साहब बड़े सदहृय व्यक्ति हैं। अतएव उन्हें उक्त रोगी के उपचार में अनायास सफलता मिल गई। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उक्त रोगी का पोला हो जाने का भाव शारीरिक पोलेपन का प्रतीक नहीं, वरन् आध्यात्मिक अथवा नैतिक पोलेपन का प्रतीक था। उक्त रोगी ने कोई ऐसा काम अवश्य किया था जिससे उसे आत्मग्लानि उत्पन्न हो गई थी और वह अपने-आपको आध्यात्मिक दृष्टि से पोला अथवा निस्तत्व मानने लगा था। उसका मन आत्मग्लानि से भरा था और वह अपने आपसे घृणा करने लगा था। जबतक उसे घृणा का ही वातावरण मिलता रहा और उसके साथ कठोरता का व्यवहार होता रहा तबतक उसका रोग नष्ट नहीं हुआ। जब उसके साथ प्रेम का व्यवहार होने लगा तो उसके आन्तरिक मन में परिवर्तन हो गया और वह रोगी स्वस्थ हो गया। जब हम रोगी से प्रेम करते हैं तो रोगी भी हमें प्रेम करने लगता है और इस प्रेम के कारण वह अपना मानसिक स्वास्थ्य फिर से लाभ कर लेता है। उसका आध्यात्मिक पोलापन इस प्रकार नष्ट हो जाता है।

उक्त डाक्टर साहब का मानसिक रोगो का एक और अनुभव उल्लेखनीय है। एक बार इनके पास एक धार्मिक झक्क का रोगी लाया गया। यह रोगी सदा ग्रन्थों का, जो उसे याद थे, जोर जोर से पाठ करता रहता था। इसके कारण वह न अपने आप सोता और न दूसरे को सोने देता था यह रोगी पहले बड़ा विद्वान व्यक्ति था।

डाक्टर साहब ने इस रोगी के साथ कठोरता से ही व्यवहार किया। उसे अपने अस्पताल के एक कमरे में रख दिया और उसके पास एक बलवान नौकर रख दिया जो उसे पाठ करने से रोकता था। इस पर उस रोगी ने खाना पीना छोड़ दिया और उसने भूखों मर जाने की धमकी दी। पर उसे जबरजस्ती खाना खिलाया जाने लगा। वह इस प्रकार की रोक से परेशान हो गया। एक दिन उसने अपने रहने के कमरे को भीतर से बंद कर लिया और डाक्टर साहब से कह दिया कि वह अब उसमें भूखों रह कर मर जायगा। हजारों प्रकार की विनीत करने पर भी उसने दरवाजा न खोला। डाक्टर साहब को डर हो गया कि कहीं वह भूख प्यास से सचमुच आत्मघात न कर डाले। पीछे दरवाजा तोड़ा जाने लगा। वह रोगी दरवाजे से अपनी पीठ लगा कर खड़ा हो गया और कहने लगा कि यदि तुम दरवाजा तोड़ोगे तो मुझे पीठ में घाव हो जावेगा और इससे मैं मर जाऊँगा। फिर तो परेशान होकर उसके घर के लोगों को बुलाया गया और उनसे कहा गया कि उक्त रोगी को अपने घर वापस ले जावें। जब यह निश्चित हो गया कि वह घर चला जायगा तो उसने दरवाजा खोल दिया। घर के लोग उसे घर ले जाने को तैयार न थे। वे उसे वहीं छोड़ कर घर चले गये।

अब और सावधानी से इस रोगी से बर्ताव किया जाने लगा। किवाड़ों की सिटकनी तथा जंजीरें हटा दी गईं। इसी

बीच डाक्टर साहब को एक सूझ आई। उन्होंने उक्त रोगी से कहा कि वह अपने धर्म पुस्तकों से कुछ पाठ उन्हें पढ़कर सुनावें। इसके लिये वे प्रतिदिन दो घंटे देने लगे। पीछे उससे कहा गया कि वह कंठस्थ पाठ को लिखे तो डाक्टर साहब का और दूसरे लोगों का भारी कल्याण होगा। इस कार्य को उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया और अब उसका अधिक समय इसी काम में व्यतीत होने लगा। इसके बाद उससे अपने विचारों पर लेख लिखाये जाने लगे और फिर उसको आफिस से प्रूफ मँगवाकर उससे पढ़वाया जाने लगा। धीरे धीरे वह इस प्रकार पूर्ण स्वस्थ हो गया।

वास्तव में उसे लाभ पहुँचाने वाली वस्तु यहाँ डाक्टर साहब का उसके प्रति प्रेम ही था। धार्मिक झक के लोगों के भीतरी मन में धर्म की बातों के प्रति अश्रद्धा का भाव रहता है। जिस प्रकार धर्माडम्बर धर्म के अभाव का सूचक है, उसी प्रकार विक्षिप्त व्यक्ति का धर्म के प्रति लगाव उसके प्रति घृणा का सूचक है। धर्म के प्रचारकों में जितनी आन्तरिक अशान्ति पाई जाती है उतनी साधारण जन समुदाय में नहीं पाई जाती। आन्तरिक शान्ति मैत्री भावना के अभ्यास से अर्थात् प्रेम की वृद्धि से आती है। धर्म के प्रचारकों में इस अभ्यास की कमी पाई जाती है। जब मनुष्य दूसरे व्यक्ति की आलोचना न करके उसको नैतिक शिक्षा देने का भाव छोड़ देता है और उसे प्रसन्न करने मात्र की

चेष्टा करने लगता है तो उसमें आन्तरिक शान्ति आ जाती है। प्रेम में ही जीवन है, प्रेम में ही आरोग्य है।

पागलों पर उपदेश का प्रभाव

किसी भी पागल को शिक्षा देने का प्रयत्न करना एक भारी मनोवैज्ञानिक भूल है। पागल अपनी बात पर हठ करता है। उसके मन पर अधिकार जमाने के लिये यह आवश्यक है कि हम ही उसकी बात पहले मान लें। विक्षिप्त व्यक्ति को प्रभावित करने के लिये उपदेश से काम न लेकर निर्देश से काम लेना चाहिये। प्रत्येक प्रकार का हठ पागलपन है। पागल मनुष्य में हठ का भाव बढ़ा हुआ रहता है। उसकी हठ के प्रति सहानुभूति दर्शाकर ही हम उसे लाभ पहुँचा सकते हैं। रोगी के हठ को मानना उसकी एक प्रकार की प्रेम-चिकित्सा करना है।

सातवाँ प्रकरण

प्राकृतिक और मानसिक चिकित्सा

दोनों के दृष्टिकोण की समानता

प्राकृतिक और मानसिक चिकित्सा में बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। प्राकृतिक चिकित्सक विश्वास करता है कि प्रकृति स्वयं ही रोग को अपने आप शरीर से बाहर निकालती रहती है। किसी प्रकार का व्यतिक्रम करने से रोग की उपास्थिति होती है। अर्थात् जीवन में अप्राकृतिकता आ जाने से शरीर में रोग उत्पन्न हो जाता है। यह रोग फिर किसी न किसी प्रकार शरीर से बाहर निकलता है। सभी रोगों का मूल कारण एक ही होता है। वास्तव में एक ही प्रकार का रोग अनेक रूप धारण करके बाहर निकलता है। रोग प्रतिकार के रूप में प्रगट होता है और यह पहले की विषम अवस्था का अन्त कर देता है। रोग मनुष्य के शरीर में इसलिये होता है कि उसकी रोगी के लिये आवश्यकता है। रोग स्वास्थ्य लाभ करने का एक उपाय है। रोग के द्वारा जब मनुष्य का शारीरिक विकार बाहर निकल जाता है तो मनुष्य स्वस्थ हो जाता है।

रोग होने का प्राकृतिक कारण

बाहर हम जिस रोग को देखते हैं वह रोग का लक्षण मात्र है। मान लीजिये, किसी व्यक्ति को जुखाम हो गया अथवा फोड़ा निकल आया तो हम इन रोगों को ही रोग मान बैठते हैं। यह रोग प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि से रोग नहीं वरन् रोग के लक्षण मात्र है। इन लक्षणों से शरीर की विकृत अवस्था का पता चलता है। इसे जानकर मनुष्य को सतर्क हो जाना चाहिये और अपने स्वास्थ को ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिये। हमारे साधारण डाक्टर इन लक्षणों का उपचार करने की चेष्टा करते हैं। वे लक्षणों को ही रोग समझ बैठते हैं और उन्हे दबाने की चेष्टा करते हैं। अनेक प्रकार की दवाइयों द्वारा रोग के लक्षणों को ही डाक्टर लोग दबा देते हैं। इसके परिणामस्वरूप, रोग मनुष्य की दृष्टि से ओझल हो जाता है। डाक्टर अपनी फीस लेकर घर चला जाता है और रोगी भी उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करता है।

वास्तविक रोग और रोग का लक्षण

पर, लक्षणों को दबाना रोग की चिकित्सा नहीं है। दबा हुआ रोग रूपान्तरित होकर दूसरे किसी रोग के रूप में प्रगट होता है। फिर रोगी डाक्टर को बुलाकर इसकी चिकित्सा कराता है। इस प्रकार जैसे २ चिकित्सा होती जाती है नये २ रोग उत्पन्न होते जाते हैं। अतएव प्राकृतिक चिकित्सक का कथन है कि जिस प्रकार वकील लोग मुकद्मों की वृद्धि करते हैं, डाक्टर लोग बीमारियों की वृद्धि करते हैं। जब कोई बालक बार बार अप-

राध करता है और अपराध के लिये निश्चित दंड से बच जाता है तो उसकी अपराध करने की मनोवृत्ति और भी प्रबल हो जाती है। ऐसी अवस्था में उसे बारबार दंडित होने की अवस्था में आना पड़ता है और यदि वह अपने आप को सभी समय बचा लेने में समर्थ हो तो उसे किसी न किसी समय भारी दंड भोगना पड़ता है। इसी प्रकार जो रोगी अपने अतिक्रम के लिये रोग की पीड़ा रूपी दण्ड को नहीं भोगता और दवाइयों के द्वारा उससे बच जाता है, उसे भारी रोग उत्पन्न हो जाता है। जब किसी मनुष्य के छोटे-छोटे रोग दबा दिये जाते हैं तो उसे राजरोग उत्पन्न हो जाते हैं। जुखाम और अतिसार को दवा देनेपर फोड़े फुनसी उठ आते हैं। फोड़े फुनसो के दवा देने से एक्झिमा का रोग उत्पन्न हो जाता है। एक्झिमा के दवा देने पर क्षय रोग, दमा आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

जिस प्रकार प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार वाह्य शारीरिक रोग आन्तरिक रोग का लक्षणमात्र है, उसी प्रकार मानसिक चिकित्सक के अनुसार वाह्य मानसिक रोग आन्तरिक रोग का लक्षणमात्र है। वाह्यरोग को हमें अपना शत्रु न समझकर उसे अपना मित्र मानना चाहिये। वाह्यरोग पहले तो हमें अपनी भीतर की बिगड़ी हुई अवस्था के प्रति सावधान करता है और दूसरे वह मानसिक विकार को भी बाहर निकालता है। यदि हम प्रकृति के इस कार्य में सहायता दें तो हम स्थायी

प्रकृति द्वारा रोग का नाश

स्वास्थ्य लाभ कर लें। प्रकृति सदा शरीर के विष को बाहर निकालती रहती है। रोग के द्वारा शरीर का विष बाहर निकलता है। यदि कोई शारीरिक रोग का रोगी बिना घबड़ाये अपने रोग को प्राकृतिक रूप से नष्ट होने दें तो उसका रोग कुछ काल के बाद स्वतः ही नष्ट हो जायगा। पर इसके लिये यह आवश्यक है कि रोगी अपने जीवन को प्राकृतिक बना लेवे। किसी भी रोग की तीन अवस्थायें होती हैं— पहली अवस्था में रोग बढ़ता है, दूसरी अवस्था में वह अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर स्थिर होता है और तीसरी अवस्था में वह शान्त होता है। जो औषधि रोग की तीसरी अवस्था में रोगी को दी जाती है वह बड़ी ही लाभकारी होती है।

जैसे शारीरिक रोग की तीन अवस्थायें होती हैं, उसी प्रकार मानसिक रोग की भी तीन अवस्थायें होती हैं। पहली अवस्था में रोग धीरे-धीरे बढ़ता है, दूसरी अवस्था में वह अपनी चरम सीमा तक पहुँचकर स्थिर हो जाता है और तीसरी अवस्था में वह अपने-आप ही कम होने लगता है। जो व्यक्ति रोग की पहली दो अवस्थाओं से पार हो जाता है वह अपने आप ही रोग से मुक्त हो जाता है। कितने ही मानसिक रोगों से पीड़ित व्यक्ति जब पहली दो अवस्थाओं में सावधानी से रखे जाते हैं तो तीसरी अवस्था में अपने-आप ही अच्छे हो जाते हैं। साधारणतः रोगी के रोग को चिकित्सक लोग ही बिगाड़ देते हैं।

जब रोगी को किसी प्रकार का रोग पकड़ लेता है तो उसे

अपने रोग से मुक्त हो जाने में विश्वास नहीं होता। ऐसी अवस्था में रोग का उपचार रोगी को लाभ नहीं पहुँचता। प्राकृतिक चिकित्सा के द्वारा मनुष्य के भीतरी विचारों में परिवर्तन हो जाता है। विचारों का परिवर्तन शारीरिक परिवर्तन भी उत्पन्न कर देता है। प्राकृतिक चिकित्सा का कार्य धीरे-धीरे होता है, मानसिक परिवर्तन भी धीरे-धीरे होता है। मानसिक चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार मनुष्य का स्वास्थ्य उसके आन्तरिक मन के ऊपर निर्भर करता है। इस मन का परिवर्तन बहुत ही धीरे-धीरे होता है। अतएव मनुष्य का स्वास्थ्य लाभ भी धीरे धीरे ही होता है। प्राकृतिक चिकित्सा में स्वास्थ्य लाभ ऊपरी दृष्टि से, प्राकृतिक वस्तुओं के सेवन से होता है, पर आन्तरिक दृष्टि से आन्तरिक मन के परिवर्तन से होता है। प्राकृतिक पदार्थों के सहयोग से अथवा उनके सेवन से मनुष्य के मन की जटिलतायें निकल जाती हैं, इससे मनुष्य स्वस्थ भी हो जाता है।

प्राकृतिक चिकित्सा कभी-कभी लाभदायक सिद्ध नहीं होती। इसका अधिकतर कारण रोगी के मन का किसी दूसरी बातों में फंसा रहना ही होता है। मनुष्य अपनी कितनी ही प्राकृतिक चिकित्सा क्यों न करे यदि वह अपने मन को सदा चिन्ताओं में फँसाये रहता है, तो उसका रोग कदापि नहीं जायगा। कितने ही लोग अपनी जल चिकित्सा करते समय अनेक प्रकार की पुस्तकें पढ़ते रहते हैं। इस प्रकार चिकित्सा करने से उन्हें कदाचित ही लाभ होता हो।

उपचार की समानता

प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार नदी के किनारे हरी घास पर चलना, हरे वृक्षों को देखना स्वास्थ्य के लिये बड़ा ही लाभदायक सिद्ध होता है। इससे नेत्र रोग, दमा, क्षय, गठिया आदि बीमारियाँ नष्ट हो जाती हैं। यदि किसी व्यक्ति को ये बीमारियाँ न हों तो उसके अंग और भी बलवान हो जाते हैं। मानसिक चिकित्सा के अनुसार भी यह सिद्धान्त सत्य है। मनुष्य का मन जिस प्रकार की वस्तु को देखता है वह उसीके अनुरूप हो जाता है। और जैसा मनुष्य का मन होता है उसका स्वास्थ्य भी उसी प्रकार का होता है। निर्जीव, सड़े, गंदे कुरूप पदार्थों को देखने और उनके बारे में सोचने से मन तद्रूप हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप रोगों की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत सुन्दर, सजीव, हरे-भरे, चलते-फिरते पदार्थों को देखने से तथा उनके विषय में चिन्तन करने से मनुष्य का मन स्वस्थ, शान्त, उत्साहपूर्ण होता है और इससे मनुष्य के अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग शान्त होते हैं। बहते हुए निर्मल जल का मनुष्य के स्वास्थ्य पर बड़ा ही सुन्दर प्रभाव पड़ता है। यदि मनुष्य ध्यान से ऐसे जल को देखे तो उसके अनेक प्रकार के रोग अपने-आप नष्ट हो जावें।

जब कोई पदार्थ अपने स्वभाव के अनुरूप काम करता है, तो वह अपने-आपमें रहता है, यह उसकी स्वास्थ्य की स्थिति है,

जब वह अपने स्वभाव के अनुसार काम नहीं करता, तो वह अपने स्वास्थ्य को खो देता है। मनुष्य के मन का स्वभाव पानी की धारा के समान सदा बहते रहना है। जब तक मन सदा नया काम करते रहता है तब तक वह स्वस्थ रहता है; जब वह किसी एक बात पर फँस जाता है तो मानसिक अस्वास्थ्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। किसी मानसिक झंझट में फँसा हुआ मन जब बहते हुए जल को देखता है तो उसे अपने स्वरूप का स्मरण हो जाता है; अज्ञातरूप से उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। उसका मन फिर प्रवाहित होने लगता है। जो शक्ति एक जगह पर अवरुद्ध होने के कारण हानि उत्पन्न करती थी वही अब स्वतंत्र होकर लोकोपकार करने लगती है।

जिस प्रकार बहते हुए जल का देखना, उसका स्पर्श करना, उसमें स्नान करना, मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार के रोगों को नष्ट करता है, इसी प्रकार खेलते हुए बालकों को देखना, फुदकते चहचहाते पक्षियों को देखना और उनकी बोली सुनना, हरे पौधों और वृक्षों को हिलते-डुलते देखना मनुष्य के स्वास्थ्य में चमत्कारिक परिवर्तन कर देते हैं। जो मनुष्य अपना जीवन प्राकृतिक दृश्यों में बिताते हैं वे दीर्घ आयु होते हैं। पर सभी समय मनुष्य प्राकृतिक दृश्यों में नहीं रह सकता। जब प्राकृतिक दृश्य किसी व्यक्ति के पास न हो तो उसे अपनी स्मृति की सहायता से प्राकृतिक दृश्य की कल्पना करनी चाहिये। प्राकृतिक दृश्य की कल्पना का स्मरण करना भी स्वास्थ्यवर्धक होता है। प्राकृतिक

चिकित्सक इस बात से कदाचित सहमत न हों, पर प्रयोग के द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है। मनुष्य का भौतिक वातावरण जितना उसके स्वास्थ्य को प्रभावित करता है, उससे कहीं अधिक उसका मानसिक वातावरण, अर्थात् उसकी स्मृति और कल्पनायें, उसकी इच्छायें और आशायें, उसके स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। बार-बार चिन्तन किया गया विचार आत्मनिर्देश का रूप धारण कर लेता है और प्रबल आत्मनिर्देश न केवल मनुष्य के आचरण में परिवर्तन कर देता है, वरन् उसके शरीर में भी चमत्कारपूर्ण परिवर्तन कर देता है।

प्राकृतिक चिकित्सा प्रत्येक प्रकार के रोग को शत्रु के रूप में नहीं वरन् मित्र के रूप में देखने का आदेश करती है। मानसिक उपचारविधि का भी यही आदेश है। वास्तव में अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन होने से ही मनुष्य को लाभ होता है। जो मनुष्य अपने रोग के प्रति जैसे विचार रखता है, उसका रोग उसी रूप में उसे हानिकारक अथवा लाभदायक सिद्ध होता है। जब तक मनुष्य के विचार निराशावादी होते हैं तबतक सभी प्रकार की घटनायें उसके दुःख को बढ़ाती हैं। जब मनुष्य के विचार आशावादी हो जाते हैं तो दुःखद घटनायें भी उसका कल्याण करनेवाली सिद्ध होती है। विचारों की धारा बदल जाने में मनुष्य का भाग्य, उसका स्वास्थ्य और सभी बातें बदल जाती हैं। जिस मनुष्य के विचार आत्मनियंत्रण में है, जो व्यक्ति दूसरों के प्रति तथा अपने प्रति सदा मैत्रीभावना का अभ्यास

करते रहता है, वह न निराशावादी होता है और न उसे जटिल मानसिक अथवा शारीरिक रोग सताते हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा साधन, मानसिक परिवर्तन साध्य

लेखक को कुछ ऐसे विद्वान मानसिक रोगियों से बात-चीत करने का अवसर मिला जो अपने विचारों को बदलना ही नहीं चाहते थे। उनका कथन था कि विचार मनुष्य के नियंत्रण की वस्तु नहीं है; विचार वातावरण के ऊपर निर्भर करते हैं। मनुष्य का जैसा वातावरण होता है उसके विचार भी वैसे ही हो जाते हैं। वे जिन मानसिक रोगों से पीड़ित थे उनके लिये वे किसी व्यक्ति को दोष दिया करते थे। एक व्यक्ति अपने पिता को दोष देता था, दूसरा अपने बड़े भाई को दोष देता था। कभी-कभी मनुष्य अपने रोग के लिये अपनी गरीबी अथवा रोजगार अथवा भाग्य को ही दोष देता है। अपने रोगों के लिये किसी दूसरे व्यक्ति, पदार्थ अथवा बाह्य वातावरण को दोषी ठहराना आरोपण की मनोवृत्ति का एक परिणाम है। अपने दुःख के लिये मनुष्य अपने-आपको दोषी न ठहराकर किसी बाहरी पदार्थ को दोषी ठहराता है और इस प्रकार मिथ्या आत्म-संतोष प्राप्त करने की चेष्टा करता है। जब मनुष्य का भीतरी मन किसी रोग को छोड़ना नहीं चाहता तो वह उसे न छोड़ने के अनेक प्रकार के बहाने बनाता है। इन बहानों में अपनी असमर्थता भी प्रगट करता है। मानसिक चिकित्सक का कार्य यह है कि वह रोगी को अपने सामर्थ का

ज्ञान करा दे। मनुष्य जो कुछ भीतरी मन से चाहता है वह उसे करने में अवश्य समर्थ होता है। अपने-आपमें परिवर्तन मनुष्य स्वयं करता है। प्राकृतिक चिकित्सा अपने-आपमें परिवर्तन करने का साधनमात्र है। प्राकृतिक चिकित्सा होते हुए भी यदि रोगी का भीतरी मन रोग से मुक्त नहीं होना चाहता तो रोगी रोग से मुक्त नहीं हो सकता।

प्राकृतिक चिकित्सा और आन्तरिक मन का परिवर्तन

मनुष्य के बाहरी मन में परिवर्तन बड़ी शीघ्रता से हो जाता है, किन्तु उसके भीतरी मन में परिवर्तन बड़े धीरे-धीरे होता है। इसके कारण मनुष्य को विश्वास नहीं होता कि वह अपने-आपमें परिवर्तन कर सकेगा अथवा नहीं। जब किसी प्रकार के विचार का परिणाम मनुष्य तुरन्त नहीं देखता तो वह अपना आत्म-विश्वास छोड़ देता है और अनेक प्रकार के सन्देह मन में लाने लगता है। इन सन्देहों का बड़ा बुरा परिणाम उसके स्वास्थ्य पर पड़ता है। सन्देह नरात्मक विचार है। इससे मनुष्य की मानसिक शक्ति का विनाश होता है। कई दिनों के रचनात्मक विचार का कार्य क्षण भर के सन्देह से नष्ट हो जाता है। जब आशामय विचार भीतरी मन में चला जाता है, तो वह भावी घटनाओं के लिये बीज का कार्य करता है। बीज वृक्ष का रूप एकाएक धारण नहीं कर लेता। उसके लिए समय की आवश्यकता होती है। प्रतिदिन के आशामय विचार पानी का काम करते हैं। जिन इच्छाओं के विषय

में मनुष्य सन्देह नहीं करता वे सभी फलित होती हैं। पर इच्छा के विचार के उठने और उसके फलित होने में समय अवश्य लगता है। जो व्यक्ति फल की प्रतीक्षा करता है और फल मिलने में संदेह नहीं करता, उसे फल अवश्य मिलता है।

संन्देह की मनोवृत्ति को नष्ट करने के लिये मनुष्य को स्वार्थ परायणता का त्याग करना पड़ता है। जो व्यक्ति अपने परिश्रम का पुरस्कार पाने के लिये जितना ही उद्विग्न मन रहता है वह उस पुरस्कार को उतना ही अधिक खो देता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने रोगों से मुक्त होने के लिये जितना ही उद्विग्न मन रहता है उसे रोग उतना अधिक जकड़े रहता हैं। सब स्थायी काम धीरे-धीरे होते हैं। यह प्राकृतिक नियम है और यही नियम मानसिक व्यापारों का भी है। किसी काम में जल्दीबाजी करना सन्देह की मनोवृत्ति का परिचायक है। यह आत्म-विश्वास का अभाव दर्शाता है। आत्म-विश्वास के अभाव में तथा सन्देह की मनोवृत्ति की उपस्थिति में मनुष्य किसी शुभ फल को कैसे प्राप्त कर सकता है।

प्राकृतिक चिकित्सा मानसिक चिकित्सा की सहकारिणी है। प्राकृतिक चिकित्सा में आहार और व्यवहार पर विशेष ध्यान रखा जाता है। यदि आहार का व्यापक अर्थ लिया जाय तो जो भी ज्ञान हमें अपनी इन्द्रियों के द्वारा होता है, और जो विचार मन में आते हैं वे सब आहार ही

प्राकृतिक तथा मानसिक चिकित्सा में आहार

हैं। इनके शुद्ध होने से मनुष्य का स्वत्व शुद्ध होता है और सत्व शुद्ध होने से मनुष्य के सभी प्रकार के मानसिक क्षोभ अथवा विकार नष्ट हो जाते हैं। हँसते-खेलते बालकों को देखकर हमारा मन भी हँसने खेलने लगता है। छलछल करते बहते हुए झरने को देखकर हमारी प्रतिभा भी छलछल करके बहने लगती है। प्रबल नदी की धारा को देखकर मन प्रबल होता है और जिस प्रकार नदी अपने आपमें गंदगी को नहीं रहने देती उसी प्रकार हमारा मन सबल होकर किसी प्रकार की गंदगी को अपने आपमें नहीं ठहरने देता। अतएव सुन्दर नदी के प्रवाह को देखने से हमारा मन, प्रबल मलरहित और सुन्दर हो जाता है।

जिस प्रकार वाह्य दृश्यों का परिणाम मन पर पड़ता है उसी प्रकार हमारे विचार और कल्पनाओं का मन पर शुभ अथवा अशुभ परिणाम पड़ता है। जो व्यक्ति सदा दूसरों से ईर्ष्या किया करता है और उनका अशुभ चिन्तन करता है, उन्हें नीचे गिराने की चेष्टा करता है, वह अल्प आयु हो जाता है। उसे दमा, क्षय, बवासीर, एक्जिमा आदि भयानक रोग उत्पन्न हो जाते हैं और जो व्यक्ति अपने मन में सदा प्रेम के विचार लाता है और दूसरों की सेवा करने की चिन्ता किया करता है उसकी आकृति सुन्दर, उसका चेहरा खुला हुआ, मुख प्रसन्न, शान्त तथा कान्तिपूर्ण हो जाता है। उसका स्वास्थ्य वैसा ही होता है जैसा उसका मन होता है। उसमें न आत्म-भर्त्सना की भावना पाई जाती है और न किसी प्रकार की आत्महीनता। सुन्दर पुस्तकों

को पढ़ने और अपने बिचारों को तदानुरूप बनाने से मनुष्य का स्वास्थ्य सुन्दर हो जाता है। कितने ही क्षय रोग से पीड़ित व्यक्ति जब सभी प्रकार की चिकित्साओं से परेशान होकर अपने-आपको प्राकृतिक उपचार पर छोड़ देते हैं और जब वे अपने विचारों को सुधारने में लग जाते हैं तो उनका रोग नष्ट हो जाता है।

दुर्भाग्य की बात है कि बहुत से प्राकृतिक चिकित्सक रोगी के विचारों को सुधारने पर उतना ध्यान नहीं देते जितना कि बाहरी उपचारों पर ध्यान देते हैं। बाहरी उपचारों से लाभ अवश्य होता है, पर यह लाभ तो उतना जल्दी नहीं होता जितना कि विचारों के सुधारने से होता है और वह उतना स्थायी भी नहीं होता है। प्राकृतिक चिकित्सा से मनुष्य की आयु नहीं बढ़ती पर विचारों के सुधार से मनुष्य की आयु बढ़ती है। जो मनुष्य दूसरों की सेवा के लिये जीता है वही दीर्घायु होता है, अपने लिये जीने वाला व्यक्ति अल्पायु होता है। प्राकृतिक चिकित्सा से अच्छे हो जाने वाले कितने ही रोगी पीछे किसी साधारण घटना से मर जाते हैं अथवा अपना जीवन इतना दुखी बना लेते हैं कि वे उसे भाररूप ढोते हैं। लेखक के एक मित्र द्वारा प्राकृतिक चिकित्सा किया गया एक व्यक्ति घातक क्षय रोग से तो मुक्त हो गया। किन्तु वह दो-चार वर्ष बाद ही किसी आकस्मिक घटना से मर गये। उन्होंने जो आयु प्रकृति से पाई उसका उन्होंने सदुपयोग नहीं किया अतएव वह उनसे छीन ली गई। किसी भी

व्यक्ति को प्रकृति भाररूप बनकर जीने नहीं देना चाहती है। जिससे जगत का कोई लाभ नहीं होता ऐसे व्यक्ति के पहले तो विचार ही निराशावादी हो जाते हैं और पीछे उसे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि रोग अभद्र विचारों के अनुगामी होते हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा में विचार

स्वास्थ्य लाभ करने में विचार का प्रमुख स्थान है। जिस तरह रोग की उत्पत्ति में विचार एक प्रमुख कारण होता है, उसी तरह स्वास्थ्य लाभ में भी विचार का बड़ा महत्त्व का कार्य होता है। प्रत्येक प्रकार की चिकित्सा में रोगी के विचारों को सुधारने की आवश्यकता होती है। वास्तव में रोग की उपस्थिति का प्रमुख प्राकृतिक हेतु मनुष्य के विचारों में सुधार करना होता है। रोग की उपस्थिति तभी होती है जब मनुष्य के विचार अनियन्त्रित हो जाते हैं। इस अनियन्त्रता के लिये मनुष्य को रोग के रूप में दंड मिलता है। इससे उसमें आत्म-नियंत्रण की शक्ति आती है। इस शक्ति के आने पर रोग का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

साधारणतः रोग उस व्यक्ति को होते हैं जो अपने शरीर के विषय में कोई ध्यान नहीं देता। उसका मन इतना अन्य सांसारिक विषयों में लगा रहता है कि उसे अपने शरीर के पोषण और व्यायाम की कोई चिन्ता ही नहीं रहती। वह जब भोजन करता है तो वह भोजन के विषय में नहीं सोचता,

मानसिक शुद्धि की अधिकता

किसी व्यापार के लेन-देन के बारे में, पढ़ाई-लिखाई के बारे में, अदालतों में पड़े हुए मुकद्दमों के बारे में अथवा किसी अन्य प्रकार के झगड़ों के बारे में सोचता रहता है। जब वह घूमने जाता है, तब वह अपने मन को इन चिन्ताओं से मुक्त नहीं कर देता। जिन खेतों में से होकर वह जाता है उनकी हरियाली, फूलों के सौन्दर्य, रंग-बिरंगे पक्षियों के दलों को देखने को उसको फुरसत नहीं रहती है। वह अपने शरीर के विषय में भी उस समय नहीं सोचता। इसका परिणाम यह होता है कि बहुत से लोगों का सवेरे का घूमना व्यर्थ सा जाता है। उससे उतना स्वास्थ्य लाभ नहीं होता जितना कि आवश्यक है।

प्रकृति का यह अटल नियम है कि जिस ओर हम अपना ध्यान नहीं देते उस ओर कुछ न कुछ गड़बड़ उत्पन्न हो जाती है।

शारीरिक अवहेलना का दुष्परिणाम

किसी एक ओर अत्यधिक ध्यान देने से हमारी मानसिकशक्ति—जिसका कि उपयोग दूसरे क्षेत्रों में हो रहा है, वहाँ से खिंच आती है। किसी क्षेत्र में शक्ति के अभाव होने पर वहाँ के प्राकृतिक काम में गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप हमें अपने व्यसन से बरबस अलग होना पड़ता है। इस तरह प्रकृति हमें अपना ध्यान उस ओर ले जाने के लिये बाध्य करती है, जिस ओर की हमने किसी प्रकार की अवहेलना की हो। शरीर की आवश्यकताओं की अवहेलना के कारण रोग की उत्पत्ति होती है और यह अवहेलना विचार के दूसरी ओर अत्यधिक फँसे

रहने के कारण होती है। शारीरिक रोग उस मानसिक विषमता को दूर करता है जो हमारे किसी बाह्य विषय में अत्यधिक लग जाने से उत्पन्न होती है। रोग समता स्थापित करने का एक प्राकृतिक उपाय है। युंग महाशय का यह कथन कि रोग अत्याधिक वहिंमुखी होने के कारण उत्पन्न होता है और उसका तुरंत का ध्येय मनुष्य को अन्तर्मुखी बनाता है, एक भारी मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक सत्य को व्यक्त करता है।

रोग की चिकित्सा जिन सामान्य विधियों से की जाती है, उसमें रोगी के विचार बदलने का अथवा विचार से काम लेने का विशेष प्रयत्न नहीं किया जाता। साधारण विचारों की चिकित्सा चिकित्सक को तो वह ज्ञान ही नहीं है कि रोग के निराकरण में विचार का प्रमुख स्थान रहता है। इतना अवश्य है कि रोगी चिकित्सक के ऊपर विश्वास करता है और इस विश्वास के फलस्वरूप उसे रोग से मुक्त होने में सहायता मिलती है। किन्तु चिकित्सक रोगी के विचारों से किसी विशेष प्रकार की सहायता लेने की चेष्टा नहीं करता। प्राकृतिक चिकित्सा-विधि इस बात में दूसरी चिकित्सा विधियों से भिन्न है। इस विधि में आरोग्य लाभ करने में रोगी के विचारों से अधिक से अधिक सहायता ली जाती है।

किन्तु यहाँ स्मरण रहे कि विरला ही प्राकृतिक चिकित्सा करनेवाला व्यक्ति इस बात को जानता है कि वह अपनी विधि में रोगी के विचारों से भारी सहायता ले रहा है। किन्तु प्राकृतिक

चिकित्सा विधि ही ऐसी है कि उसमें रोगी के विचारों की शुद्धि और उनका उपयोग अपने-आप होता है। कहीं-कहीं प्राकृतिक चिकित्सा में स्वास्थ्य लाभ करने में आत्मनिर्देश (आटोसजेशन्) को अवश्य स्थान दिया गया है। उदाहरणार्थ हैंनरी बैंजुमन महाशय ने यह आदेश दिया है कि प्रत्येक आरोग्य व्यक्ति को रात को सोते समय अपने-आपको यह सुझाकर सोना चाहिये कि मैं दिन प्रतिदिन अच्छा हो रहा हूँ; मेरी उन्नति हो रही है; सब लोग मेरा कल्याण चाहते हैं और मैं सबका कल्याण चाहता हूँ। यह मैत्री भावना का अभ्यास है जिसकी उपयोगिता बौद्ध ग्रन्थों में और पातंजलि के योगसूत्र में न सिर्फ स्वास्थ्य लाभ में दर्शायी है वरन् समस्त सांसारिक जीवन के सफल होने में दर्शायी है।

जब रोगी अपनी प्राकृतिक चिकित्सा करता है तो वह चिकित्सा की प्रत्येक क्रिया पर सोचता है। वह अपने विचारों को दूसरी ओर से खींचकर शरीर के विभिन्न

विचारों का केन्द्रीकरण अंगों पर एकाग्र करता है। जब अनेक दिन के अभ्यास के पश्चात् मनुष्य का न सिर्फ चेतन मन, वरन् उसका अव्यक्त मन भी दूसरी ओर से खींचकर शरीर को स्वस्थ बनाने में लग जाता है, तो उसका निश्चित फल आरोग्य लाभ होता है।

किसी भी प्राकृतिक चिकित्सा विधि को देखिये। इसमें प्रत्येक क्रिया को ध्यान से करने की आवश्यकता बताई जाती है। मान लीजिये कोई व्यक्ति ल्यूकोनीबाथ ले रहा है, यह एक प्रकार

की जल चिकित्सा है। इससे बहुत से असाध्य रोग नष्ट हो जाते हैं। ल्यूकोनीबाथ देते समय यदि कोई रोगी किसी बाहरी बातों का चिन्तन कर रहा है तो फिर चाहे वह कितना ही अपने अंगों को क्यों न मले, उसे विशेष लाभ कुछ न होगा। इसी तरह नेत्र चिकित्सा में आँख मिचमिचाना और उन्हें समय-समय पर, हथेलियों से बन्द करना तथा एक परात में पानी लेकर धोना उपयोगी दर्शाया गया है; किन्तु इन प्रक्रियाओं के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि हम अपने विचारों को बाहरी पदार्थों की चिन्ताओं से मुक्त करें। इन प्रक्रियाओं से भी स्वभावतः हमारे अभद्र विचारों का नियंत्रण होता है। जब हम शरीर के किसी क्रिया के विषय में सोचने लग जाते हैं अथवा अपने स्वास्थ्य-सुधार के काम में अपने मन को लगा देते हैं तो दूसरी ओर से हमारा विचार शरीर की ओर खींच आता है। इसका सहज परिणाम यह होता है कि शरीर स्वस्थ हो जाता है।

प्राकृतिक चिकित्सा गृहों में जो रोगियों की चिकित्सा होती है वह जितनी कारगर होती है उतनी सफल चिकित्सा उसी विधि से अपने घर पर करने से रोगी को नहीं होती। इसका कारण यह है कि सब प्रकार की सुविधायें होते हुए भी रोगी चिकित्सा के समय घर पर रहने से चिन्ता से मुक्त नहीं होता। वह अपने विचारों को शरीर के आरोग्य लाभ करने में केन्द्रित नहीं कर पाता। उसकी मानसिक शक्ति

प्राकृतिक चिकित्सागृह की उपयोगिता

बिखरी हुई रहती है। ऐसी अवस्था में रोगी की चाहे जैसी चिकित्सा क्यों न की जाय उसका रोग से मुक्त होना कठिन है। फिर चिकित्सा गृहों में एक स्वयं चिकित्सक से, और दूसरे अन्य रोगियों से आरोग्य के शुभनिर्देश मिलते रहते हैं। इन निर्देशों के परिणामस्वरूप उसके मन में यह विश्वास उत्पन्न हो जाता है कि वह अवश्य ही आरोग्य लाभ कर लेगा। उसका यह विश्वास उसके आरोग्य लाभ करने में सहायक होता है। घर के वातावरण में रोगी को अपने आरोग्य लाभ करने में भारी संदेह हुआ करता है। यह संदेह आरोग्य लाभ करने में बाधक होता है। यहाँ रोगी को न तो चिकित्सक के वैयक्तिक निर्देश से लाभ होता है और न आसपास के लोगों के सामूहिक निर्देश से लाभ होता है। यदि चिकित्सक रोगी के घर जाकर उसकी प्राकृतिक चिकित्सा करता है तो वह रोगी को उतना लाभ नहीं पहुँचा सकता जितना कि रोगी के उसके समीप आने से हो सकता है। चिकित्सक का रोगी के घर अपने आप जाने से उसके वैयक्तिक निर्देश का प्रभाव घट जाता है, अतएव वह रोगी की रचनात्मक मानसिक क्रिया शक्तियों को उतना क्रियमाण नहीं बनाता जितना कि रोगी के श्रद्धा के साथ चिकित्सक के पास जाने से होता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने आपसे रोगी होता है और अपने आप सुधार करने से आरोग्य लाभ करता है। किसी प्रकार की विषमता ही रोग है और समता स्वास्थ्य है। जब मनुष्य शरीर की

आवश्यकताओं की ओर उचित ध्यान नहीं देता तो वह रोगी हो जाता है। जब वह फिर से इन आवश्यकताओं की ओर उचित ध्यान देने लगता है तो उसे आरोग्य लाभ होता है। रोग की निराकरण की अवस्था में उसे शरीर की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। यह पहले की विषमता मिटाने के लिये आवश्यक है। अन्य चिकित्सा विधियों की अपेक्षा प्राकृतिक चिकित्सा विधियों में यह विषमता अधिक सफलतापूर्वक मिटाई जाती है। रोगों के विचार जान बूझकर उसे आरोग्य लाभ करने में अधिक केन्द्रित किये जाते हैं। यही कारण है कि यह विधि अन्य विधियों की अपेक्षा अधिक सफल होती है और यद्यपि इसका स्वास्थ्य प्रदान करने का कार्य धीरे-धीरे होता है, किन्तु इसका परिणाम स्थायी होता है।

शैथिलीकरण

विचारों का बन्धन और विचार-शून्यता

स्वास्थ्य लाभ के लिये विचार शून्यता अथवा विराम की आवश्यकता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक अपने मन को विचार शून्य कर सकता है वह उतना ही स्वस्थ रहता है। स्वास्थ्य आत्मस्थिति का दूसरा नाम है। आत्मस्थिति में विचार शून्यता रहती है। विचार का विषय आत्मा से इतर वस्तु होती है। किसी विषय का चिन्तन करना आत्म-विस्मरण करना है। यह अपनी आत्म-स्थिति अथवा स्वास्थ्य को

खोना है। अधिक चिन्तन से अथवा विषय लोलुपता से रोग की उत्पत्ति होती है। रोग, मनुष्य को आत्मोन्मुखता की आवश्यकता दर्शाता है।

जो मनुष्य जितना ही जटिल विचारों में अपने मन को फँसाये रखता है, उसे उतने ही जटिल रोगों के आने की सम्भावना रहती है। ऐसे मनुष्य को विचारशून्य बनाना बड़ा कठिन होता है। उसके विचारों का विषय बदलना मात्र उसे उपयोगी होता है। रोग की उपस्थिति विचार का विषय बदल देती है। रोग की उपस्थिति से ही आरोग्य की स्थिति प्राप्त होती है। रोग आरोग्य की पूर्व अवस्था है। मनुष्य का वास्तविक रोग आध्यात्मिक होता है। शारीरिक रोग इस रोग का लक्षण मात्र है। इससे वास्तविक रोग का निराकरण भी होता है। प्रत्येक रोग की दो स्थितियाँ मानी गई हैं, आविर्भाव अथवा वृद्धि की अवस्था दूसरी तिरोभाव अथवा रोग के नाश की अवस्था। प्रत्येक रोग में प्राकृतिक रूप से शान्त होने की सामग्री होती है।

रोग की प्राकृतिक चिकित्सा रोगी को रोग के विचार से मुक्त करने की है। जो चिकित्सा रोगी को जितनी दूर तक सभी प्रकार के विचारों से मुक्त करने में समर्थ होती है, वह विचारों से मुक्ति उतनी ही अधिक सफल होती है। प्राकृतिक चिकित्सा में न सिर्फ रोगी को सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त करने की चेष्टा की जाती है वरन् उसे रोग के विषय में चिन्ताओं से मुक्त करने की चेष्टा भी की जाती है। इसके साथ-

साथ रोगी को इससे यह आत्मनिर्देश भी होता है कि मैं स्वास्थ्य लाभ कर रहा हूँ। यह निर्देश भी उसे रोग की चिन्ताओं से मुक्त होने में सहायता देता है।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि स्वास्थ्य सम्बन्धी आत्मनिर्देश और स्वास्थ्य सम्बन्धी विचार अथवा चिन्तन दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं।

स्वास्थ्य का निर्देश विचार शून्यता उत्पन्न करता है। इससे मस्तिष्क को अपनी क्रियाओं से विराम मिलता है। जो शक्ति अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों में खर्च हो जाती है, वह अब स्वास्थ्य-लाभ करने में काम आती है। स्वास्थ्य के विषय में चिन्ता करने से विचार की वृद्धि होती है। उससे मस्तिष्क की क्रियायें तीव्रता से चलती हैं और जिस शक्ति की आवश्यकता स्वास्थ्य लाभ के लिये है, वह मस्तिष्क में ही खर्च हो जाती है। देखा गया है कि जिन लोगों की चिन्तन की शक्ति परिमित होती है, उनकी अपेक्षा जिनकी चिन्तन शक्ति अधिक होती है और जो गम्भीर विषयों पर विचार करते रहते हैं, अधिक स्वस्थ नहीं रहते। ऐसे लोग दुबले पतले भी होते हैं। इसी तरह जो लोग जितनी गाढ़ी नींद में सो सकते हैं वे उतने ही अधिक स्वस्थ होते हैं। योगियों का स्वास्थ्य, साधारण मनुष्यों के स्वास्थ्य से इसीलिये अधिक अच्छा होता है कि वे आवश्यकता के अनुसार अपने विचार की क्रियाओं को शिथिल कर देते हैं, इस तरह वे मस्तिष्क को आराम देते हैं। मस्तिष्क में खर्च होने वाली शक्ति

ऐसी अवस्था में दूसरी ओर प्रवाहित होने लगती है और मनुष्य के अंग प्रत्यंग इसके कारण बली बन जाते हैं।

यहाँ हमें शरीर-विज्ञान के इस सिद्धान्त को स्मरण रखना आवश्यक है कि स्वास्थ्य की रक्षा और स्वास्थ्य-सम्बन्धी सभी क्रियाओं का संचालन मनुष्य की स्वतन्त्र नाड़ी-मंडल (आटोनामिक नर्वस सिस्टम्) के द्वारा होता है और विचार सम्बन्धी अथवा ज्ञान सम्बन्धी क्रियाओं का संचालन मनुष्य की केन्द्रीय नाड़ी-मंडल (सेन्ट्रल नर्वस सिस्टम्) के होता है। स्वतन्त्र नाड़ी मंडल केन्द्रीय नाड़ी मंडल से पृथक् माना गया है। तिस पर भी वह इतना स्वतन्त्र नहीं है कि केन्द्रीय नाड़ी मंडल की क्रियाओं से बिल्कुल प्रभावित न हो। जब केन्द्रीय नाड़ी मंडल की क्रियायें बड़े वेग के साथ होती रहती हैं तो वे स्वतंत्र नाड़ी मंडल की शक्ति को अपनी ओर खींच लेती है। प्रकृति का यह अटूट नियम है कि शक्ति का प्रवाह उसी ओर होता है जिस ओर उसकी आवश्यकता होती है। जिन मनुष्यों के मन में अधिक चिन्तायें (अथवा चिन्तन) होती रहती हैं, चाहे वह कैसी चिन्तायें क्यों न हों, उनके शरीर की शक्ति का प्रवाह मस्तिष्क की ओर होता है क्योंकि वहीं उसकी अधिक आवश्यकता होती है। ऐसी अवस्था में शरीर के दूसरे अंगों में उनके स्वस्थ रहने के लिये जितनी शक्ति की आवश्यकता होती है, उन्हें नहीं मिलती। अब उनकी साधारण क्रियाओं में बाधा पड़ने लगती है। इसका

स्वतन्त्र नाड़ी-मंडल

स्वाभाविक परिणाम स्वास्थ्य का बिगड़ जाना होता है। अधिक चिन्तन करने वाले व्यक्तियों का भोजन ठीक से नहीं पचता। रुधिर का प्रवाह ठीक से नहीं होता, क्योंकि इस कार्य के लिये पर्याप्त शक्ति आमाशय, हृदय और फेफड़ों को नहीं मिलती। शरीर की वे गिल्टियाँ जो आयुवर्धक उत्पादन करती हैं, ऐसी अवस्था में अपना काम ठीक से नहीं कर पातीं। इसीसे विचार की अत्यधिक वृद्धि स्वास्थ्य विनाशक होती है। इसलिये विचार में शिथिलता उत्पन्न करना स्वास्थ्य लाभ के लिये बहुत आवश्यक है।

भोजन के समय के विचार

सभी प्रकार की प्राकृतिक चिकित्सा विधियों में भोजन करते समय और भोजन करने के कुछ देर बाद तक किसी भी गम्भीर विषय पर विचार करने से अपने-आपको रोकने का आदेश दिया गया है। भोजन करने के पूर्व हाथ पैर धोना भी आवश्यक है। इससे उस समय के चलने वाले विचारों में शिथिलता उत्पन्न हो जाती है। जो रक्त का प्रवाह मस्तिष्क की ओर होते रहता है वह उस ओर न होकर उसकी प्रतिकूल दिशाओं में होने लगता है। भोजन करने के पूर्व देवताओं को भोजन अर्पण करना भी इस दृष्टि से उपयोगी है। कई लोग पंच कवली करके भोजन करते हैं; इस तरह मनुष्य के विचार दूसरी ओर से मुक्त होकर भोजन की ओर आते हैं। उसके रूढ़िबद्ध विचारों में शिथिलता उत्पन्न होती है। भोजन करते समय भोजन पर ही

विचार करना विभिन्न पदार्थों के रसों का, बालकों जैसे स्वाद लेना, भोजन को लाभकारी बनाने के लिये आवश्यक है। भोजन करने के पश्चात् कोई हँसी मजाक की बातें भोजन को पचाने की क्रिया में लाभकारी होती है। हेनरी बेनजीमन महाशय का कथन है कि भोजन करने के पश्चात् बीस मिनट तक आदमी को भोजन के स्थान से न उठना चाहिये। भोजन करने के बाद तुरन्त ही काम में लग जाना स्वास्थ्य को शीघ्र ही नष्ट कर डालता है। सभी कामों में चिन्तन की आवश्यकता होती है, अतएव भोजन के बाद काम में न लगने का आदेश मस्तिष्क को अथवा विचारों को आराम देने का आदेश है।

योगाभ्यास में जितनी बाहरी-भीतरी क्रियायें हैं वे सभी मस्तिष्क को क्रियाहीन बनाने में सहायक होती हैं। "आसन और प्राणायाम जो स्वास्थ्य लाभ के लिये विशेष उपयोगी माने जाते हैं, शारीरिक व्यायाम मात्र नहीं हैं। ये विचार विराम के उपाय भी हैं। इनसे मस्तिष्क की क्रियायें मन्दगति की हो जाती हैं, और उनसे मुक्त शक्ति दूसरी ओर प्रवाहित होने लगती है जिससे कि स्वास्थ्य-लाभ शीघ्रता से होता है।

योग और विकार-शून्यता

यहाँ शव आसन की स्वास्थ्य लाभ में उपयोगिता विशेषकर उल्लेखनीय है। शव आसन विचार में शिथिलता उत्पन्न करने का उपाय है। मनुष्य को जो लाभ स्वास्थ्य के लिये निद्रा से

होता है वही लाभ शव आसन से भी होता है। इसी तरह से विचारशून्यता स्वास्थ्य प्राप्त करने में लाभकारी होती है।

बौद्ध लोगों की एक विशेष प्रकार प्राणायाम विधि जो स्वास्थ्य-लाभ में बड़ी उपयोगी होती है। इसे बौद्ध धर्म ग्रन्थों में आना-पान सती (प्राणापान स्मृति) कहा गया है। आनापान सती प्राण और अपान की स्मृति है। आनापान सती का अभ्यास इतना सरल है और उसका लाभ इतना अधिक है कि उसकी सरलता ही उसकी उपयोगिता के विषय में अबोध व्यक्तियों के मन में संदेह उत्पन्न कर देती है। आनापान सती का अभ्यास करते रहने से मनुष्य बिना नींद के महीनों रहकर स्वस्थ बना रह सकता है। वास्तव में लेखक के एक भिक्षु मित्र का ऐसा ही अनुभव है। आनापान-सती मन को श्वास-प्रश्वास पर स्थिर करने की विधि है अर्थात् यह मन को निर्विषय बनाने का उपाय है।

हर एक प्रकार की मानसिक चिकित्सा में मन को आराम देने का विशेष महत्व है। शरीर चाहे काम करे किन्तु मन का आराम स्वास्थ्य-लाभ के लिये अत्यन्त आवश्यक है। विश्वास भी इसीलिये स्वास्थ्यवर्धक होता है कि उससे मन की उथल-पुथल मिट जाती है, चित्त में शान्ति आ जाती है। इस शान्ति के आते ही स्वास्थ्यजनक प्राकृतिक क्रियायें बड़े वेग के साथ चलने लगती हैं और मनुष्य इस तरह शीघ्रता से स्वस्थ हो जाता है।

जो मनुष्य सदा आरोग्य की स्थिति में रहना चाहता है उसे

यह आवश्यक है कि वह प्रति दिन विचारशून्यता का अभ्यास करे। विचारशून्यता ही समाधि अवस्था का दूसरा नाम है। विचारशून्य समाधि को पातंजलि ऋषि ने निर्विकल्प समाधि कहा है। इसे बौद्ध धर्म ग्रन्थों में लोकोत्तार समाधि कहा गया है। इसकी पूर्व अवस्था सविकल्प समाधि अथवा लौकिक समाधि है। इस स्थिति में विचार का विषय एक ही पदार्थ होता है। विचार की चञ्चलता नष्ट हो जाती है।

विचारशून्यता का अभ्यास

विचार को विराम मिलता है। ऊपर जो कहा गया है उससे स्पष्ट है कि प्राकृतिक और आध्यात्मिक जीवन में विरोध नहीं है। प्राकृतिक जीवन की पूर्णता आध्यात्मिक-जीवन से होती है। प्राकृतिक चिकित्साविधि की आश्चर्यजनक सफलता का मुख्य कारण यह है कि उसमें आध्यात्मिक जीवन के नियमों का पालन किया जाता है। इतना अवश्य है कि इस प्रकार के नियमों का पालन प्रायः रोगी के और चिकित्सक के अनजाने होता है। यदि जान बूझकर प्राकृतिक चिकित्सक और इस प्रकार की चिकित्सा से लाभ उठानेवाले व्यक्ति इन नियमों का पालन करें और उनका प्रचार करें तो उनका कितना अधिक लाभ हो, यह कौन कह सकता है?

मानसिक शिथिलीकरण

प्राकृतिक चिकित्सा में शारीरिक शिथिलीकरण का महत्त्व

का स्थान है। शारीरिक शिथलीकरण की अवस्था में शरीर को निकम्मा कर दिया जाता है और मुर्दा जैसा जमीन पर शरीर को डाल दिया जाता है। किसी प्रकार के काम करने से शरीर की शक्ति खर्च होती है, जब काम का करना बन्द कर दिया जाता है तो शारीरिक शक्ति का खर्च होना भी बन्द हो जाता है। जिस प्रकार सो जाने पर शरीर को आराम मिलता है और नई शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार शिथिलीकरण से भी शरीर को आराम मिलता है और उसमें नई स्फूर्ति आ जाती है। थोड़ी ही देर तक शारीरिक शिथिलीकरण का अभ्यास करने से अधिक मात्रा में शारीरिक थकावट नष्ट हो जाती है। प्रतिदिन नियमित रूप से शिथिलीकरण करने से मनुष्य आरोग्यवान् और दीर्घायु होता है।

शारीरिक और मानसिक शिथिलीकरण का पारस्परिक अवलम्बन

शारीरिक शिथिलीकरण आलस्य से प्रेरित होकर निकम्मे हो जाने से भिन्न वस्तु है। जब मनुष्य आलस्य के कारण बिस्तर पर पड़ जाता है तो उसका शारीरिक स्वास्थ्य नहीं बढ़ता। उसमें निकम्मे रहने की ही आदत पड़ जाती है। जान बूझकर जब शरीर को शिथिल बनाया जाता है तभी मौलिक लाभ होता है। इसका अर्थ यह है कि आत्मनिर्देश के साथ-साथ शरीर को शिथिल करने पर ही वास्तविक लाभ होता है। आलसी मनुष्य का शरीर तो निकम्मा रहता है, पर उसका विचार अनेक प्रकार

की चिन्ताओं में लगा रहता है। इन चिन्ताओं के कारण उसे मानसिक आराम नहीं मिलता और जब किसी व्यक्ति को मानसिक आराम नहीं मिलता तो उसकी शारीरिक थकावट भी नहीं जाती। विचार-विराम से ही शारीरिक और मानसिक थकावट जाती है और मनुष्य में नई शक्ति का संचार होता है; अर्थात् शारीरिक शिथिलीकरण के साथ-साथ मानसिक शिथिलीकरण किसी प्रकार के रोग अथवा थकावट को नष्ट करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

मानसिक शिथिलीकरण में शरीर को शिथिल कर दिया जाता है। जमीन पर लेटकर अपने एक-एक अंग के विषय में आत्मनिर्देश दिया जाता है कि अब अमुक अंग शिथिल हो गया, अब दूसरा हो गया। इस प्रकार मस्तिष्क से लेकर पैर तक शरीर को आत्मनिर्देश के द्वारा शिथिल कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में कभी-कभी नींद भी आ जाती है। इस प्रकार से लाई गई नींद से मनुष्य के स्वास्थ्य को बड़ा लाभ पहुँचता है। पाँच मिनट की नींद से भी उतनी ही नई स्फूर्ति मिलती है जितनी कई घंटों की प्राकृतिक नींद से मिलती है। प्राकृतिक नींद में मनुष्य चिन्ता करते हुए सोता है। यह चिन्ता की क्रिया अचेतन मन को प्रभावित करती है, अतएव मनुष्य का मन विश्राम नहीं लेता और उसे नई शक्ति नहीं मिलती। कितने ही लोग सोकर उठने पर थकावट का अनुभव करते हैं। यह एक प्रकार की मानसिक बीमारी है। इसका कारण चिन्ता करते हुये सोना है।

विचार विराम होने पर ही शरीर को आराम मिलता है। विचार विराम ही मानसिक शैथिलीकरण है।

मानसिक शिथिलीकरण दो प्रकार का होता है—एक मन को विचारहीन बनाना और दूसरा मन को किसी भी प्रकार की कल्पनाओं में विचरण करनेको छुट्टी दे देना।

मानसिक शिथिलीकरण के प्रकार

मन को विचारहीन बनाने की प्रक्रिया तथा उसकी उपयोगिता पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। मन किसी आसन से बैठकर अथवा सोकर विचारहीन बनाया जा सकता है। मन को किसी एक विषय पर केन्द्रित करने से भी मन विचारहीन हो जाता है। इससे उसकी चिन्ता करने की आदत टूटती है। जब इस आदत का विनाश हो जाता है तो मनुष्य का जीवन आनन्दमय हो जाता है। चिन्ता से निवारण करने के लिये मन को किसी रचनात्मक काम में लगाने से भी मानसिक उपराम मिलता है और मानसिक शक्ति की वृद्धि होती है। इससे मानसिक रोगों का निवारण होता है। स्वास्थ्यवर्द्धक रचनात्मक काम साधारण कामों से भिन्न होता है। साधारण काम आजीविका कमाने, बाल-बच्चों के पालने अथवा अपनी कीर्ति फैलाने के लिये होते हैं। ये चिन्ताओं की वृद्धि करते हैं। रचनात्मक काम चिन्ता से मुक्त होकर किये जाते हैं। इनका हेतु स्वान्तःसुखाय होता है। ये खेल के समान मन की प्रसन्नता को बढ़ाते हैं। मनुष्य काम करने से नहीं थकता, चिन्ता से थकता है। चिन्ताजनित कार्य रोग की वृद्धि करते

हैं, आत्मस्फूर्ति से किये गये कार्य स्वास्थ्यवर्द्धक होते हैं।

मानसिक शैथिलीकरण जिस प्रकार मन को विचारहीन करने अथवा रचनात्मक काम के द्वारा होता है, इसी प्रकार अपने विचारों अथवा कल्पनाओं के प्रति साक्षी भाव रखकर उन्हें चेतना पर आने की छुट्टी दे देने से भी होता है। यह मानसिक रेचन का योगिक उपाय है। इस विधि से अपने मन के भीतर वर्तमान दुर्भावों का विनाश हो जाता है। किसी भी दुर्भाव का चेतना की सतह पर आने से उसका विनाश होता है। जिस प्रकार आधुनिक मनोविश्लेषक मानसिक रोगी की दबी हुई स्मृति अथवा भावों को चेतन की सतह पर लाकर उनके विकारों को नष्ट करने की चेष्टा करता है, इसी प्रकार योगी भी अपने मन के दबे भावों को मानसिक शैथिलीकरण के द्वारा चेतना के समक्ष लाता है। वह अपने आपसे घबड़ाता नहीं, वरन् अपने सभी प्रकार के बुरे और भले भावों को चेतना की सतह पर आने की सुविधा देता है। आत्मनिर्देश के द्वारा सभी विस्मृत विचार चेतना की सतह पर चले आते हैं।

मनुष्य को मानसिक रोग अपने अनैतिक भावनाओं अथवा आत्मग्लानिजनक घटनाओं के विस्मरण करने की चेष्टाओं के कारण होता है। इसी चेष्टा के कारण मनुष्य के व्यवहार में अनेक प्रकार की असाधारणता भी आती है। जब कोई व्यक्ति नैतिक प्रतिबन्धों को अपने विचार से अलग कर देता है तो उसकी दलित भावनायें और आत्मग्लानिजनक स्मृतियाँ उसके

स्मृतिपटल पर आ जाती हैं। इससे उनका विष नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश शारीरिक रोग के कीटाणुओं का विनाशक है, इसी तरह चेतना का प्रकाश मानसिक रोगों के कीटाणुओं का विनाशक है। इस प्रकार के अभ्यास के नित्य प्रति करते रहने से मनुष्य को साम्य अवस्था की प्राप्ति होती है।

भगवान बुद्ध का मानसिक शैथिलीकरण

भगवान बुद्ध दोनों प्रकार के मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास करते थे। "आनापान सति" पहले प्रकार के अभ्यास का अंग है और आत्मदर्शन की चेष्टा दूसरे प्रकार का अभ्यास है। अपनी दबी भावनाओं का साक्षात्कार और रेचन किस प्रकार भगवान बुद्ध ने किया, यह एक रूपक के रूप में बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित है। भगवान बुद्ध के "मारदर्शन" का यही रहस्य है। मार की सेना हमारी दबी हुई अनेक प्रकार की काम, क्रोध, लोभ आदिजनित वासनायें हैं। यह तृष्णा का परिवार है। यह हमारी चेतना के सतह के नीचे रहकर हमें तंग करते हैं। जब इन्हें योगाभ्यास के द्वारा चेतना की सतह पर लाया जाता है तो ये फिर अपना उत्पात करना बन्द कर देते हैं। हमारे शत्रु ही फिर हमारे मित्र बन जाते हैं। इनकी शक्ति रचनात्मक अर्थात् संसार के लिये कल्याणकारी काम करने में व्यय होने लगती है।

प्राकृतिक और मानसिक उपचार की समानता प्राकृतिक चिकित्सक हेरी बेन्जमन महाशय के निम्नलिखित आदेशों से स्पष्ट है।

हेरी वेन्जमन के स्वास्थ्यवर्धक आदेश

(यूअर डायर इन हेल्थ एण्ड डिजीज में से)

"चिन्ता प्रत्येक व्यक्ति के लिये स्वास्थ्य की दृष्टि से बुरी है। यह बीमारी आदमी के लिये विशेषकर हानिकारक है। बीमार मनुष्य की शारीरिक शक्ति कम रहती है और चिन्ता डायन का उसके विचार निराशाजनक होते हैं। ऐसी विनाश अवस्था में चिन्ता उसे खा जाती है अतएव चिन्ता की मनोवृत्ति का अभी से विनाश करो, इसकी आदत मत पड़ने दो। चिन्ता करने से लाभ कुछ नहीं होता पर हानि ही होती है।

चिन्ता इच्छाशक्ति को बलहीन कर देती है, वह शारीरिक बल को बहा देती है और विचारशक्ति को तितर-बितर कर देती है। पर वास्तव में चिन्ता एक भूत के अतिरिक्त है ही क्या? चिन्ता वास्तविक वस्तु नहीं है, किन्तु जब हम उसके चंगुल में फँस जाते हैं तो वह भूत के समान हमारी जान खानेवाली डायन बन जाती है। अब से चिन्ता तुमसे दूर रहे। चिन्ता हिम्मत, स्फूर्ति और आत्मविश्वास से दूर भागती है।

आत्मविश्वास चिन्ता डायन को खा जाता है अतएव पूरे मन के साथ कहो "मैं इस व्याधि से अवश्य मुक्त हो जाऊँगा। मैं मुक्त हो रहा हूँ। मैं अब चंगा हो गया।" पृष्ठ १६४।

"प्रतिदिन नीचे लिखे विचार को स्मरण कर लो और सोते

समय और जागते समय अपने मनमें दोहराओ।" सवेरे दस बजे तक प्रसन्न रहो, तुम दिन भर प्रसन्न रहोगे। जब सोने लगो तब सुन्दर सुखद विचार लेकर सोओ। तुम्हारा चरित्र और इच्छाशक्ति सुप्त अवस्था में बनते हैं। तुम्हारा सोते समय का प्रबल विचार सुप्तावस्था में काम करते रहता है और वह तुम्हारे आन्तरिक मन को प्रभावित करता है। यदि यह विचार सुखद और आशातीत है तो तुम जब जागोगे तो अपने आपको प्रसन्न-चित्त, स्फूर्तिमय और काम करने के लिये तत्पर पाओगे। सोने के पहले अपनी आँखें मूँदकर मन में चित्रित करो "मैं सुखी हूँ, मैं स्वस्थ हूँ" जैसा तुम होना चाहते हो वैसा अपने आपको सोते समय देखो। सोते समय अपने आपका उत्तम सजीव चित्र बनाओ और उसी चित्र के साथ सो जाओ।" पृष्ठ १६८।

सोते समय के विचार

"यदि हम भोजन चिन्ताग्रसित होकर तथा भयभीत होकर अथवा थककर करते हैं, अथवा जल्दी-जल्दी खाते हैं तो भोजन हमारी शारीरिक शक्ति को नहीं बढ़ावेगा। ऐसी अवस्था में पाचनक्रिया ठीक से नहीं होती और खाया हुआ भोजन लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुँचाता है। रोगी के लिये तो ऐसी अवस्था में भोजन करना और भी घातक है। भोजन को सावधानी और शान्ति के साथ करना चाहिये। प्रत्येक ग्रास को धीरे-धीरे भली प्रकार चबाना चाहिये, भोजन का रस आस्वादन

भोजन के समय सावधानी

करते हुए निगलना चाहिये। भोजनगृह में जल्दी में जाना, जल्दी-जल्दी से खाना और जल्दी में ही बाहर भागना बीमारियों का आवाहन करना है। चाहे कितना ही अच्छा शक्तिवर्धक भोजन क्यों न हो यदि वह जल्दी में अस्थिर विचारों के साथ खाया जाता है तो वह अन्त में अपच अवश्य पैदा कर देगा।

भोजन करने के पश्चात् पाचनक्रिया को प्रारम्भ होने के लिये पर्याप्त समय देना चाहिये। भोजन करते ही भागना अथवा काम में लग जाना बड़ा घातक है। इस प्रकार की आदत शरीर की पाचनक्रिया को हानि पहुँचाती है।" पृष्ठ १२०।

"भोजन के विषय में अत्यधिक विचार करना भी स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होता है। भोजन को एक गणित की समस्या नहीं बना लेना चाहिये नहीं तो जो हम भोजन सुधार से भलाई की आशा करते हैं, उसके बदले स्वास्थ्य को हानि ही होती है। स्वस्थ मनुष्य सभी प्रकार के भोजन से लाभ की आशा रखता है।" पृष्ठ १३२

स्वास्थ्यवर्धन के प्राकृतिक साधन निम्नलिखित हैं—

(१) नियमित समय पर भोजन—भोजन के बीच में पाँच घंटे की देर अवश्य होनी चाहिये।

(२) भोजन के समय मानसिक शान्ति और स्थिरता का रखना।

(३) भोजन के प्रति उचित दृष्टिकोण रखना। किसी प्रकार की झक से न बंध जाना।

(४) महीने में एक बार चौबीस घंटे का उपवास रखना।

(५) नियमित रूप से दिन में तीन चार मील चलना।

(६) गहरे और बहते हुए जल में स्नान करना।

(७) भोजन में फल और दूध अवश्य लेना।

(८) शौच बंधे समय पर जाना।

(९) घर के बाहर काम करना। स्वच्छ वायु और सूर्य के प्रकाश में रहने की आदत डालना।

(१०) प्रतिदिन प्राणायाम करना।

युक्त नियम प्राकृतिक और मानसिक दोनों प्रकार की चिकित्सा विधि के अनुसार स्वास्थ्यवर्धक हैं। इनमें से बहुत से नियमों की उपयोगिता पिछले पृष्ठों में दर्शायी जा चुकी है।

आठवाँ प्रकरण

मनोविकारजनित रोग

दमा का मानसिक कारण और उपचार

दमा और चिन्ता

दमा का रोग क्षय रोग के समान एक व्यापक रोग है। यह रोग प्रायः प्रौढ़ व्यक्तियों में पाया जाता है। जिस प्रकार क्षय रोग का व्यापक कारण मानसिक चिन्ता होता है, उसी प्रकार दमा का व्यापक कारण मानसिक चिन्ता होता है। विरले ही निश्चिन्त व्यक्तियों में दमा की बीमारी पाई जाती है। जब तक मनुष्य अपनी समस्याओं को हल कर सकने की योग्यता अपने में देखता है, उसे दमा की बीमारी नहीं होती, जब उसकी समस्या में इतनी जटिल हो जाती हैं कि वह उन्हें हल करने की योग्यता अपने-आपमें नहीं पाता, तो चिन्ता बीमारी का रूप धारण कर लेती है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि मनुष्य की ऊपरी चिन्ता भीतरी चिन्ता से प्रायः भिन्न रहती है। चेतन मन की चिन्ता इतनी घातक नहीं होती जितनी अचेतन मन की चिन्ता होती है।

मनोविश्लेषण विज्ञान के अनुसार दमा सांकेतिक रूप से मरण की इच्छा का प्रतीक है। मनुष्य के बहुत से रोग उसकी अव्यक्त मानसिक भावना के प्रतीक होते हैं।

दमा की प्रतीकता

डाक्टर होमरलेन के अनुसार दमा रोगी अपनी माँ के पेट में रहने की इच्छा को दर्शाता

है। एक बार जन्म हो जाने पर फिर माँ के पेट में जाना संभव नहीं, अतएव दमा का रोग मृत्यु की गोद में जाने की इच्छा को प्रकाशित करता है। दमा का रोग सांकेतिक रोग से अचेतन मन की जीवन का अन्त कर देने की इच्छा को दर्शाता है। डाक्टर होमरलेन ने कुछ दमा के रोगियों के मनोविश्लेषण से पता चलाया कि उनके रोग का कारण रोगी के उस काल में पाया जाता है जब कि वह माता के गर्भ में था। बहुत-सी मातायें सन्तान उत्पत्ति नहीं चाहतीं, पर उनकी इच्छा के प्रतिकूल उन्हें गर्भ रह जाता है। इस अवस्था में वे प्रायः सोचा करती हैं कि यदि बालक उत्पन्न न होता तो अच्छा होता। माता के ये विचार गर्भस्थित बालक के अचेतन मन में घर कर लेते हैं। इसके परिणामस्वरूप बालक में मरने की इच्छा प्रबल हो जाती है। जब तक बालक लाड़-प्यार से रखा जाता है, वह स्वस्थ रहता है, जब किसी प्रकार का संकट उसके ऊपर आ जाता है तो उसे कोई न कोई शारीरिक बीमारी हो जाती है। यही बालक प्रौढ़ होने पर किसी कठिनाई का सामना करते ही दमा के रोग का शिकार बन जाता है। सन्तान उत्पन्न न करने की इच्छा गरीबों की अपेक्षा धनी घरों में अधिक पाई जाती है। जिस व्यक्ति में जितनी ही अधिक धन की चाह होती है, सन्तान वृद्धि से उसे उतना ही अधिक भय होता है; अतएव कंजूस लोगों को या तो सन्तान होती ही नहीं और सन्तान होती ही है तो रोगी। जिस व्यक्ति को सन्तान की उत्पत्ति से जितनी ही वास्तविक खुशी

होती है, उसकी सन्तान उतनी ही स्वस्थ और दीर्घजीवी होती है। माता-पिता की इच्छा के प्रतिकूल जन्म पा लेने वाले बालकों में मरने की इच्छा रहना स्वाभाविक ही है। ऐसे व्यक्तियों के समक्ष जब कोई कठिन समस्या आ जाती है तो वे उसका वीरता से सामना न कर रोग का आवाहन करने लगते हैं। रोगी अपने जीवन की जिम्मेदारियों से अपने आपको मुक्त समझता है, अतएव रोग के द्वारा रोगी व्यक्ति अपनी कठिनाइयों को अपनी दृष्टि से ओझल करता है।

दमा अचेतन मन की चिन्ता से थकावट की अवस्था को दर्शाता है। जिस प्रकार सिर पर भारी बोझा होने पर मनुष्य बोझ के मारे हाँफने लगता है, उसी प्रकार मनुष्य के अचेतन मन पर जब चिन्ता का भार अधिक बढ़ जाता है तो उसे दमा की बीमारी उभड़ आती है। इस अचेतन मन की चिन्ता का ज्ञान प्रायः चेतन मन को नहीं रहता। जिन चिन्ताओं से दमा का रोगी परेशान दिखाई पड़ता है, वे उसकी वास्तविक चिन्तायें नहीं होतीं। वे वास्तविक चिन्ताओं की प्रतीक अथवा रूपान्तर मात्र होती हैं। बालक की गर्भावस्था के समय की माता-पिता की चिन्ता उसकी प्रौढ़ावस्था की अनेक अकारण चिन्ताओं की जननी हो जाती है। इस तरह व्यक्ति सदा चिन्तित रहने पर भी चिन्ता के वास्तविक कारण को नहीं जानता और न किसी प्रकार उसका उपचार ही कर सकता है। इसी प्रकार अपने प्रेमी के प्रेम से वंचित होने पर जो चिन्ता व्यक्ति को उत्पन्न होती है

उसका ज्ञान व्यक्ति के चेतन मन को नहीं रहता, पर यह चिन्ता दमा के रोग का कारण बन जाती है।

बहुत-सी स्त्रियों को दमा का रोग पति के प्रेम के अभाव के कारण उत्पन्न होता है। जो पति-पत्नी सन्तान निग्रह के कृत्रिम उपायों को काम में लाते हैं, उन्हें दमा का रोग उत्पन्न हो जाता है। सन्तान निग्रह की इच्छा चेतन मन की इच्छा होती है। मनुष्य का अचेतन मन जो कि उसकी मूल प्रकृति का प्रकाशन है, इसका विरोधी होता है। मूल-प्रकृति नित्य प्रसवनी है। जब मनुष्य कोई कार्य इसके प्रतिकूल करता है तो वह अपने ही स्वभाव के प्रतिकूल आचरण करता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति के अचेतन मन में भारी चिन्तायें उत्पन्न हो जाती हैं, और इन चिन्ताओं के कारण उसे दमा का रोग उत्पन्न हो जाता है। जिस व्यक्ति में सन्तान निग्रह की जितनी प्रबल भावना होती है उसे दमा का रोग भी उतना ही अधिक होता है। इस प्रसंग में लेखक के अनुभव में आनेवाले दो एक उदाहरण उल्लेखनीय हैं:—

दमा और अप्राकृतिक जीवन

लेखक के एक मित्र बड़े ही सदाचारी और सांसारिक बातों से विरक्त व्यक्ति हैं। उनकी स्त्री एक प्रतिभावान विदुषी है। यह स्त्री अध्यापक का काम करती है। मित्र अपनी स्त्री से बहुत दूरी पर जमीदारी का काम करते हैं। स्त्री का प्रायः सास से झगड़ा होता रहता है अतएव वे उसे अपने घर पर नहीं रखते। स्त्री

अपने पति के रहन-सहन से असन्तुष्ट है। उसके पति सभी के प्रति बड़े उदार हैं पर वह उनकी उदारता को कायरता समझती है। उसके पति स्त्री से बहुत कम मिलते हैं और अभी चालीस वर्ष की अवस्था होने पर भी उन्हें कोई सन्तान नहीं हुई है। इस स्त्री को दमा की बीमारी भी है। जब कभी वह स्त्री कोई संकट में पड़ जाती है तो उसकी यह बीमारी उभड़ आती है।

इस महिला के व्यवहार और आचरण के अध्ययन से पता चला कि उसे कीड़ों से बड़ा भय रहता है। उसे सभी वस्तुयें स्वच्छ रखने की एक झक-सी सवार रहती है। वह अपने घर को दो चार दिन में धुलवा डालती है। रसोई के बर्तनों को कई बार धुलवाती है। धोबी के घर से आये कपड़ों को भी फिर से धोकर पहनती है। कई बार दिन में घर झाड़ा जाता है। वह सफाई के सम्बन्ध में नौकरानियों से इतना काम लेती है कि कोई भी नौकरानी उसके यहाँ देर तक नहीं ठहर पाती। जब कभी वह नई वस्तु को छू लेती है तो वह हाथ धोती है। उसको डर रहता है कि कहीं कोई कीटाणु उसके हाथ में न लग जाय।

रोगियों के मनोविश्लेषण से पता चला है कि अधिक स्वच्छ रहने की झक उन लोगों के मन में रहती है जिन्हें अपनी आन्तरिक गंदगी से भय रहता है। वाह्य सफाई करना आन्तरिक सफाई करने की इच्छा का प्रतीक मात्र है। सफाई की झक रखनेवाला व्यक्ति सांकेतिक रूप से अपने मन को साफ करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार उसके मन की सफाई तो नहीं होती,

पर उसे स्वच्छ रहने का मिथ्या आत्म-संतोष हो जाता है। यह अपने आपको भुलाने का एक उपाय है। जटिल मनुष्यों का वाह्य आचरण उनकी भीतरी मानसिक स्थिति का आवरण मात्र होता है। इस आवरण के द्वारा व्यक्ति अपने वास्तविक कुरूप और अभद्र स्वभाव को दूसरों की अपनी दृष्टि से ओझल करने में समर्थ होता है।

आत्मग्लानि और दमा

दमा के मानसिक रोगियों में दूसरों की आलोचना करने की भी प्रबल प्रवृत्ति पाई जाती है। दूसरों की आलोचना करने की प्रवृत्ति का उदय भी आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति के दमन से होता है। जो मनुष्य अपने आपसे असन्तुष्ट रहते हैं वे दूसरों से भी असंतुष्ट रहते हैं। वे अपने आपके प्रति असंतोष को दूसरों के ऊपर आरोपित कर देते हैं। अपने आपकी कमी ही विकृत रूप से दूसरे व्यक्तियों की कमी में दिखाई देने लगती है। यह आरोपण की प्रवृत्ति का एक कार्य मात्र है। उक्त महिला बड़ी आत्म-अभिमानी है और अपने आपको भारी विद्वान् समझती है। अभिमानी व्यक्ति अपने भाग्य से संतोष नहीं करते, वे अपनी परिस्थिति में अनेक दोष देखते हैं। अतएव अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित रहते हैं। उनके मनसूबे इतने भारी होते हैं कि उन्हें पूरा करना असंभव होता है।

मेरे एक दूसरे मित्र की स्त्री को हाल में ही प्रबल दमा की बीमारी हो गई है। इस मित्र के दो बच्चे हैं और दो बच्चे मर

चुके हैं। वे अब संतान-निग्रह के उपाय काम में लाते हैं। सन्तान की वृद्धि न तो उनकी स्त्री चाहती है और न वे स्वयं चाहते हैं। इनकी स्त्री पढ़ी-लिखी और बड़ी स्वाभिमानी है। उसे भी घर साफ रखने की झक सवार रहती है। वह दिन भर अपना सामान सजाने और घर साफ करने में लगी रहती है। इससे थक कर वह प्रायः बीमार भी हो जाती है। स्त्री अपने पति से ऊँचे घराने की महिला है। वह अपना तनिक भी अपमान नहीं सह सकती। कभी-कभी पति-पत्नी में अनबन हो जाती है। ऐसी स्थिति में पति को ही नीचे झुकना पड़ता है। पति पहले किसी दूसरी महिला को प्यार करते थे। इसका ज्ञान उनकी स्त्री को हो गया था। इससे वह परेशान रहती थी। इस समय भी पति अपनी स्त्री को अधिक समय नहीं दे पाते। वे राष्ट्रीय कामों में लगे रहते हैं। ऐसी अवस्था में दमा की बीमारी का उभड़ आना स्वाभाविक ही है।

मेरे एक छात्र की दादी को इस समय दमा की बीमारी है। यह बीमारी उसे कोई बीस वर्ष से है। पहले पहल बीमारी का आरंभ निम्नलिखित घटना से हुआ—

जब उक्त महिला युवा अवस्था में थी तो उसका एक पन्द्रह साल का लड़का मर गया। इससे उसे भारी कष्ट हुआ और उसने आत्म-हत्या करना चाहा। उसने सुन रखा था कि घी और शहद बराबर मिलाकर खा जाने से मृत्यु हो जाती है, अतएव उसने कुछ घी और उतनी ही शहद मिलाकर खा ली। इससे उसकी मृत्यु तो

नहीं हुई, पर उसे दमा की बीमारी उभड़ आई। यह बीमारी उसे आज दिन तक है। यह महिला अपने नाती को जो मेरा छात्र है बहुत प्यार करती है। वह कुछ समय तक उसी के पास अपने घर से दूर रहती थी। वह वहाँ जाती जहाँ कि वह एक अंग्रेजी स्कूल में पढ़ता था, देखरेख करती थी, और उसे रोटी बनाकर खिलाती थी। जब तक वह उस नाती के पास घर से दूर रही तब तक उसे दमा की बीमारी नहीं हुई। पर जब यह नाती अपनी स्कूल की पढ़ाई पूरी करके कालेज चला गया और उसे अपने पुराने घर पर जाकर रहना पड़ा तो वह बीमारी फिर से उभड़ आई। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इस महिला की पतोहू अर्थात् मेरे छात्र की माँ अभी जीवित है और घर में उसीका प्रभुत्व है। इस प्रकार के वातावरण का उसकी बीमारी से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब मनुष्य की इच्छाशक्ति किसी घटना से एक बार कमजोर हो जाती है तो उसमें किसी प्रकार की कठिनाइयों का धैर्य्य के साथ सामना करने की क्षमता नहीं रहती। ऐसी अवस्था में जब कोई साधारण सी भी कठिनाई व्यक्ति के समक्ष आ जाती है तो वह बीमार हो जाता है। बीमारी मनुष्य को एक विशेष प्रकार का संतोष प्रदान करती है। बीमारी के कारण एक ओर व्यक्ति आत्मभर्त्सना की मनोवृत्ति से बच जाता है और दूसरी ओर वह अपने सम्बन्धियों के ध्यान को अपने ऊपर आकर्षित कर लेता है। जिस स्त्री को उचित प्रेम नहीं मिलता वह बीमारी का आवाहन करने लगती है। बीमार होकर

वह विकृत मार्ग से उस वस्तु को प्राप्त करने में समर्थ होती हैं जिसे वह अन्यथा नहीं प्राप्त कर सकती है। दमा से बीमार महिलायें प्रायः प्रेम की भूखी रहती हैं। जब उनकी इस इच्छा की पूर्ति हो जाती है तो उनका रोग भी नष्ट हो जाता है।

दमा से पीड़ित पुरुष प्रायः अपने जीवन में असफल होते हैं। दमा उन्हें आत्मभर्त्सना की मनोवृत्ति से बचाता है। जिन लोगों के मनसूबे बड़े-बड़े होते हैं पर सफलता बहुत कम होती है, वे दमा के शिकार हो जाते हैं। लेखक के एक मित्र ऊँची विलायत की डिगरी प्राप्त किये हुए हैं, पर उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार कोई पद अभी तक नहीं मिला। अतएव वे अपनी परिस्थितियों से संतुष्ट नहीं हैं। वे सभी बातों में दोष ही दोष देखते हैं। उनके विचार से भारतवर्ष के नये आन्दोलन उसका उत्थान न कर, उसे पतन की ओर ले जा रहे हैं। वे पुरानी भारतीय संस्कृति के पक्षपाती हैं और जात-पांत में कठोरता चाहते हैं। पर आजकल उलटी ही लहर चल पड़ी है, इससे वे बहुत असन्तुष्ट हैं। इन्हें भी दमा की बीमारी है, और यह बीमारी जब कभी उभड़ आती है तो वे सन्तानविग्रह के उपायों को काम में लाते हैं। ये बड़े स्वाभिमानी हैं, स्त्री का प्रभुत्व इनके ऊपर रहता है। दमा के उभड़ने का कभी-कभी बड़ा विस्मयजनक कारण होता है। यदि वे सड़क पर चल रहे हों और वहाँ से कोई मोटर निकल जाय तो यह दमा उभड़ने का

दमा और असफल जीवन

कारण बन जाती है। मोटर के निकलने से धूल उड़ती है, और जब यह धूल उनकी नाक में चली जाती है तो उन्हें जुखाम हो जाता है। जब कुछ दिन तक जुखाम बना रहता है तो उन्हें दमा उभड़ आता है। दमा के इस प्रकार उभड़ आने का वृत्तान्त सुनकर लेखक को आश्चर्य हुआ। पर जहाँ कारण मानसिक हो वहाँ कोई भी तुच्छ बाहरी कारण बीमारी उभड़ने के लिये पर्याप्त होता है। बीमारी उभड़ने में वास्तव में बाहरी कारण प्रतीक मात्र होता है। जो व्यक्ति स्वयं सदा मोटर पर चढ़ता रहता हो वह दूसरे व्यक्ति का मोटर पर चढ़ना और अपना जमीन पर चलना सहन नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट है कि धूल का उड़ना दमा का वास्तविक कारण न होकर इस मित्र की सम्पूर्ण मानसिक परिस्थिति उसकी बीमारी का कारण है।

सभी निकम्मे लोगों को कोई-न-कोई बीमारी लग जाती है। अतएव दमे की बीमारी प्रायः निकम्मे लोगों को ही हो जाती है। निकम्मे लोगों में आत्मविश्वास की कमी होती है। उनमें आन्तरिक आनन्द का अभाव रहता है।

दमा और निकम्मापन

उनका चित्त शान्त नहीं रहता, अतएव ऐसी अवस्था में दमा का रोग हो जाना स्वाभाविक ही है। वे इस रोग के द्वारा अपनी निराशावाद का प्रतिकार करते हैं और अपने निकम्मेपन को छुपाने में समर्थ होते हैं।

रोग के कारण को जान लेनेपर उसके निदान का मार्ग भी साफ हो जाता है। दमा के रोगी को जितना ही प्रेम मिलेगा

२१

वह उतना ही अपने रोग को दबाने में समर्थ होगा। दमा के रोगियों को सन्तान निरोध के उपायों को काम में लाना तुरंत ही बन्द कर देना चाहिये। दमा के रोगी को जीवन की जिम्मेदारियों को उठाने के लिये सदा प्रोत्साहित करना चाहिये। जो व्यक्ति जितना ही अपनी जिम्मेदारियों को उठाने के लिये तत्पर रहेगा, उसका रोग उतना ही हलका होगा। दमा के रोगी को धार्मिक शिक्षा देकर उसका अभिमान कम कराना भी अत्यन्त आवश्यक है। अभिमान के कम होने पर वह बड़े-बड़े संकल्प नहीं करता और उसकी निराशा भी फिर सीमित हो जाती है। दूसरे लोगों के प्रति प्रेम बढ़ाने से भी इस रोग का अन्त हो जाता है। जो व्यक्ति दूसरे लोगों से जितना अधिक प्रेम करता है उसका मन उतना ही स्वच्छ रहता है और उसे उतनी ही कम स्थायी बीमारियाँ पकड़ती हैं। शान्त विचारों का अभ्यास भी इस रोग का अन्त करता है।

सिर दर्द

सिर दर्द एक सामान्य रोग है। यह प्रत्येक व्यक्ति को कभी-न-कभी हो जाता है। हम इसके शारीरिक कारण से ही प्रायः परिचित हैं। इसका मानसिक कारण हो सकता है, इस संभावना के ऊपर विचार ही कम किया गया है। जब हम यह कहते हैं कि सिर दर्द का मानसिक कारण होता है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उसका शारीरिक कारण नहीं होता। शारी-

सिर दर्द के भौतिक कारण

रिक विकारों से भी सिर दर्द होता है। जिस प्रकार मानसिक विकारों से सिर दर्द होता है। कभी-कभी शारीरिक और मानसिक विकार दोनों साथ-साथ काम करते हैं। कभी-कभी शारीरिक विकार मानसिक विकारों से उत्पन्न होकर सिर दर्द का कारण बन जाते हैं। अतएव किसी एक विशेष व्यक्ति के सिर दर्द के कारण को जानने के लिये उसकी संपूर्ण शारीरिक और मानसिक स्थिति को जानना आवश्यक होता है। यहाँ सिर दर्द के मानसिक कारणों के बताने के पूर्व उसके साधारण शारीरिक कारणों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

सिर दर्द अधिकतर पेट के विकार से उत्पन्न होता है। कुपच, कब्जियत, कोष्ठ-बद्धता, पित्त की वृद्धि आदि शारीरिक विकार सिर दर्द के रूप में प्रगट होते हैं। बुखार के समय भी सिर दर्द हो जाता है। सिर का दर्द अपरिचित रोग का प्रतीक है। यदि हमारे शरीर में कोई विकार उत्पन्न हो गया है तो वह पहले-पहल सिर दर्द के रूप में प्रगट होता है। विकार के नष्ट होने पर सिर का दर्द भी नष्ट हो जाता है। यदि हम सिर के दर्द से सचेत होकर अपने स्वास्थ्य को सँभालने नहीं लगते तो किसी जटिल रोग से ग्रसित हो जाते हैं। दूसरे रोगों का प्रतीक सिर का दर्द अस्थायी होता है। वह आता-जाता रहता है।

कभी-कभी सिर का दर्द आँख की कमजोरी से उत्पन्न हो जाता है। जिन लोगों को मायोपिया की बीमारी हो जाती है और वे उसको नहीं जान पाते या परवाह नहीं करते उन्हें सिर

का दर्द हो जाता है। किशोर बालकों के सिर के दर्द का अधिकतर यही कारण होता है। मायोपिया से कुपच, बेचैनी, चिड़चिड़ेपन के साथ-साथ सिर का दर्द भी हो जाता है। जब मायोपिया से पीड़ित व्यक्ति चश्मा लगा लेते हैं तो उनके सिर का दर्द दूर हो जाता है।

सिर दर्द के मानसिक कारणों में प्रधान चिन्ता, शोक, विरह और द्वेष होते हैं। चिन्ता ही सिर दर्द का मुख्य मानसिक कारण है। चिन्ता करने से मस्तिष्क की नसों पर विशेष प्रकार का जोर पड़ता है। हमारे रुधिर का प्रवाह उसी ओर हो जाता है जिस ओर उसकी आवश्यकता होती है। चिन्ता के समय उसकी आवश्यकता मस्तिष्क में होती है अतएव उसी ओर उसका प्रवाह होने लगता है। इस तरह मस्तिष्क में अत्यधिक खून का दौरा हो जाता है जिससे कि रुधिर के बढ़ाव (Blood Pressure ब्लड प्रेसर), सिर दर्द आदि बीमारी हो जाती हैं। अधिक चिन्तन करने से रात्रि को ठीक से नींद नहीं आती। स्वप्न भयावने आते हैं। कभी-कभी स्वप्न-दोष भी हो जाते हैं। इन सबके कारण भी सिर दर्द हो जाता है। अधिक पढ़ने-लिखने वाले विद्यार्थियों के सिर दर्द का कारण प्रायः यही होता है।

सिर दर्द के मानसिक कारण—चिन्ता

चिन्तन करते समय मस्तिष्क के बहुत से जर्रे (सेल्स) टूट जाते हैं। ये टूटे हुए जर्रे खून के प्रवाह के द्वारा बाहर निकलते हैं। इसके लिये समय की आवश्यकता होती है। लगातार

चिन्तन करते रहने वाले व्यक्तियों के टूटे हुए जरें शीघ्रता से बाहर नहीं निकल पाते। ये जहर के रूप में मस्तिष्क में उपस्थित रहते हैं; इससे सिर दर्द उत्पन्न हो जाता है। जो विद्यार्थी देर तक रात को पढ़ते रहते हैं और पर्याप्त नींद नहीं लेते उन्हें सिर दर्द हो जाता है।

चिन्तन अधिक करने से मनुष्य को अधिक मानसिक शक्ति विचार करने में खर्च हो जाती है। कितने ही लोगों को भोजन करने तक का समय भी नहीं रहता। वे किसी जटिल समस्या पर सोचते हुए ही भोजन करते हैं। ऐसे लोगों को भोजन ठीक से नहीं पचता। जो शक्ति भोजन पचाने के लिये आवश्यक है, जब वह पेट को नहीं मिलती तो कुपच की बीमारी हो जाती है जिसके कारण सिर दर्द तथा अन्य बीमारियाँ हो जाती हैं। कितने ही लोगों को पेशाब करने और समय पर पैखाना जाने की, चिन्ता के कारण फुरसत ही नहीं मिलती। जो व्यक्ति चिन्ता से मुक्त होकर इन प्राकृतिक कार्यों को नहीं करते उनके ये प्राकृतिक कार्य ठीक से नहीं होते जिसके कारण सिर दर्द आदि की बीमारी हो जाती है।

चिन्ताएँ कई प्रकार की होती हैं। कुछ चिन्ताएँ बाहरी परिस्थितियों के सामना करने के संबंध में रहती हैं और कुछ आन्तरिक मन के अन्तर्द्वन्द्व से उत्पन्न होती हैं। बाहरी परिस्थितियों के कारण जो चिन्ताएँ होती हैं वे इतनी जटिल नहीं होतीं जितनी कि आन्तरिक परिस्थियों से उत्पन्न चिन्ताएँ होतीं हैं। आन्तरिक अन्तर्द्वन्द्व की परिस्थिति का आरोप किसी बाहरी समस्या पर

हो जाता है। ऐसी स्थिति में एक सामान्य समस्या जटिल रूप धारण कर लेती है। आन्तरिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति मनुष्य की किसी प्रबल वासना के दमन के कारण उत्पन्न होती है। प्रायः कामवासना का दमन ही ऐसी स्थिति को उत्पन्न करता है। कितने ही व्यक्तियों को जिनकी कामवासना अतृप्त रहती है, अनेक प्रकार के अकारण भय और चिन्ताएँ घेरे रहती हैं। ऐसे लोगों को स्थायी सिर के दर्द की बीमारी भी होती है। अतृप्त काम-वासना के कारण कितने ही युवकों को स्वप्न-दोष होते हैं, जब वे इन स्वप्न-दोषों के विषय में चिन्ता करने लगते हैं तो उनके स्वप्न-दोष और भी बढ़ जाते हैं। जिस बीमारी से मनुष्य डरता है वह बीमारी उसके लिये और भी भयंकर हो जाती है। स्वप्न-दोषों की वृद्धि के कारण सिर दर्द का हो जाना स्वाभाविक है। स्वप्न-दोष के साथ-साथ अनेक प्रकार के शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं। सिर दर्द ऐसी अवस्था में इन रोगों का आगाह मात्र करता है।

कितनी ही स्त्रियों को अतृप्त कामेच्छा के कारण सिर-दर्द की बीमारी होती है। यह एक प्रकार का हिस्टीरिया है। सदाचारिणी स्त्री को जब अपने पति से बोलचाल करने का पर्याप्त समय नहीं मिलता तो उसे सिर दर्द की बीमारी हो जाती है। जिस स्त्री को अपने पति के विषय में सन्देह हो जाता है कि वह उससे उदासीन है तो उसे सिर दर्द की बीमारी हो जाती है। इस प्रकार का सिर दर्द एक तरह का पाला हुआ रोग है। जब तक पति

की कल्पित उदासीनता नहीं जाती तब तक यह रोग बना रहता है। सिर दर्द को पकड़ कर रोगी अपने प्रेमी को अपने विषय में चिन्तन करने के लिये वाध्य करता है। जब उनके पति उनके सिर दर्द के विषय में परेशान होने लगते हैं तो उन्हें अज्ञात आत्म-संतोष होता है। यदि सच्चे भाव से प्रेमी, रोगी व्यक्ति की सेवा करने लगे तो सिर का दर्द समाप्त हो जाय।

कितनी ही स्त्रियों को सिर दर्द की बीमारी इसलिये उत्पन्न हो जाती है कि दंपति सन्तान निग्रह के उपायों को काम में लाते हैं। सन्तान निग्रह के उपायों को काम में लाने से स्त्री की भोगेच्छा की तृप्ति नहीं होती। कामवासना के तीन अंग हैं—एक शारीरिक मिलन, दूसरा प्रेम और तीसरा संतानोत्पत्ति। जब तीनों प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति होती है तभी कामवासना संपूर्ण रूप से तृप्त होती है। जो पति-पत्नी भोगविलास के लिये मिला करते हैं किन्तु जिन्हें न आपस में वार्तालाप का अधिक समय मिलता है और न सन्तान उत्पत्ति चाहते हैं वे अनेक प्रकार के रोगों से ग्रसित हो जाते हैं। स्त्रियों को हिस्टीरिया, दमा, स्थायी सिर दर्द और क्षय रोग की बीमारी हो जाती है। इसी प्रकार पुरुषों को भी अनेक प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हैं।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में सन्तानोत्पत्ति की इच्छा अधिक प्रबल होती है। स्त्रियों का अचेतन मन सदा किसी बालक के साथ खेलते रहना चाहता है। जब किसी युवती स्त्री की इस आन्तरिक इच्छा की अवहेलना होती है तो वह रोग ग्रसित हो

जाती है। प्रकृति सन्तान वृद्धि चाहती है अतएव सन्तान-निग्रह अप्राकृतिक है। जीवन की जिम्मेदारियों पर विचार करके जब मनुष्य सन्तान-निग्रह के उपायों को काम में लाता है तो प्रकृति उससे बदला लेती है। इसी कारण हिस्टीरिया, सिर-दर्द आदि की बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

सिर-दर्द का दूसरा कारण विरह कहा गया है। विरह प्रेम की पूर्ति के अभाव से उत्पन्न होता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार इसका भी संबंध काम-इच्छा से है। जब विरह की स्मृति का दमन होता है तो वह सिर दर्द की बीमारी के रूप में प्रगट होती है। सिर दर्द की पीड़ा यहाँ विरह की स्मृति की प्रतीक बन कर प्रेमी के समक्ष आती है। हमारे कितने ही शारीरिक रोग मानसिक क्लेशों के प्रतीक होते हैं। असह्य मानसिक क्लेश दमन की अवस्था में सहने योग्य शारीरिक क्लेश के रूप में प्रगट होता है। सिर का दर्द एक ऐसी स्मृति का सूचक है जो कि मस्तिष्क में समा नहीं सकती और जिसके कारण मस्तिष्क भारी हो जाता है।

विरह

जिस प्रकार विरह सिर-दर्द का कारण होता है उसी तरह शोक भी सिर दर्द का कारण हो जाता है। शोक की अवस्था में मनुष्य पागल तक हो जाता है। शोक की स्मृति के दमन का वही परिणाम होता है जो विरह की स्मृति के दमन का होता है। शोक से मुक्त होने पर ही मनुष्य अपनी मानसिक व्यथा से मुक्त हो सकता है। कितनी ही स्त्रियों को अपनी सन्तान के मर जाने

के कुछ दिन बाद सिर दर्द की बीमारी हो जाती है। यह बीमारी शोक स्मृतियों को भुलाने के परिणामस्वरूप होती है।

क्रोध और द्वेष के भाव भी सिर-दर्द उत्पन्न करते हैं। किन्हीं किन्हीं लोगों को क्रोध करने के तुरन्त ही बाद सिर-दर्द हो जाता है। क्रोध की अवस्था में मनुष्य के शरीर में

क्रोध और द्वेष

अनेक प्रकार के जहर उत्पन्न हो जाते हैं। रुधिर के साथ ये जहर मिल जाते हैं और सारे शरीर में उनका प्रवाह होने लगता है। इसके कारण सिर-दर्द उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी इसके कारण मनुष्य की मृत्यु तक हो जाती है। जिस व्यक्ति के प्रति हम बार-बार क्रोध लाते हैं, उसके प्रति हमारा द्वेष-भाव हो जाता है। द्वेष-भाव क्रोध के दमन से और भी प्रबल हो जाता है। जब क्रोध का इस तरह दमन होता है तो वह सिर-दर्द के रूप में प्रगट होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी ऐसे व्यक्ति के साथ रहता है जो सदा उसकी नुक्ताचीनी करता रहता है, तो उसे सिर-दर्द और आँख की कमजोरी की बीमारी होने की संभावना रहती है। जितनी प्रबल द्वेष भावना रहती है, उतनी ही प्रबल ये बीमारियाँ भी होती हैं।

ऊपर हमने सिर दर्द की बीमारी के जो कारण बताए हैं, इन कारणों को जानकर सिर दर्द की बीमारी का उपचार सरलता से किया जा सकता है। जिन उपायों से हम अपनी चिन्ता, विरह, शोक और द्वेष के मनोभावों से मुक्त हो सकते हैं उनसे सिर दर्द की बीमारी का भी नाश किया जा सकता है।

आत्म-निर्देश के द्वारा विचार-विराम का अभ्यास मनुष्य को चिन्ताओं से मुक्त करता है। इसी तरह चिन्ताएँ परोपकार में मन लगाने से भी नष्ट होती हैं। नियमित जीवन और मध्यम मार्ग का अनुसरण भी चिन्ता के विनाशक हैं। अपने जीवन में हमें संयम की वृद्धि करना उचित है किन्तु अप्राकृतिक जीवन में रहना हानिकारक है। विरह और शोक का अन्त वैराग्यभाव और धर्म-चर्चा से होता है। जिस मनुष्य के जीवन में जितनी ही अधिक सच्ची धार्मिकता रहती है वह उतना ही प्रसन्नचित्त और स्वस्थ रहता है। द्वेष-भाव का अन्त मैत्री भावना के अभ्यास से होता है। नित्य-प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास हमारी सभी प्रकार की शारीरिक और मानसिक शक्तियों की वृद्धि करता है। इससे उत्साह की वृद्धि होती है और शरीर आरोग्य रहता है।

सिर दर्द की चिकित्सा— मैत्री भावना का अभ्यास

प्रत्येक प्रकार के रोग के विनाश करने में हमारा रोग के प्रति दृष्टिकोण महत्व का काम करता है। किसी रोग को हमें व्यर्थ न समझना चाहिये। रोगों से मनुष्य को आध्यात्मिक लाभ होता है। जब मनुष्य बाहर की चिन्तायें अधिक करने लगता है तो वह शरीर की ओर ध्यान देना भूल जाता है। रोग मनुष्य को शरीर की ओर ध्यान देने के लिये बाध्य करता है। जब मनुष्य अपने शरीर की ओर ध्यान देने लगता है तो उसका

रोग के प्रति दृष्टिकोण

रोग नष्ट हो जाता है। मानसिक विषमता की अवस्था को नष्ट करने के लिये रोग उत्पन्न होते हैं। मानसिक विषमता ही शारीरिक रोग में प्रकट होती है। जब मनुष्य रोगी हो जाता है तो उसके बाहर के विचार खिंचकर अपने शरीर पर ही केन्द्रित हो जाते हैं। विचारों के इस प्रकार केन्द्रित हो जाने से रोग के नष्ट होने की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। वास्तव में मनुष्य का मन ही उसके शरीर का निर्माता और उसका नष्ट करने वाला है। जहाँ मन शरीर को आरोग्य बनाने का निश्चय कर लेता है, वहाँ शरीर आरोग्य हो जाता है और जब वह उसे अस्वस्थ बनाना चाहता है तो वह अस्वस्थ हो जाता है। हम अपने स्वभाव अथवा सम्पूर्ण मन को भली प्रकार से न जानने के कारण ही अनेक प्रकार के कष्टों को भोगते हैं। अपनी शक्ति को या तो हम काम में ही नहीं लाते अथवा हम उसका अपव्यय करते हैं।

सिर-दर्द के होने पर हमें उससे उद्विग्नमन न होकर उसे अपना मित्र मानना चाहिये। अधिकतर सिर का दर्द आनेवाली किसी भयंकर बीमारी का सूचक होता है। वह हमें उस बीमारी के लिये आगाह करता है। यदि हम सावधान हो जावें तो फिर बीमारी अधिक न बढ़े।

रोगों को अपना शिक्षक और हितैषी मानना, उनसे उद्विग्नमन न होना, उनके विषय में निश्चिन्त हो जाना रोगों से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपने रोगों के विषय में चिन्तित रहता है और उससे अति शीघ्र

मुक्त हो जाने की इच्छा करता है, वह रोगों को उतनी ही देर तक ठहराये रहता है। यदि किसी प्रकार की इच्छा रहते हुए मनुष्य अपने रोग से मुक्त होने की चेष्टा करता है अथवा अपने आपको किसी प्रकार का निर्देश देता है तो उसका परिणाम उलटा ही पड़ता है। उसका निर्देश प्रतिनिर्देश में परिणत हो जाता है, अर्थात् उसके आत्मनिर्देश से उसे लाभ न होकर हानि ही होती है। वास्तव में उसे विश्वास ही नहीं होता कि शुभ विचारों का कोई लाभ होता है, और उसकी यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि उसे किसी प्रकार का लाभ न होगा। अतएव आत्मनिर्देश से किसी प्रकार का लाभ उठाने के लिये पहले-पहल मनुष्य को अपनी इच्छा को मार डालना आवश्यक है। इसके लिये कूये महाशय सम्मोहन विधि का प्रयोग करते थे। किसी दूसरे प्रकार के अभ्यास से, जिससे चित्त की वृत्तियाँ स्थिर हों, वही परिणाम होता है जो कि कूये महाशय की सम्मोहन विधि से होता था। खासकर मन को एकाग्र करना, नाम का जप करना, अथवा शून्य भावना करना, अथवा निद्रा में लीन हो जाना सभी सन्निर्देश के प्रभाव को बढ़ाते हैं।

आत्म-निर्देश के द्वारा जिस प्रकार दूसरी बीमारियाँ अच्छी की जा सकती हैं, उसी प्रकार सिर का दर्द भी अच्छा किया जा सकता है। इस प्रसंग में लेखक का एक प्रयोग उल्लेखनीय है। कूये महाशय आत्मनिर्देश को प्रत्येक प्रकार के शारीरिक और मानसिक

आत्म-निर्देश

रोग के छुड़ाने के लिये काम में लाते थे। लेखक ने उनके सिद्धान्तों को सिर दर्द के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया है। यह प्रयोग अपने ही एक मित्र पर हुआ जो हाई स्कूल के अध्यापक हैं। ये मित्र बड़े ही सरल स्वभाव के व्यक्ति हैं। वे अपने काम की धुन में सदा लगे रहते हैं। इनके पढ़ाने से लड़के लोग बहुत ही संतुष्ट रहते हैं। उन्हें पाँच-छः वर्ष पहले सिर-दर्द की बीमारी शुरू हुई। इसके पहले उन्हें आँख की भी बीमारी हो जाती थी। सिर दर्द का आँख की बीमारी से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, अतएव वे आँख की चिकित्सा कराने लगे। पीछे उन्होंने चश्मा पहनना भी प्रारम्भ किया। इससे आँख में तो कुछ सुधार हुआ पर सिर का दर्द न गया। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि उनके आँख के रोग का भी मानसिक कारण था। उन्होंने सिर-दर्द के लिये अनेक प्रकार की चिकित्सायें कीं, जिनमें प्राकृतिक चिकित्सा भी थी। अपने एक मित्र ने उनको कहा कि सवेरे बाहर घूमने जाने से सिर का दर्द जाता रहेगा। सवेरे घूमने से पूरे शरीर पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और जब पूरे शरीर का स्वास्थ्य सुधर जाता है तो सिर-दर्द भी चला जाता है। पर इस मित्र के कई महीनों तक लगातार घूमने जाने पर भी उसका सिर का दर्द न गया, अपितु और भी बढ़ता गया। इस सिर-दर्द का आध्यात्मिक कारण था।

यह मित्र कुछ दिन पहले लेखक के पास आया। लेखक ने उसे आत्म-निर्देश विधि का अभ्यास करने को कहा। उन्होंने

अपने सब ट्यूशन छोड़ दिये ; अपने-आपको जितना निश्चिन्त हो सका, बनाने का पूरा यत्न किया। इसके पश्चात् घर के लोगों को कह दिया कि कोई भी व्यक्ति जब तक मेरी नींद अपने-आप न टूट जाय, सवेरे न जगावे। वे अब नौ बजे ही सोने लगे। सोते समय भले आत्म-निर्देश देकर सोना प्रारंभ किया। सब के प्रति सद्भावना लेकर सोना और अपने-आपको स्वस्थ मानकर सोना, इन्हीं विचारों को जब तक नींद न आ जाय मन में दुहराते रहना, यह अभ्यास शारीरिक तथा मानसिक रोगों को नष्ट करने में अत्यन्त लाभदायक होता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने "पानापान सति" का अभ्यास और उस समय अपने-आपको शिथिल अवस्था में छोड़ने का अभ्यास भी प्रारंभ किया। इसके परिणाम-स्वरूप उनके स्वास्थ्य में आज चमत्कारिक परिवर्तन देखा जाता है अब न तो उन्हें कोई सिर दर्द है और न किसी प्रकार का आँख का रोग है। जब तक मनुष्य अपनी बुद्धि को इधर-उधर दौड़ाते रहता है और अनेक प्रकार की चिन्तायें करते रहता है तब तक उसकी मानसिक उलझनें बढ़ती ही जाती हैं। जब मनुष्य अपने आपको सब के हितचिन्तक तत्त्व के ऊपर छोड़ देता है, और जब वह एक ऐसी सत्ता में विश्वास करने लगता है, जिसकी गति उसकी बुद्धि के परे है तो उसका स्वास्थ्य अपने-आप ही सुधरने लगता है। यह तत्व हमारे चेतन मन से पृथक् नहीं है, पर यह चेतन मन को पूरा ज्ञात भी नहीं है। जो लोग बुद्धिगम्य तत्त्व के अतिरिक्त किसी भी दूसरी सत्ता को नहीं मानते वे सदा

चिन्ताओं में ही अपना समय व्यतीत कर देते हैं। किन्तु किसी घटना के घटित होने में कुछ ऐसे कारण भी होते हैं जिन्हें हमारी बुद्धि जान नहीं सकती अतएव बुद्धि के सामर्थ्य में विश्वास करनेवाला व्यक्ति अक्सर धोखा खाता है और अन्त में निराशावादी और रोगी हो जाता है। जटिल परिस्थितियों अथवा रोगों से मुक्त करने में जो तत्त्व काम करता है उसका सम्पूर्ण ज्ञान किसी व्यक्ति को होना संभव नहीं। इस निश्चय पर दृढ़ रहनेवाले व्यक्ति के हजारों रोग स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं।

नेत्र रोग

प्रत्येक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति तीन बातों में प्राकृतिक विषयों के उल्लंघन से होती है। ये तीन बातें—भोजन, आराम और व्यायाम हैं। जब मनुष्य इन बातों में अपने किसी प्रकार के अतिक्रम को हटा देता है, उसके लिए प्रायश्चित्त करके फिर प्राकृतिक जीवन बिताने लगता है तो उसे स्वास्थ्य-लाभ हो जाता है।

नेत्र रोग के प्राकृतिक कारण

जब नेत्र-रोगों के विषय में विचार कर रहे हैं तो हमें यह स्मरण रखना होगा कि सम्पूर्ण शरीर के स्वास्थ्य का प्रभाव नेत्रों पर वैसा ही पड़ता है जैसा कि शरीर के दूसरे अंगों पर पड़ता है। प्रत्येक अंग के रोग का एक सामान्य कारण होता है जो शरीर के स्वास्थ्य पर निर्भर रहता है। यह विशेष कारण उस विशेष अंग के विषय में भोजन, व्यायाम और आराम के

प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन से उत्पन्न होता है। जिस भाँति सम्पूर्ण शरीर के पोषण के लिए भोजन की आवश्यकता होती है, उसी तरह नेत्र के लिए भी विशेष प्रकार के भोजन की आवश्यकता होती है। व्यायाम और आराम के विषय में भी यही नियम लागू होता है। इन विषयों पर अब हम एक-एक करके विचार करेंगे।

भोजन—बहुत से नेत्र रोगियों को कब्जियत की बीमारी रहती है। उन्हें या तो भोजन ठीक से नहीं पचता या दस्त साफ नहीं होता। इसका कारण भोजन सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन है। अधिक भोजन करना, बेसमय से भोजन करना, अयोग्य वस्तुओं को खाना इसका कारण होता है। इससे पाचन-क्रिया बिगड़ जाती है अथवा कोष्ठबद्धता हो जाती है। इस स्थिति को मिटाने के लिए पेट की सफाई और भोजन में नियमितता लाना आवश्यक है। कितने ही नेत्र रोगियों को सिर-दर्द होते रहता है। इसका मुख्य कारण पेट का विकार होता है। पेट की सफाई हो जाने पर यह दर्द चला जाता है और नेत्रों में भी सुधार होता है। पेट की सफाई के लिए समय-समय पर रेचन अथवा एनिमा का प्रयोग आवश्यक है। प्राकृतिक चिकित्सा में एनिमा का प्रयोग ही लाभकर माना गया है किन्तु अत्यधिक एनिमा का प्रयोग हमारी प्राकृतिक मल को बाहर निकालने की शक्ति को कम कर देता है। अतएव उसी समय पर एनिमा का प्रयोग

उपचार-उचित-भोजन

करना चाहिए जब तक कि उसका प्रयोग करना अत्यावश्यक होता है। बच्चों को आँख की अनेक प्रकार की बीमारियाँ, जैसे आँख आना, रोहा हो जाना आदि पेट की सफाई न होने के कारण होती हैं। उनका पेट रेचन अथवा एनिमा के द्वारा समय-समय पर साफ करते रहना आवश्यक है। नेत्र रोग की अवस्था में तो उनका पेट अवश्य ही साफ रखना चाहिए।

पेट की सफाई उपवास से भी होती है। उपवास से भोजन सम्बन्धी अनियमितता का परिहार होता है। उपवास के समय शरीर के विभिन्न स्नायुओं में ठसा हुआ मल अथवा जहर बाहर निकल जाता है। इससे शरीर में स्फूर्ति आ जाती है। नाड़ियों और नसों में मलरूपी जहर की उपस्थिति के समय उनकी कार्य करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। जब सब नाड़ियों में स्फूर्ति आती है तो आँख की पेशियाँ भी अपना काम ठीक से करने में असमर्थ होती हैं। हेनरी बेंजिमन महाशय ने अपनी नेत्र की प्राकृतिक चिकित्सा सम्बन्धी पुस्तक "बेटर आई साइट विदाउट ग्लासेस" में नेत्र रोग को दूर करने के लिए उपवास की महत्ता दर्शाई है। पेट की सफाई और उपवास स्वास्थ्य लाभ के निषेधात्मक साधन हैं। योग्य भोजन करना भी नेत्र-रोग से मुक्त होने के लिए आवश्यक है। नेत्र-रोग से मुक्ति पाने के इच्छुक व्यक्ति को अपने भोजन में फल, दूध और शाकादि को बढ़ाना पड़ेगा। गरिष्ठ भोजन और मसालों को उसे दूर रखना होगा। सभी प्रकार के रोगियों का भोजन ऐसा होना चाहिए जो सर-

लता से पच जाय। यह नेत्र-रोग के लिए भी लागू है। भोजन पाँच-पाँच घन्टे के अन्तर से करना चाहिए नहीं तो वह ठीक से हजम नहीं होता।

जिस प्रकार सारे शरीर के भोजन में सुधार की, रोग से मुक्ति के लिए आवश्यकता है, उसी तरह नेत्र-रोग से मुक्त होने के लिए नेत्र के विशेष आहार में सुधार होने की आवश्यकता है। नेत्र-रोग जितना शहर में रहनेवाले लोगों को होता है उतना ग्रामीण लोगों को नहीं होता। इसका एक कारण शहर के लोगों का अपने नेत्रों का दुरुपयोग करना तो है ही, किन्तु उन्हें योग्य वस्तुओं को देखने को न मिलना भी नेत्र-रोग का कारण होता है। प्राकृतिक दृश्य नेत्र के देखने की शक्ति की वृद्धि करते हैं। हरियाली, पशु-पक्षी का चलना-फिरना देखना नेत्र की शक्ति को बढ़ाता है। किसी भी सजीव और सुन्दर पदार्थ को देखने से नेत्र की शक्ति बढ़ती है। इसके प्रतिकूल निर्जीव, मन को अप्रसन्न बनाने वाले काले-काले घरों और फैक्टरियों को देखने से नेत्र की शक्ति का ह्रास होता है। वास्तव में सहृदय जीवन एक ऐसा जीवन होता है जिसमें मन में खिन्नता लाने वाले दृश्य ही अधिक होते हैं। मनुष्य जैसे-जैसे अपनी आत्मा की तादात्म्यता की अनुभूति आस-पास के दृश्य के साथ करता है, उसकी सभी प्रकार की शारीरिक व मानसिक शक्तियों का विकास होता है, और वह जितना ही अपने विशेष प्रकार के कामों में चिन्ता से मग्न रहने के कारण बाह्य जगत से अपने

को पृथक् करता है, उसकी सभी शक्तियों का ह्रास होता है। हमारी शारीरिक शक्तियाँ प्रकृतिदत्त हैं। उनका जीवन भी प्रकृति-मय है। जैसे-जैसे हम प्रकृति से अपने आपको अलग करते हैं अपना विनाश करते हैं। नेत्र के रोगी के लिए यह आवश्यक है कि वह देहात में रहने का आयोजन बना ले और अपना अधिक-से-अधिक समय खेत में काम करने, प्राकृतिक दृश्य देखने में व्यतीत करे।

जिस प्रकार प्राकृतिक दृश्य-दर्शन से नेत्र की शक्ति बढ़ती है, उसी तरह नन्हें-नन्हें बालकों को कलोल करते हुए देखने से भी नेत्र की शक्ति बढ़ती है। यदि हम ऐसे वातावरण

प्राकृतिक दृश्य

में रहें जहाँ हमारी देखने की इच्छा स्फुरित होती है तो हमारी दर्शन-शक्ति बढ़ती है। इसके प्रति-कूल अप्रिय वातावरण में अधिक काल रहने से नेत्र की शक्ति का विनाश हो जाता है। स्वास्थ्य लाभ के लिए योग्य व्यायाम की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि योग्य भोजन की, नेत्रों के स्वास्थ्य लाभ के लिए समस्त शरीर के व्यायाम के साथ-साथ नेत्रों के विशेष प्रकार के व्यायाम की आवश्यकता होती है। हमारा शारीरिक व्यायाम दो प्रकार का होता है। पहला वह जो कि आजीविका सम्बन्धी कामों के करने में अपने आप हो जाता है और दूसरा वह जिसके लिए हम विशेष प्रयास करते हैं। आजीविका सम्बन्धी व्यायाम करने में जो नेत्रों का व्यायाम होता है वह अनियमित रहने के कारण प्रायः हानि-प्रद होता है।

बहुत से लोग अपने नेत्रों से देखने की शक्ति को समय के पूर्व ही खो देते हैं। क्योंकि वे अपने नेत्रों का दुरुपयोग करते हैं। आज-कल पुस्तक पढ़ने का व्यसन बहुत बढ़ गया है। मनुष्य मनोरञ्जन, आजीविका कमाने और ज्ञानोपदेश—सभी कामों के लिए पुस्तक की शरण लेता है। कितनी ही पुस्तकें बड़े बारीक टाइप में लिखी रहती हैं। इनको लगातार पढ़ते रहने के कारण आँखों की साधारण देखने की शक्ति चली जाती है और उन्हें चश्मा लगाना पड़ता है। चश्मा लगाने से अन्धेपन में सुधार न होकर वह स्थायी हो जाता है। कम उमर के बालकों में मायोपिया का रोग पुस्तक पढ़ने में अधिक समय व्यतीत करने से हो जाता है। शहरों में बहुत से सिनेमा-घर रहते हैं। इनमें बिजली के प्रकाश से हमें अनेक प्रकार के दृश्य दिखाये जाते हैं। जिन बालकों अथवा प्रौढ़ व्यक्तियों को सिनेमा देखने की बान पड़ जाती है उन्हें भी प्राय चश्मे लगाने पड़ते हैं। बिजली के प्रकाश में अधिक देर तक पढ़ने लिखने का काम करते रहने से नेत्र की शक्ति का विनाश हो जाता है।

जिन लोगों की देखने की शक्ति का ह्रास हो गया है उन्हें नेत्र सम्बन्धी विशेष प्रकार के व्यायाम की आवश्यकता है।

नेत्र सम्बन्धी व्यायाम

हेनरी बेंजिमन महाशय ने इन व्यायामों को भली भाँति अपनी उपर्युक्त पुस्तक में दर्शाया है। इन व्यायामों का एक लक्ष्य नेत्र सम्बन्धी स्नायुओं में स्फूर्ति उत्पन्न करना होता है। ये व्यायाम मायोपिया

के रोगों को दूर करने में विशेष लाभकर सिद्ध हुए। मायोपिया के रोग में आँख की वे पसलियाँ जो आँख के गोलक के ऊपर अपना नियन्त्रण रखती हैं और जो आँख की रेटिना को आँख के लेंस के समीप अथवा दूर लाकर वाह्यपदार्थ की योग्य प्रतिमा प्राप्त करने में सहायक होती हैं अक्रिय हो जाती हैं। जब योग्य व्यायाम के द्वारा गति-सञ्चार की जाती है तो उनके आँख के गोलक पर नियन्त्रण करने की शक्ति बढ़ जाती है और इस तरह आँख की दर्शन शक्ति में भी उन्नति होती है। आँख के व्यायाम करने में आँख का मिचमिचाना, पुतली को ऊपर नीचे करना, तिरछे-दायें-बायें देखना, दूर के पदार्थ पर दृष्टि उठाना विशेष लाभकारी होता है, इसके अतिरिक्त गर्दन की नसों के व्यायाम से भी आँख की दर्शन-शक्ति बढ़ती है। प्राकृतिक चिकित्सा पुस्तक पढ़ने को नहीं रोकती, किन्तु नियमित रूप से पढ़ने की आवश्यकता दर्शाती है। जहाँ तक हो सके, पढ़ने-लिखने का काम दिन को ही करना चाहिए। किरासन तेल की सहायता से अथवा बिजली की सहायता से पढ़ने से आँख कमजोर हो जाती है। पढ़ते समय बीच-बीच में आँख को मिचमिचाना चाहिए और कभी-कभी आँख बन्द कर के बैठ जाना चाहिए।

नेत्र के स्वास्थ लाभ का तीसरा उपाय आराम है। हमारे दिन भर के काम करने से हमारी जो शक्ति खर्च होती है उसकी पूर्ति आराम के समय होती है। यदि मनुष्य को योग्य आराम

न मिले तो चाहे वह कितना ही अच्छा भोजन क्यों न करे, व्यर्थ जाता है। आराम दो प्रकार का होता है—एक निद्रा का, दूसरा जागृतावस्था का। कितने ही लोग कई घन्टों तक बिस्तर पर पड़े रहने पर भी निद्रा का वास्तविक लाभ नहीं प्राप्त करते। पहले तो उन्हें वहुत देर तक नींद ही नहीं आती और यदि झपकी लग ही जाय तो वे बड़े भयंकर स्वप्न देखने लगते हैं। इसका कारण उनके मन में चलते रहनेवाले अभद्र विचार और अतिरिक्त वासनाएँ रहती हैं। भली भाँति सोने के लिए इन विचारों और भावनाओं से युक्त होना आवश्यक है। यदि कोई मनुष्य कोई चिन्ताजनक विचार लेकर सो जाता है तो वह सोकर उठते समय नई स्फूर्ति का अनुभव नहीं करता, वह थकावट और मानसिक चिन्ता का अनुभव करता है। मनुष्य जिन विचारों को लेकर सोता है, वे उसकी सुप्तावस्था में चलते रहते हैं और मनुष्य का सोकर उठकर प्रसन्नता अथवा खिन्नता का अनुभव करना इन विचारों के गुणों पर निर्भर करता है। आशावादी मनुष्य को सब लोगों के प्रति सद्-भावना के विचार लेकर सोना स्वास्थ्य-प्रदान करता है। समस्त शरीर के स्वास्थ्य के साथ-साथ नेत्र का स्वास्थ्य भी बढ़ जाता है।

आराम

नेत्रों के लिए इसके अतिरिक्त विशेष आराम की भी आवश्यकता होती है। इसके लिए मनुष्य को आँख मूँद कर और सब अंगों को शिथिल करके आरामकुर्सी पर बैठ जाना चाहिए अथवा शवासन में पड़ जाना चाहिए। अपने आँख के सामने

आनेवाले अन्धकार के ऊपर ही अपने ध्यान को जमाना चाहिए। इस तरह का अभ्यास प्रतिदिन दस पन्द्रह मिनट दो तीन बार करने से आँख को ज्योति बढ़ जाती है। हेनरी बेंजिबुल महाशय ने इस प्रकार के अभ्यास को बड़ा लाभकर बताया है।

नेत्र रोग के मानसिक कारण

प्रत्येक शारीरिक रोग के एक भौतिक और दूसरे मानसिक कारण होते हैं। नवीन मनोविज्ञान की खोजें प्रति दिन यह सिद्ध कर रही हैं कि हमारे बहुत से शारीरिक रोगों के कारण मानसिक होते हैं और प्रत्येक शारीरिक रोग में भौतिक कारण के अतिरिक्त मानसिक कारण अवश्य रहता है। हमारे मन के भाव हमारे शरीर पर अवश्य प्रभाव डालते हैं। उत्तम भाव स्वास्थ्य की वृद्धि करते हैं और अनुत्तम भाव उसका विनाश।

जो नियम सम्पूर्ण शरीर के स्वास्थ्य के विषय में लागू होता है, वह उसके किसी विशेष अंग के विषय में भी लागू होता है। हमारे मन के कुछ ऐसे अवाञ्छनीय भाव हैं जो नेत्र के स्वास्थ्य को विशेष हानि पहुँचाते हैं। क्रोध, ईर्ष्या, शोक और चिन्ता नेत्र की दर्शन-शक्ति के विनाशक हैं। ऐसे तो हमारा साधारण विचार इस प्रकार की धारणा का समर्थक है ही, आधुनिक मनोविज्ञान की खोजें इसे योग्य दृष्टान्त द्वारा प्रमाणित कर रही हैं। इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय हैं।

क्रोध के द्वारा किस तरह मनुष्य अन्धे हो जाते हैं, इसका एक अच्छा उदाहरण ब्राउन महाशय की 'ले एनालेसिस' नामक पुस्तक में पाया जाता है। एक प्रतिष्ठित धनी व्यक्ति की स्त्री व्यभिचार करने लगी। इसका ज्ञान धनी मनुष्य को हो गया। वे अपनी स्त्री के इस आचरण पर बहुत क्रुद्ध हुए किन्तु अपने क्रोध को प्रकाशित न कर सके। वे उसे तलाक देना चाहते थे, किन्तु अपनी पत्नी के तलाक देने से उनकी समाज बनी प्रतिष्ठा के नष्ट होने की सम्भावना थी। वे अपनी प्रतिष्ठा को नष्ट नहीं करना चाहते थे। अब तो वे मन ही मन जलने लगे। थोड़े ही दिनों में वे अन्धे हो गए।

क्रोध

उक्त उदाहरण में प्रतिष्ठित व्यक्ति का मन उस व्यभिचारिणी पत्नी के मुँह को नहीं देखना चाहता था। उसका मुँह देखने से उसे बड़ा दुःख होता था। किन्तु वह इसे रोक भी नहीं सकता था। जिस बात से बचने का रास्ता उस व्यक्ति की साधारण-बुद्धि नहीं खोज सकती थी, उससे बचने का मार्ग उसके अचेतन मन ने खोज लिया।

हाल हीं में लेखक ने एक परिवार के दो ऐसे व्यक्तियों को देखा जिन्हें सदा किसी न किसी प्रकार का रोग रहा ही करता था। इन्हें नेत्र-रोग विशेषकर पीड़ा देता था। ये दोनों एक दूसरे को नहीं चाहते थे। तिसपर भी दोनों को साथ-साथ रहना पड़ता था। नेत्र रोग के विषय में खोज करने से पता चला कि उनका आपस का विरुद्ध सम्बन्ध ही उनके रोग का

प्रधान कारण है। उन सास-बहुओं में परस्पर अनबन रहती है और तिसपर भी उन्हें साथ रहना ही पड़ता है इसीसे उन्हें अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। जिस व्यक्ति को दब कर रहना पड़ता है, विशेषकर उसे अधिक रोग होते हैं।

ईर्ष्या के कारण भी नेत्र-रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जब हम दूसरे का बड़प्पन नहीं देख सकते और उन्हें किसी प्रकार की हानि भी नहीं पहुँचा सकते तो हम अपने स्वास्थ्य का

ईर्ष्या

ही विनाश कर लेते हैं। जैसे-जैसे संसार में प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या का भाव बढ़ता जाता है, नेत्र रोगों की वृद्धि होती जाती है। जिस व्यक्ति से हम ईर्ष्या करते हैं उसे नहीं देखना चाहते और जब हम उसको अपनी दृष्टि से अलग करने में असमर्थ रहते हैं तो अपनी दर्शन-शक्ति का ह्रास कर देते हैं।

हाल ही में लेखक के एक मित्र अपनी नौकरी से नेत्र-रोग के कारण छुट्टी लेकर आए। उन्होंने नेत्र-रोग से मुक्त होने के लिए अनेक प्रकार के उपचार किए। अन्त में उन्होंने प्राकृतिक-चिकित्सा की शरण ली। जिस समय वे अपनी प्राकृतिक-चिकित्सा करा रहे थे लेखक से उनकी भेंट हुई। उनसे नेत्ररोग के विषय में पूँछ-ताँछ करने से पता चला कि जब वे नौकरी पर जाते हैं तब उनका नेत्र-रोग बढ़ जाता है और जब वे घर आते हैं तब उनका नेत्र-रोग अच्छा होने लगता है। उनके जीवन की कुछ और बातें सुनकर लेखक को निश्चय हुआ कि उनका आन्तरिक मन उस स्थान में नहीं रहना चाहता जहाँ वे नौकरी किए

थे। किन्तु वे अपनी नौकरी भी नहीं छोड़ सकते थे। नेत्र-रोग की बीमारी उन्हें नौकरी छोड़ने के लिए बाध्य कर रही थी। वास्तव में उनके साथी आफिसर उन्हें अप्रिय थे। लेखक ने उन्हें नौकरी छोड़ने की सलाह दी। नौकरी छोड़ने पर वे अपने नेत्र-रोग से शीघ्रता से मुक्त हो गए। प्राकृतिक चिकित्सा ने नेत्रों को स्वास्थ्य-प्रदान करने में अपना काम अवश्य किया, किन्तु अनुकूल मानसिक परिस्थिति के अभाव में यह चिकित्सा निष्फल हो जाती थी।

शोक

शोक के कारण नेत्र को जितनी आकस्मिक हानि पहुँचती है उतनी दूसरे किन्हीं कारणों से नहीं पहुँचती। बहुत से व्यक्ति अपने निकटतम सम्बन्धियों के मर जाने पर अन्धे हो जाते हैं। बहुत-सी माताएँ तथा पिता पुत्र-शोक में एका-एक अन्धे हो जाते हैं। लेखक के एक वयोवृद्ध मित्र ने अपने जीवन में देखी हुई एक घटना का वर्णन किया जो यहाँ उल्लेखनीय है।

कानपुर निवासी दीनदयाल तिवारी नामक एक सज्जन का एकलौता लड़का, जो वकील हो चुका था, एक आकस्मिक दुर्घटना से रास्ते में गिर कर मर गया। इसकी खबर उनके पिता को सवेरे मिली। उनके पिता उस स्थान पर आए जहाँ पर उस लड़के का शव पड़ा था। शव के देखते ही उनको बड़ा मानसिक धक्का लगा और वे जन्म भर के लिए अन्धे हो गए।

चिन्ता के कारण भी नेत्र-रोग उत्पन्न हो जाते हैं। चिन्ता

से पहले बदहजमी होती है। इससे फिर रक्त और नाड़ियों में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। शरीर की सभी क्रियाओं को गति मन्द हो जाती है। निद्रा कम आने लगती है। इन सबके कारण नेत्र की देखने की शक्ति भी क्षीण हो जाती है। नेत्र की दर्शन-शक्ति नेत्र की पसलियों और नाड़ियों के ठीक से काम करने के ऊपर निर्भर रहती है। चिन्ता के कारण ये नाड़ियाँ जकड़ जाती हैं और अपना काम ठीक से नहीं करतीं। इससे दर्शन-शक्ति में कमी हो जाती है। प्राकृतिक चिकित्सा के द्वारा नेत्र के दर्शन-शक्ति में सुधार होता है। प्राकृतिक चिकित्सा करते समय विशेष प्रकार के नेत्रों का व्यायाम करना पड़ता है। यदि हम इस व्यायाम के मानसिक पहलू को देखें तो हम इसे चिन्ता से मुक्त करने की एक विशेष प्रकार की विधि पावेंगे। किसी भी प्रकार का शारीरिक व्यायाम तब तक स्वास्थ्यकर नहीं होता जब तक कि उसे निश्चिन्त होकर नहीं किया जाता। शारीरिक व्यायाम मानसिक शिथिलता अथवा उपराम प्राप्त करने की विधि है।

चिन्ता

नेत्रों के मानसिक कारण जानकर बहुत से जटिल नेत्र-रोगों का उपचार सफलतापूर्वक किया जा सकता है। यदि हम प्राकृतिक चिकित्सा के साथ-साथ नेत्र-रोग से मुक्त होने के लिए मानसिक चिकित्सा भी करें तो हमें बड़ी शीघ्रता के साथ सफलता मिले। प्राकृतिक चिकित्सा करते रहना नेत्र-रोग से मुक्त होने के

नेत्र रोग का उपचार

लिए आवश्यक है। किन्तु इसी को सम्पूर्ण चिकित्सा मान लेना भूल है। अपने रोगों से मुक्त होने के लिए अपने मनोभावों को सुधारना उतना ही आवश्यक है, जितना कि शरीर की क्रियाओं का सुचारु रूप से सञ्चालन। जिन मनोभावों से नेत्र रोग उत्पन्न होते हैं उनके विरोधी मनोभावों का रोगी से अभ्यास कराना उसे स्वास्थ्यलाभ कराने में सहायक होता है। क्षमा, उदारता, वैराग्य और संतोष क्रमशः क्रोध, ईर्ष्या, शोक और चिन्ता के विनाशक हैं। इन भावों का अभ्यास करने से मनुष्य के नेत्रों की शक्ति की वृद्धि होती है। इस अभ्यास की विशेष प्रक्रिया है। किन्तु इस प्रक्रिया के अज्ञान की अवस्था में किसी भी प्रकार से इनका अभ्यास करना लाभदायक होता है। सोते समय मनुष्य को निश्चिन्त होना और सबके प्रति सद्भावना करना नेत्रों के रोग निवारण के लिए विशेष लाभकारी होता है। सोने के समय हमारे शरीर के स्नायुओं का निर्माण होता है और हमारी सद्भावना इस निर्माण में महत्व का काम करती है।

क्षयरोग

क्षय रोग वैद्यों द्वारा असाध्य शारीरिक रोग समझा जाता है। क्षयरोग का उपचार उसकी पहली अवस्था में होना संभव है, दूसरी अवस्था में पहुँचने पर बड़ा कठिन है और तीसरी अवस्था में पहुँचने पर असंभव समझा जाता है। क्षय रोग छूत का रोग है। जिस रोगी को क्षय रोग होता है उसे स्वस्थ

क्षय रोग के विषय में सामान्य धारणा

लोगों से दूर रखा जाना आवश्यक समझा जाता है। क्षय रोग का कारण आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार कुछ कीटाणु होते हैं। ये कीटाणु शरीर में पहुँच कर वृद्धि करने लगते हैं। जिस शरीर में साधारण जीवन की क्रियायें ठीक से नहीं होतीं उन्हें क्षय रोग हो जाया करता है। डाक्टर और वैद्य लोग क्षय रोग से बचने के लिये मनुष्य का खुली आबहवा में रहना, ऐसे मकान में रहना जहाँ सूर्य की किरणें पर्याप्त पड़ती हों, आवश्यक समझते हैं। सूर्य की किरणों से क्षय रोग के कीटाणु मर जाते हैं। फलाहार भी क्षय रोग को रोकने में लाभदायक होता है।

क्षय रोग के साधारण चिकित्सक न तो क्षय रोग के मानसिक कारण पर ही विचार करते हैं और न मानसिक उपचार पर ध्यान देते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों से यह निश्चित हो रहा है कि हमारे अनेक शारीरिक रोगों का मानसिक कारण होता है। रोग का शारीरिक कारण तो होता ही है पर मानसिक कारण के अभाव में शारीरिक कारण उतना भयानक परिणाम नहीं उत्पन्न करता। क्षय रोग का एक प्रधान मानसिक कारण आत्मभर्त्सना की मनोवृत्ति है। जो मनुष्य किसी कारणवश अधिक पश्चाताप करते रहते हैं अथवा अपने आपको कोसते रहते हैं; जिनके जीवन में उत्साह की कमी होती है, जो अपने व्यवसाय को पसंद न करते हुए उसमें लगे रहने के लिये वाध्य होते हैं, उन्हें दमा अथवा क्षय रोग हो जाने की

क्षय रोग का मानसिक कारण

संभावना रहती है। इन दोनों रोगों का प्रतिकूल परिस्थिति में रहने से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।

कितने ही नवयुवक और नवयुवतियों को क्षय रोग इस लिये हो जाता है कि वे अपने आपको किसी कारणवश कोसने लग जाते हैं। किशोरावस्था में कामवासना सम्बन्धी कुकृत्यों के कारण कितने ही बालकों में आत्म-भर्त्संना की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। यह आत्मग्लानि की भावना क्षय रोग का कारण बन जाती है। बालकों में हस्तमैथुन की आदत भी क्षय रोग का कारण होती है। इस रोग के कारण शारीरिक क्षति उतनी नहीं होती जितनी कि मानसिक ग्रन्थि की होती है। आत्मग्लानि से ही क्षय रोग की जड़ जम जाती है। आत्मग्लानि से पीड़ित व्यक्ति निकम्मा हो जाता है। उसमें नये काम करने का उत्साह नहीं रहता। वह अपने सभी कामों में विफल होने लगता है और उसे सभी काम भाररूप ढोने पड़ते हैं। अतएव यदि बालकगण अपनी काम कुचेष्टाओं से बचाये जा सकें तो उनकी न तो मानसिक प्रसन्नता नष्ट हो और न असाध्य मानसिक रोगों के वे शिकार बनें।

आत्म भर्त्संना

प्रतिकूल वातावरण में पड़ जाने से भी क्षय रोग उत्पन्न हो जाता है। लेखक का एक मित्र ऐसे काम में लग गया जिसे वह छोड़ना चाहता था, पर छोड़ नहीं सकता था। जिस स्थान पर वह रहता था वहाँ से वह चला जाना चाहता था। पर वह जा नहीं सकता

प्रतिकूल वातावरण

था। उसके विचार धीरे धीरे निराशावादी हो गए, पीछे उसे क्षय रोग हो गया। इसी तरह कितने ही लोग अपनी रुचि के अनुसार रोजगार न पाने पर क्षय रोग से पीड़ित हो जाते हैं। इसी प्रकार जब स्त्रियों को मनमाना पति नहीं मिलता अथवा वे किसी ऐसे घर में विवाहित होती हैं जहाँ उनको घर के सभी लोग तंग करते रहते हैं तो उन्हें क्षय रोग हो जाता है। नपुंसक पुरुष से विवाह हो जाने से भी बहुत सी कुलीन घराने की युवतियों को क्षय रोग हो जाता है। जब मनुष्य के जीवन की आशाओं के फलित होने की संभावना नहीं रहती तो उसे कोई ऐसा रोग पकड़ लेता है जिससे उनके शरीर का अन्त हो जाता है।

मनुष्य को क्षय रोग तब तक नहीं होता जब तक कि उसके प्रतिकूल उसकी शारीरिक और मानसिक परिस्थिति नहीं होती। क्षय रोग के कीटाणु सदा वातावरण में रहते हैं और यदि इन कीटाणु के शरीर में प्रवेश कर जाने से ही क्षय रोग हो जाता तो आज दिन तक संसार में कोई मनुष्य जीवित ही न बचता। पर ये कीटाणु तभी घातक होते हैं, जब कि वे मनुष्य के शरीर में उचित भूमि पाते हैं। दूसरे हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि क्षय रोग इतना अव्यापक रोग नहीं है जितना कि वह समझा जाता है। अनेक अनुभवी डाक्टरों का कथन है कि संसार के अधिक लोगों को क्षय रोग होता है किन्तु क्षय रोग से प्रायः सभी लोग बच जाते हैं। क्षय रोग से वही लोग मरते हैं जिनका शरीर दूसरे कारणों से निर्बल हो जाता है। यदि

मनुष्य का शरीर निर्बल न हो तो उसे क्षय रोग के कीटाणु घातक सिद्ध न हों। पौष्टिक भोजन, खुली हवा और सूर्य की रोशनी में रहने से रोग नष्ट हो जाता है। क्षय रोग से आक्रान्त हजार में एक व्यक्ति की मृत्यु होती है।

क्षय रोग का निवारण—आत्म-निर्देश

क्षय रोग से पीड़ित व्यक्ति को यदि यह न बताया जाय कि उसे क्षय रोग हुआ है और यदि उससे क्षय रोग असाध्य रोग न कहा जाय तो उसका भारी कल्याण हो। जब क्षय रोग के रोगी को यह कह दिया जाता है कि उसे क्षय रोग हो गया है तो वह हतोत्साह हो जाता है। ऐसी अवस्था में उसका रोग से बचना कठिन हो जाता है। लेखक एक ऐसे रोगी को जानता है जिसे क्षय रोग था, पर उसे बताया नहीं गया। जब एक प्रतिष्ठित वैद्य ने उससे कह दिया कि तुम्हें क्षय रोग हो गया है तो उसी समय से उसका उठना-बैठना असंभव हो गया। इसी रोगी को प्रति निर्देश के द्वारा क्षय की बीमारी से मुक्त किया जा सा सका। पीछे लोगों ने यही कहा कि उसका रोग भ्रम मात्र था। लेखक को एक पञ्जाबी नवयुवक एक बार रेल में मिला। यह फौज का अफसर था। यह बड़ा हट्टा-कट्टा था। उसने अपनी जीवनी बताते हुए कहा कि मुझे क्षय रोग हो गया था और मैं एक प्रसिद्ध क्षय रोग के सेनेटोरियम में दो साल रह चुका हूँ। जब वहाँ के डाक्टरों ने मेरे बचने की कोई उम्मेद न देखी तो मुझे वहाँ से भेज दिया। घर पर आकर मैं एक बगीचे

में रहने लगा। यहाँ मैंने स्वामी विवेकानंद के लेख पढ़ना प्रारंभ किया और अपने विचारों में इस प्रकार पूरा परिवर्तन कर डाला। मैं धीरे-धीरे आत्मनिर्देश के द्वारा उस घातक रोग से एकदम मुक्त हो गया।

लेखक का एक फुफेरा भाई भी एक बार क्षय रोग से पीड़ित था। उसकी अंतिम घड़ियाँ आ चुकी थीं। फिर उसके मन में संकल्प आया कि यदि मैं बच जाऊँगा तो अपना जीवन भगवान के भजन में व्यतीत करूँगा। धीरे-धीरे वह उस रोग से मुक्त हो गया और आज दिन तक स्वस्थ होकर अपना काम कर रहा है।

क्षय रोग को भयानक रोग न समझना उससे मुक्त होने का एक उपाय है। जो लोग क्षय रोग को असाध्य कह कर डरावना बना देते हैं वे क्षय रोग से प्राणान्त करनेवालों की संख्या बढ़ाते हैं। कहा जाता है कि स्विट्ज़रलैंड में योरोप के सभी क्षय रोग के बीमार मनुष्य स्वास्थ्यलाभ करने जाते हैं और वहाँ के प्रायः सभी निवासियों को क्षय रोग होता है। पर इसके कारण वे लोग मर नहीं जाते। कुछ डाक्टरों का कथन है कि क्षयरोग प्रत्येक मनुष्य को होता है। ८ वर्ष, १२ वर्ष, १६ वर्ष, २५ वर्ष और ४० वर्ष की अवस्था में क्षयरोग का एक बार आक्रमण होता है। इसे साधारण डाक्टर पहचान नहीं पाते। जिस व्यक्ति को पहली अवस्था में क्षय रोग हो जाता है। वह आगे चलकर, (जब उसे क्षय रोग का आक्रमण होता है तो) उसका सफलतापूर्वक सामना करता है।

रोग के प्रति दृष्टिकोण

जिस व्यक्ति को पहले क्षय रोग नहीं हो पाता वही आगे चलकर (जब उससे पीड़ित होता है तो) अधिक हानि पाता है। क्षय रोग से बचे हुए डाक्टर को ही क्षय रोग के अस्पताल में रखते हैं क्योंकि जिस व्यक्ति को यह रोग एक बार हो चुकता है उसे उसकी बू तक नहीं लगती।

मैत्री भावना का अभ्यास

क्षय रोग से बचने का एक उपाय अपने जीवन को परोपकार में लगा देना है। जो व्यक्ति अपने जीवन को जितना ही अधिक परोपकार में लगाता है वह अपने मन का बल उतना ही अधिक बढ़ाता है। निर्बल मन रोग का आवाहन करता है और सबल मन रोग का विनाश करता है। जिस प्रकार की बीमारी मनुष्य को हो, यदि वह उस बीमारी के विषय में चिन्तित न होकर उसी प्रकार की बीमारी से पीड़ित दूसरे व्यक्ति की सेवा करने लग जाय तो उसकी अपनी भी बीमारी नष्ट हो जाय। अपने आपके विषय में चिन्ता करने से रोग अधिक बढ़ता है, दूसरों के विषय में चिन्ता करने से रोग का विनाश होता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक निस्वार्थ बुद्धि से दूसरे रोगियों की सेवा करता है वह उतना ही अधिक उनको स्वस्थ बनाने में सफल होता है क्योंकि उसमें दूसरे के मन में सद्विचार उत्पन्न करने की उतनी ही अधिक शक्ति हो जाती है। मनुष्य के रोग का उपचार, वास्तव में उसके डाक्टर नहीं करते, वह स्वयं आत्मनिर्देश के द्वारा अपना उपचार करता है। इसके लिये

विचारों की शुद्धि होना आवश्यक है और जिस व्यक्ति के अपने विचार शुद्ध हैं वह दूसरों के विचार भी शुद्ध कर सकता है।

अनिद्रा

किसी प्रकार की प्रबल मानसिक उत्तेजना के दमन से अनिद्रा की बीमारी उत्पन्न हो जाती है। अनिद्रा की बीमारी का क्रोध से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब मनुष्य अपने क्रोध को प्रकाशित नहीं कर पाता तो वह अनिद्रा की बीमारी उत्पन्न करता है। क्रोध का प्रकाशन दो कारणों से रुकता है—एक वातावरण के अनुकूल न होने के कारण और दूसरे अपनी नैतिक बुद्धि के कारण। जब किसी कारण से क्रोध का अवरोध होता है तो वह अनिद्रा की बीमारी उत्पन्न कर देता है।

अनिद्रा का मानसिक कारण

अनिद्रा की बीमारी स्वभावतः क्रोधी व्यक्तियों को उतनी नहीं होती जितनी क्रोध न करनेवाले व्यक्तियों को होती है। क्रोध न करनेवाले व्यक्तियों के मन में क्रोध अवश्य आता है, पर वे उसका प्रकाशन नहीं करते। ऐसी अवस्था में यह क्रोध अपने ऊपर ही आरोपित हो जाता है और अनेक प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक बीमारियों में प्रकाशित होता है।

क्रोध और अनिद्रा

लेखक के एक विद्यार्थी को अपने ससुर से क्रोध हो गया। उसकी समझ से वे उसका समादर नहीं करते थे इससे उसे

अनिद्रा की बीमारी हो गई। अनिद्रा की बीमारी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की परिचायक है। इस अन्तर्द्वन्द्व से मनुष्य की मानसिक शक्ति का ह्रास हो जाता है और उसे किसी प्रकार की झक्क उत्पन्न हो जाती है। जिन व्यक्तियों की आत्म-सम्मान की भावना प्रबल होती है उन्हें जितनी अनिद्रा की बीमारी होती है उतनी दूसरे लोगों को नहीं होती। आत्म-सम्मान की प्रबल भावना के व्यक्ति को क्रोध भी अधिक आता है और वह क्रोध का दमन भी अधिक करता है। अतएव ऐसे व्यक्ति को अनिद्रा तथा अन्य मानसिक रोग भी होते हैं।

बहुत से सुशील व्यक्तियों को अनिद्रा का मानसिक रोग होते दिखाई देता है। इसका कारण उनके भीतरी मन में चलनेवाली क्रियायें हैं। सुशील व्यक्ति अपने क्रोध को छिपाने की चेष्टा करता है। वह किसी पर क्रोध आ जाने पर अपने आपको कोसता है। ऐसी अवस्था में उसका मानसिक द्वन्द्व प्रत्यक्ष मन पर न चलकर भीतरी मन में चलने लगता है और उसकी निद्रा भंग होने लगती है। यदि ऐसे व्यक्ति को नींद आती है तो वह भयंकर स्वप्नों को देखता है।

लेखक के एक मित्र उच्च अधिकारी हैं। ये बड़े सुशील व्यक्ति हैं। इन्हें अपनी स्वप्नावस्था में भयंकर स्वप्न आते हैं और इन स्वप्नों के कारण नींद भंग हो जाती है। इसके बाद उन्हें नींद नहीं आती। इसी प्रकार लेखक की एक छात्रा जिसका नाम सुशीला था अपने-आपको किसी प्रकार के दुराचरण के लिये

बहुत कोसती रहती थी। वह नहीं चाहती थी कि किसी प्रकार के क्रोध के विचार उसके मन में अपने शत्रु के प्रति भी आवें। उसे क्षय रोग की झक सवार हो गई थी। पूछताछ करने पर पता चला कि उसे नींद भी कम आती है। लेखक के एक ट्रेनिंग कालेज के छात्र को विशेष प्रकार का गर्दन का दर्द था। इस दर्द का मानसिक कारण था। निर्देशविधि के द्वारा इसका उपचार किया गया। पीछे पता चला कि उन्हें नींद न आने की भी बीमारी है। उनकी नींद जल्दी से टूट जाती है। इन्हें मैत्री भावना का अभ्यास करने की सलाह दी गई। इससे इनकी यह बीमारी जाती रही। इस परिणाम से यह निश्चित हुआ कि ये विद्यार्थी जो देखने में बड़े ही शान्तभाव के थे अपने क्रोध को सदा दबाते रहते थे। इसीके परिणामस्वरूप उन्हें यह रोग उत्पन्न हो गया था।

प्रबल मनोवेगों के रोके बिना मनुष्य की न तो भौतिक और न आध्यात्मिक उन्नति होती है, किन्तु सभी प्रकार की मानसिक बीमारियाँ और अपराध की मनोवृत्तियाँ भी इसीसे उत्पन्न होती हैं। जब मनुष्य अपने मनोवेगों को कुशलता से रोकता है तो उसकी उन्नति होती है और जब उसके रोकने में किसी प्रकार की अकुशलता कर देता है तो अपना और दूसरों का विनाश कर डालता है। शक्ति का संचय उनके अवरोध से ही होता है। संचित शक्ति मनुष्य की उन्नति कर सकती है अथवा उसका विनाश कर सकती है।

जिस प्रकार क्रोध के अवरोध से अनिद्रा की बीमारी उत्पन्न हो जाती है उसी तरह कामवासना के अवरोध से भी अनिद्रा की बीमारी उत्पन्न हो जाती है। कामवासना का अवरोध किसी प्रकार की ऐसी घटना से होता है जिसके कारण आत्मग्लानि उत्पन्न हुई हो। जब कामवासना का अवरोध होता है तो व्यक्ति में विषयलिप्त व्यक्तियों के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न हो जाता है। ऐसा व्यक्ति कामवासना सम्बन्धी किसी बातचीत को सुनना नहीं चाहता। वह कामवासना को उत्तेजित करने वाले चित्रों को नहीं देखता और प्रेम की कविताओं में रुचि नहीं दिखाता। कामवासना का अवरोध कभी-कभी मानसिक नपुंसकता का रूप धारण कर लेता है। जिस व्यक्ति को मानसिक नपुंसकता रहती है वह अपनी स्त्री के चरित्र पर सन्देह करने लगता है। कभी-कभी यह सन्देह किसी प्रकार के लांछन में प्रकाशित होता है और कभी-कभी यह सदा स्त्री को साथ रखने की इच्छा में प्रकाशित होता है। वह अपनी स्त्री को थोड़े काल के लिये भी अकेले नहीं छोड़ना चाहता।

कामवासना का अवरोध और अनिद्रा

हाल में ही लेखक को एक नवयुवक की अनिद्रा की बीमारी का विलक्षण वृत्तांत ज्ञात हुआ। इनकी अवस्था कोई सत्ताईस वर्ष की है और वे एक विश्वविद्यालय के स्नातक हैं। घर के ये सम्पन्न व्यक्ति हैं। तीन साल पहले इनका विवाह हुआ था। विवाह होने के बाद से ही इनके विचारों और व्यवहार में विल-

क्षणता आ गई है। कोई डेढ़ साल से उन्हें अनिद्रा की बीमारी हो गई है। उन्हें अनेक प्रकार के कल्पित शारीरिक रोग सताते रहते हैं। उन्हें क्षयरोग का भी भ्रम बना रहता है। बड़े से बड़े डाक्टरों ने इनके शरीर की परीक्षा की पर रोग का कोई पता न चला। उनका कथन है कि इनका रोग कल्पित है और यह उनके निकम्मे होने के कारण उत्पन्न हो गया है। वे किसी भी काम को देर तक नहीं कर सकते। उनका मन सदा अशान्त और चंचल रहता है। इसके कारण वे अधिक काल तक एक स्थान पर ठहर भी नहीं सकते हैं। किसी भी व्यक्ति से थोड़ी देरतक बात करने के बाद ही वे उठ जाते हैं। इस समय उनका शरीर कृष्काय हो गया है। यदि किसी प्रकार का अशुभ विचार मन में आ जाय तो वे उसे निकाल नहीं सकते। रेल की यात्रा करते समय किसी ज्योतिषी को उन्होंने अपना हाथ दिखाया। उसने उनसे कहा कि उनकी संतान जीवित नहीं रहेगी और उनकी मृत्यु उनकी पत्नी की मृत्यु के पहले ही हो जावेगी। इस विचार ने उनके मन में घर कर लिया। अब वे सदा इसी विचार को सोचा करते हैं।

वे अपनी स्त्री को एक क्षण के लिये भी अकेले नहीं छोड़ना चाहते। वह जहाँ जाती है वे उसके साथ ही जाते हैं। स्त्री के अनेक फोटोग्राफ ले रखे हैं और उन्हें अपने कमरे में सदा अपने सामने रखते हैं। इससे यह दिखाई देता है कि वे अपनी स्त्री को बहुत प्यार करते हैं। वे अपनी स्त्री को सदा किसी-

न-किसी काम में लगाये रहते हैं। वह उनकी सेवा में ही सदा लगी रहती है। उसे कभी चैन से न तो सोने देते और न ठीक से भोजन करने देते हैं। एक बार वह चार-पाँच दिन तक भूखी ही रह गई; पर इसकी उन्हें चिन्ता न हुई। जब कभी भोजन करने स्त्री बैठती है तो वे कह बैठते हैं कि तुम समझती हो मैं स्वस्थ हूँ इससे तुम मजे से भोजन कर रही हो। सोते में उसे जगा देते हैं और उससे कहते हैं कि मैं दुःख में पड़ा हूँ, तुम सुख की नींद सो रही हो। स्त्री को बार-बार यही कहते हैं कि मुझे तो तुम्हारे पहले ही मर जाना है। इससे स्त्री को भारी मानसिक क्लेश होता है।

उपर्युक्त रोगी के विषय में और अधिक पता चलाने से ज्ञात हुआ कि वे सुहागरात के दिन भी अपनी पत्नी से नहीं मिले थे। उस दिन उनके मित्र ही उनके पास रहे थे। संभव है कि वे अब भी अपनी स्त्री से मिलना न चाहते हों। उनके मन में कामवासना का अवरोध है। किसी ने उनके ऊपर नपुंसकता का भी सन्देह किया था। इससे वे बहुत अप्रसन्न हुए थे। वास्तव में उनका रोग उनकी मानसिक नपुंसकता के छिपाने का एक उपाय है। इस प्रकार की नपुंसकता का कारण रोगी में कोई शारीरिक कमी नहीं है, वरन् किसी प्रकार की मानसिक ग्रन्थि है, जो पुराने अनुभव के कारण बन गई है। स्त्री की उपस्थिति में उसके प्रति प्रेम की उत्तेजना न होकर उनके मन में अब घृणा की उत्तेजना होती है। यह कामवासना के विकार का

परिणाम है। उनके सदा यह कहने का कि मैं अपनी स्त्री के पहले मर जाऊँगा और उसकी कोई सन्तान जीवित न रहेगी इसका यह अर्थ है कि उनकी स्त्री यदि पहले ही मर जाय तो अच्छा हो। उन्हें स्त्री एक भार के रूप में दिखाई देती है। इसकी अज्ञात चिन्ता ही उन्हें परेशान कर रही है और इसके कारण ही न उन्हें चैन मिलती है और न रात में नींद आती है।

जिस किसी व्यक्ति में मानसिक नपुंसकता आ जाती है उसका सांसारिक जीवन निरानंद हो जाता है। उसे अपनी स्त्री के चरित्र पर सन्देह होने लगता है। इसके कारण उसे नींद भी कम आती है। उक्त व्यक्ति विवाह होने के पूर्व पूर्ण स्वस्थ था। वह बुद्धि और आचरण में दूसरे नवयुवकों जैसा ही था। उसकी बीमारी का प्रारंभ उसके विवाह के बाद ही हुआ। देर से शादी करनेवाले नवयुवकों के मन में अपने पुरुषत्व के विषय में अनेक प्रकार के सन्देह उत्पन्न हो जाते हैं। इसके कारण जब वे विवाह करते हैं तो वे अपनी पत्नी से वैसा सम्बन्ध नहीं रख पाते जैसा कि किशोरावस्था में शादी होनेवाले व्यक्ति रखते हैं।

जब किसी व्यक्ति को समाज में अपना सम्मान खो जाने का सन्देह हो जाता है तो उसे अनिद्रा की बीमारी हो जाती है। एडलर महाशय के कथनानुसार अनिद्रा की बीमारी का प्रधान कारण आत्म-हीनता की मानसिक ग्रन्थि ही है। बीमारी के

आत्महीनता की भावना और अनिद्रा

द्वारा रोगी अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करता है। जब मनुष्य के भीतरी मन में आत्म-विश्वास की कमी होती है पर वह बाहरी परिस्थिति के कारण किसी प्रकार की भारी जिम्मेदारी ले लेता है तो उसे अनिद्रा की बीमारी हो जाती है। यह बीमारी मनुष्य को आत्म-भर्त्सना की पीड़ा से बचा लेती है।

कितने ही विद्यार्थियों को परीक्षा के समय अनिद्रा की बीमारी हो जाती है। यह बीमारी उन्हीं विद्यार्थियों को होती है जो अपने आपसे बड़ी-बड़ी आशायें करते हैं और जिनमें वास्तविक योग्यता कम होती है। जब विद्यार्थी के सम्बन्धी विद्यार्थी से बड़ी आशा करने लगते हैं और वह अपने-आप में उन आशाओं की पूर्ति की संभावना नहीं देखता तो वह किसी प्रकार के रोग का सहारा ले लेता है। अनिद्रा की बीमारी इसी प्रकार की मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप होती है।

आत्महीनता के कारण जो रोग किसी व्यक्ति को उत्पन्न हो जाता है उसका प्रचार स्वयं रोगी ही करता देखा गया है। जिस विद्यार्थी को परीक्षा के समय अनिद्रा की बीमारी हो जाती है वह सभी लोगों से अपनी बीमारी के बारे में कहते फिरता है। जब वह बिस्तर पर पड़ता है तो वह कुछ-न-कुछ करते रहता है और कुछ नहीं तो करवटें बदलते रहता है। इसका अर्थ यही है कि वह नींद भंग करने का उपाय अपने-आप ही रचते रहता है। नींद चुपचाप एक जगह पड़े रहने पर ही आ सकती है। इसे छोड़ अनिद्रा का रोगी सभी कुछ करते रहता है।

अनिद्रा अन्य प्रकार के मानसिक रोग की पूर्व अवस्था है। अनिद्रा से जब मनुष्य की मानसिक शक्ति कम हो जाती है तो किसी प्रकार का अशुभ विचार मन में आकर घर कर लेता है।

अनिद्रा और अन्य मानसिक रोग

इस विचार से लड़ने में फिर मानसिक शक्ति खर्च होने लगती है। कभी-कभी जिस अभद्र विचार को व्यक्ति मन से निकालना चाहता है उसीके अनुसार वह आचरण भी करने लगता है। अनिद्रा से पीड़ित रोगी किसी शारीरिक रोग की खोज में रहता है। जब वह किसी शारीरिक रोग का सहारा पा लेता है तो प्रायः उसका अनिद्रा का रोग कम हो जाता है। वास्तव में शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार के रोग मानसिक विकार को बाहर निकालने के मार्ग हैं। जब एक मार्ग का अवरोध होता है तो दूसरे मार्ग से मानसिक विकार बाहर निकलने लगता है। प्रत्येक व्यक्ति में मानसिक पीड़ा से बचने की प्रबल इच्छा आन्तरिक इच्छा रहती है। अतएव जब उसे शारीरिक रोग और मानसिक रोग के बीच चुनाव करना पड़ता है तो वह शारीरिक रोग को ही पसंद करता है।

अनिद्रा के रोग का अन्त रोगी के मन में आत्म-विश्वास उत्पन्न करके अथवा मैत्री भावना की वृद्धि करके किया जा सकता है।

अनिद्रा का उपचार

आत्मविश्वास की वृद्धि के लिये पुरानी मानसिक ग्रन्थि का रेचन करना और रोगी को रचनात्मक कार्य में लगाना आवश्यक है।

मैत्री भावना की वृद्धि प्रतिदिन के अभ्यास से होती है। दूसरे लोगों के हित का चिन्तन करना, बालकों की सेवा करना, सभी लोगों के प्रति सब समय और विशेषकर सोते समय सद्विचार लाने से, मनुष्य के मन में मैत्री भावना की वृद्धि होती है। इसकी वृद्धि होने पर बुरे स्वप्नों का आना बन्द हो जाता है और अनिद्रा के रोग का अन्त हो जाता है।

लेखक की एक छात्रा को परीक्षा के समय अनिद्रा की बीमारी हो गई थी। इस अनिद्रा के कारण उसे पहले का पढ़ा हुआ विषय भूल रहा था। इसके कारण वह परीक्षा में बैठना नहीं चाहती थी। परीक्षा में न बैठ सकने की चिन्ता से अनिद्रा की बीमारी और भी बढ़ रही थी और इसके कारण उसकी विस्मृति बढ़ती जाती थी। इस प्रकार एक चक्कर उसकी मानसिक स्थिति का हो गया था। लेखक जब उसके घर गया तो वह इसी प्रकार की स्थिति में बेचैन थी। यह बीमारी उसे परीक्षा के कुछ पर्चे करने के बाद प्रारंभ हुई थी। इधर चार-पाँच दिन की छुट्टी थी।

उसकी मानसिक स्थिति के अध्ययन से पता चला कि वह प्रथम श्रेणी में पास होने की आशा करने लगी थी, पर उसमें योग्यता द्वितीय श्रेणी में पास होने भर की थी। इस साल उसका विवाह भी होनेवाला था और भावी ससुराल के लोग भी उससे बहुत कुछ आशा करने लगे थे। इस आशा की पूर्ति की जब संभावना न देखी, तो अनिद्रा की बीमारी प्रारंभ हो गई।

चिन्ता अनिद्रा का कारण होती है। अति आशा बढ़ाने से चिन्ता उत्पन्न होती है।

उक्त छात्रा की बीमारी की भौतिक चिकित्सा की गई थी; उससे उसे लाभ न हुआ। लेखक ने उसे आश्वासन दिया कि उसकी स्मृति ठीक है और उसे विषय ठीक तरह से स्मरण है तो उसकी बीमारी कुछ कम हुई। उससे यह भी कहा गया कि परीक्षा से बचने की चेष्टा कायरता है और चाहे फेल क्यों न हो, परीक्षा में बैठना ही चाहिये। इस प्रकार के आश्वासन और प्रोत्साहन से उसे मानसिक शान्ति हुई और उसकी अनिद्रा की बीमारी जाती रही।

अनिद्रा की बीमारी के रोगी के मन से और सब विचार निकल जाते हैं और यही विचार मन में बैठ जाता है कि मुझे नींद नहीं आती। यह विचार ही निद्रा का आना रोक देता है। यह नकारात्मक विचार आत्मनिर्देश का रूप धारण कर लेता है। अनिद्रा का रोगी निद्रा चाहता है पर इसका ध्यान ही उसे सोने नहीं देता। उसे डर रहता है कि यदि मुझे निद्रा न आई तो मैं पागल हो जाऊँगा। यह डर भी उसे नींद नहीं आने देता। इस प्रकार के रोगी की अनिद्रा का अन्त उसे यह आश्वासन देकर किया जा सकता है कि अनिद्रा से सभी लोग पागल नहीं होते। कितने ही लोग महीनों न सोकर स्वस्थ बने रहते हैं। जब तक इस प्रकार का विचार रोगी के चेतन मन तक ही रहता है, उसे लाभ नहीं होता, पर इस विचार के अचेतन मन में

चले जाने से उसे तुरंत लाभ होता है। अनिद्रा से डरनेवाले व्यक्ति से यह अभ्यास कराना आवश्यक है कि अनिद्रा भयानक रोग नहीं। इससे नुकसान नहीं है।

अनिद्रा का रोगी प्रायः चंचल रहता है। इस प्रकार के रोगी को लेटाकर अपने मन को साँस पर केन्द्रित करने के लिये कहा जाय। जिस तरह मनुष्य सोते समय साँस लेता है उसी प्रकार उससे साँस लेने को कहा जाय। कभी-कभी इसके लिये स्वयं चिकित्सक को सोने का अभिनय करना पड़ता है। लेखक के एक छात्र को जो अनिद्रा की बीमारी से पीड़ित था लेखक के एक भिक्षु मित्र ने अपने सामने ही सुला दिया। यहाँ निर्देश विधि का प्रयोग किया गया था। पीछे मैत्री भावना का अभ्यास कराके उसकी अनिद्रा की बीमारी सदा के लिये नष्ट कर दी गई।

कभी-कभी अनिद्रा की बीमारी किसी भारी हानि अथवा मानहानि से हो जाती है। अनिद्रा की बीमारी हानि की स्मृति नहीं होती वरन् भविष्य की चिन्ता होती है। लेखक के एक मित्र को जो एक स्कूल के अध्यापक हैं एक बार अनिद्रा की बीमारी हो गई। उन्होंने लेखक से अनिद्रा से मुक्त होनें का उपाय पूछा। फिर उनकी मानसिक व्यथा को सहानुभूतिपूर्वक सुना गया। वे जिस स्कूल में काम करते थे उसके प्रधान अध्यापक कुछ दिन की छुट्टी पर गये और उन्हें उनकी जगह पर काम करना पड़ा। इसी बीच सरकारी ग्रान्ट भी आई। उन्होंने स्कूल के चपरासी को बैंक भेजा। उसने बैंक से रुपया लाकर घर पर इनकी स्त्री

को बिना गिने दे गया। पीछे जब ये आये तो रुपया उन्होंने गिना। रुपया ९००) था। दूसरे दिन चपरासी से पूछा कि तुम कितना रुपया दे गये थे तो उसने कहा १९००) मैं दे गया हूँ। इसको सुनकर वे अवाक् हो गये। इसकी खबर स्कूल कमेटी के अध्यक्ष को दी गई। कमेटी ने निर्णय किया कि १०००) अध्यापक को देना चाहिये। चपरासी से गिनकर अपने आप रुपया न लेना अध्यापक की भूल है। अध्यापक की तनख्वाह १२५) ही है और उसके सात लड़कियाँ हैं। अब उसको चिन्ता थी कि रुपया कैसे पटाया जायगा; दूसरे उसे अपमानित होने का भी दुःख था। कमेटी ने चपरासी को सच्चा माना और उसे झूठा माना।

इस व्यक्ति को निम्नलिखित कथा कही गई—एक गाँव में एक साधु जा रहा था। वहाँ के कुछ लोग गाँव की देवी के मन्दिर पर इकट्ठे थे। वहाँ पर एक व्यक्ति प्रसाद बटवा रहा था। पूछने से पता चला कि वह सनकी व्यक्ति अपना घोड़ा खो जाने के कारण प्रसाद बटवा रहा है। यह समाचार सुनकर साधु विस्मित हुआ। जब उस सनकी व्यक्ति से कारण पूछा गया तो उसने कहा कि मैं घोड़ेपर सवार हर समय रहता था। जिस समय घोड़ा चोरी गया वह उसपर सवार नहीं था, नहीं तो उसे भी चोर चुरा ले जाते। वह बच गया इसीकी खुशी में वह प्रसाद बटवा रहा है।

इस व्यक्ति से कहा गया कि भाई आपको नुकसान होना था ही। कुछ प्राकृतिक घटनाओं को हम रोक नहीं सकते हैं। इतना

ही पर्याप्त है कि तुम्हें अधिक नुकसान नहीं हुआ। इस अध्यापक के मन में यह बात बैठ गई। इसके बाद वह चिन्तामुक्त हो गया और उसे नींद आने लगी। वैराग्यभाव के आने पर चिन्ता नष्ट हो जाती है और अनिद्रा की बीमारी भी चली जाती है।

बीमारी का भय

बीमारी का डर रहना एक प्रकार का मानसिक रोग है। यह मानसिक कमजोरी का सूचक है। जिस प्रकार वास्तविक मृत्यु की अपेक्षा मृत्यु का डर कहीं अधिक त्रासदायक होता है, उसी प्रकार वास्तविक बीमारी की अपेक्षा उसका डर कहीं अधिक त्रासदायक होता है। कहावत है कि जो मनुष्य जिस बात से डरते रहता है वह बात उसी के मत्थे पड़ती है। इस दृष्टि से देखा जाय तो बीमारी का डर बीमारी से हमें न बचा कर उसे और भी हमारे ऊपर लाद देता है। डर के कारण मनुष्य की बीमारी को रोक सकने की शक्ति कम हो जाती है और इसके कारण बीमारी के कीटाणु अपना दुष्प्रभाव हमारे शरीर पर कर डालते हैं। इसके प्रतिकूल जो व्यक्ति बीमारी से नहीं डरता उससे बीमारी डरती है। जो बीमारी का आना एक स्वाभाविक घटना मानता है और उसके प्रति मैत्री भावना स्थापित कर लेता है उसे बीमारी त्रास नहीं देती। पहले तो ऐसे व्यक्ति को बीमारी होती ही नहीं और यदि हो ही जाय तो अधिक पीड़ा नहीं देती। बीमारी के प्रति अपना मानसिक रुख बदल जाने पर वह प्रायः

रोगी को छोड़ देती है। इस प्रसंग में लेखक के एक मित्र का निम्नलिखित अनुभव उल्लेखनीय है—

लेखक के एक मित्र को सदा यह भय लगा रहता था कि कहीं उसे क्षय रोग न हो जावे। उसके भय के परिणामस्वरूप उसे कुछ दिन में क्षय-रोग वास्तव में हो गया। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि इस व्यक्ति को उस समय भी क्षय रोग का संदेह था जब कि उसे किसी प्रकार की बीमारी न थी। वह अपने शरीर की परीक्षा बार-बार डाक्टरों से कराया करता था। जब एक बार यह प्रमाणित कर दिया गया कि उसे वास्तव में क्षय रोग हो गया है तो वह भुआली के सेनीटोरियम में गया। वहाँ वह रोगियों के समान रहने लगा और अपने जीवन की घड़ियाँ गिनने लगा। वहाँ का डाक्टर एक मनोवैज्ञानिक था। उसने रोगी से कहा कि तुम खूब खाओ, पिओ और किसी प्रकार का परहेज मत करो। पर रोगी को तो पहले से मृत्यु का भय त्रास दे रहा था अतएव वह बड़ी परहेजी के साथ रहता था। इस पर भी जो कुछ वह खाता-पीता था उसे ठीक से पचता नहीं था। डाक्टर ने रोगी को साफ-साफ कह दिया कि यदि तुम भली प्रकार से मन भर भोजन न करोगे तो अवश्य मर जाओगे। यहाँ तुम्हें खूब खाना-पीना और मृत्यु से चुनाव करना है। चाहो तो खूब खा पीकर जीओ और चाहो तो कम खाकर मर जाओ। रोगी ने सोचा कि मरना कोई बुरी बात नहीं, चलो खूब खायँ चाहे बचें अथवा नहीं। ज्यों ही इस प्रकार रोगी ने

मृत्यु का भय त्याग दिया उसका क्षय रोग भी जाता रहा और वह भुआली से मोटा-ताजा होकर आया।

मेरे एक दूसरे मित्र क्षय रोग से बहुत डरा करते थे। वे एक जमींदार थे और उनका विद्याध्ययन अच्छा था। उन्होंने डाक्टरी की कुछ पुस्तकें पढ़ी थीं। उनके घर में कुछ लोगों की मृत्यु क्षय रोग से हो चुकी थी। क्षय रोग के बारे में पता चलाने से ज्ञात हुआ कि यह रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर कीटाणु द्वारा जाता है। ये कीटाणु बातचीत करते समय अथवा खाँसते समय रोगी की साँस के साथ उसके मुँह से बाहर आ जाते हैं और दूसरे स्वस्थ मनुष्य के शरीर में स्वाँस के साथ चले जाते हैं। अतएव इस व्यक्ति को सभी लोगों के समीप बैठकर बातचीत करने से भय हो गया। यह सदा सतर्क रहने लगा कि कहीं दूसरे व्यक्ति की साँस से आकर कीटाणु उसके शरीर में प्रवेश न कर डालें। पर जिस बात से मनुष्य सदा डरते रहता है वह होकर ही रहती है।

एक बार इस व्यक्ति को शीत काल में देर तक शहर में काम करते रहना पड़ा। इससे उसे सर्दी और खाँसी की बीमारी हो गई। अब तो उसके क्षय रोग के भय ने जोर पकड़ा। उसे डर हो गया कि उसे क्षय रोग हो गया है। उसने अपने शरीर की डाक्टरों से परीक्षा कराई और उसका डर और भी पक्का हो गया। खाँसी बढ़ती ही गई और बुखार भी आने लगा। कुछ दिनों के बाद डाक्टरों ने सलाह दी कि वह घर के

बाहर न निकले। अब तो वह सदा बिस्तर पर ही रहने लगे। कुछ दिनों के बाद उनकी मनोवृत्ति हो गई कि मैं अधिक काल तक जीवित न रहूँगा। जिस समय वह सोच रहा था कि मुझे अधिक दिन नहीं जीना है उसी समय उसे एक नई झक सवार हो गई। एक दिन जब वह पेशाब करने के बर्तन में पेशाब कर रहा था तब उसके मन में विचार आया कि कहीं वह उस पेशाब को उठाकर पी न जाय। इससे वह घबड़ा गया। अब यह विचार सदा उसके साथ रहने लगा। इसी प्रकार एक दिन उसके मन में विचार आया कि कहीं वह अपने पाखाने को ही अपने मुँह में न डाल ले। इस विचार ने और भी उसे घबड़ा दिया। अब सदा यही विचार उसे त्रास देते रहता था। इन विचारों से रोगी को एक लाभ हुआ। वह अपने क्षय रोग के भय को भूल गया और उसका क्षय रोग जाता रहा। पर अब एक नई इल्लत उसके ऊपर लग गई है। उसे सदा भय लगा रहता है कि कहीं वह पाखाने को खा न ले। इसके लिये उसको अपने समीप एक व्यक्ति रखना पड़ता है। जो पीड़ा पहले उसे एक शारीरिक बीमारी के भय से होती थी, उससे कहीं अधिक पीड़ा अब उसे विचार मात्र से हो रही है।

बहुत से लोगों को बीमारी नहीं रहती, परन्तु वे बीमारी के भय के कारण ऐसे ही पीड़ित रहते हैं जैसे कि वास्तविक बीमारी से पीड़ित व्यक्ति रहता है। जो व्यक्ति रोगों के विषय में जितना ही अधिक चिन्तन करता है उसे उतने ही अधिक रोग

घेरते हैं। जिस प्रकार भूत के विषय में चिन्तन करनेवाले व्यक्ति को भूत घेरे रहते हैं, उसी प्रकार बीमारी के विषय में चिन्तन करनेवाले व्यक्ति को बीमारी घेरे रहती है। बीमारी का भय करना उसको निमन्त्रण देना है। बीमारी इस तरह जब नहीं भी आती है तो भी उसका त्रास मनुष्य को होता ही है। जो मनुष्य बीमारी को किसी प्रकार भूल जाते हैं उन्हें बीमारी भी भूल जाती है।

इस प्रसंग में डाक्टर होमरलेन द्वारा चिकित्सा किया गया एक महिला का निम्नलिखित रोग का वृत्तान्त उल्लेखनीय है:—

डाक्टर होमरलेन के पास एक ऐसी महिला आई जिसे गेस्ट्राइटीज (पेट का रोग) की बीमारी थी। उसे वास्तविक कोई रोग न था, पर उसे शारीरिक पीड़ा वैसी ही होती थी जैसी कि वास्तविक रोग के समय होती है। उसने अपना इलाज पहले तो साधारण डाक्टरों से कराया, किन्तु जब उनसे कोई लाभ न हुआ तो वह डाक्टर होमरलेन के पास गई। स्वयं उस महिला का पति इस रोग का विशेषज्ञ था। अतएव कोई दूसरे डाक्टर की उसे आवश्यकता ही न थी। उसने रोग का कोई भी शारीरिक कारण न पाया।

डाक्टर होमरलेन के पास वह अपना परिचय ठीक-ठीक न देकर उनसे इलाज कराना चाहती थी। परिचय देने से उसके पति की कीर्ति पर धक्का पड़ता था। पर मानसिक रोगों में पूरा

परिचय देना अत्यन्त आवश्यक होता है। जब इस महिला के पूर्व संस्कार को अध्ययन किया गया तो ज्ञात हुआ कि वह गेस्ट्राइटीज़ के रोगियों की पीड़ा देखकर घबड़ा गई थी। पर उसे विश्वास रहता था कि उसका पति उसे इस रोग से अवश्य बचा लेगा। किन्तु एक बार उसने देखा कि एक महिला इस रोग से पीड़ित होकर स्वयं डाक्टर साहब के सामने उनके घर पर ही मर गई। इससे डाक्टर साहब पर उस रोग से बचा सकने की योग्यता में उसकी श्रद्धा जाती रही। अब उसे भय हो गया कि यदि उसे गेस्ट्राइटीज का रोग हुआ तो उसे मरना ही पड़ेगा। रोग के भय ने उसको इतना विचलित कर दिया कि रोग के न रहते हुए भी वह रोग का अनुभव करने लगी। जब एक बार किसी बात का भय मनुष्य के मन में घर कर लेता है तो फिर उसे विचार के द्वारा बाहर निकालना संभव नहीं होता। इस प्रकार कितने ही व्यक्ति उन रोगों से पीड़ित रहते हैं जिनका उनके शरीर में कोई कारण नहीं है। जब उक्त महिला ने अपने जीवन की सब कथा डाक्टर होमरलेन को कह सुनाई तो उसके भय का कारण प्रकाशित हो गया और भय का भी रेचन हो गया। इसके रेचन हो जाने पर रोग का अन्त हो गया।

यह महिला किसी भी डाक्टर को रोग के वास्तविक कारण को नहीं बताती थी। उसे गेट्राइटीज़ से डर हो गया है इसे वह स्वीकार नहीं करना चाहती थी। ज्योंही उसने अपने मन की कमज़ोरी को स्वीकार किया उसका रोग भी नष्ट हो गया।

बीमारी का भय बीमारी के विषय में सावधानी रखने से नहीं जाता। कभी-कभी यह भय उसकी निरर्थकता पर विचार करने से चला जाता है। परन्तु कई बार इस प्रकार का भय उसकी निरर्थकता पर विचार करने से भी नहीं जाता है। स्वयं रोगी जानता रहता है कि उसका भय निरर्थक है 'तिसपर भी वह उस भय से मुक्त नहीं होता। लेखक का एक छात्र हृदय-रोग के भय से पीड़ित रहता था। उसने अपने हृदय की परीक्षा करवाई पर रोग का कुछ भी कारण न पाया। वह इस भय को व्यर्थ जानकर भी उससे मुक्त नहीं हो सकता था। कभी-कभी बीमारी के भय की व्यर्थता पर विचार करने से उसका विचार और भी मन में दृढ़ हो जाता है।

किसी भी प्रकार के भय का कारण मानसिक कमजोरी होती है। जिस प्रकार कमजोर मन के व्यक्ति को शारीरिक बीमारी का भय त्रास देता है, उसी प्रकार उसके विचार मात्र ही उसे त्रास देने लगते हैं। शारीरिक बीमारी का भय ही मानसिक बीमारी में रूपान्तरित हो जाता है। कितने ही लोगों को भय लगा रहता है कि वे कहीं आत्महत्या न कर डालें, अथवा अपने प्रिय-जन को न मार डालें। कितने लोगों को असगुन से भारी भय हो जाता है। कितने ही लोग ग्रह-नक्षत्रों से डरा करते हैं। इनके कारण वे उसी प्रकार दुःखी रहते हैं जिस प्रकार दूसरे लोग शारीरिक बीमारियों से दुःखी रहते हैं। कभी-कभी प्रकृति मानसिक त्रास से बचाने के लिये मनुष्य को शारीरिक रोग

उत्पन्न कर देती है और कभी-कभी शारीरिक रोग से बचाने के लिये मानसिक रोग को उत्पन्न कर देती है।

रोग का भय अथवा किसी प्रकार का त्रास देनेवाला विचार- मनुष्य के आध्यात्मिक पतन का सूचक है। जब मनुष्य में ईर्ष्या और द्वेष के भाव बढ़ जाते हैं तो उसे अनेक प्रकार के भय और चिन्ताएँ सताने लगती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य को चाहिए कि वह अपने-आपको दूसरे लोगों की सेवा में लगा दे। इससे उसके मन में प्रेम के भाव आते हैं। प्रेम के विचार मनुष्य के मन में दृढ़ता ले आते हैं। इससे उसकी इच्छाशक्ति बलवान होती है और जब मनुष्य की इच्छाशक्ति बलवान हो जाती है तो कोई भी अभद्र विचार उसके मन में नहीं ठहरता। निर्बल इच्छाशक्ति वाला व्यक्ति अभद्र विचारों को मन से बाहर नहीं निकाल पाता; बलवान इच्छाशक्ति से ही अभद्र विचारों से मुक्ति होती है। इच्छाशक्ति का बल प्रेम की वृद्धि और स्वार्थ- त्याग से बढ़ता है। जो व्यक्ति दूसरों को घृणा करता है वह एक दिन अपने-आपको भी घृणा का पात्र बना लेता है। जिस प्रकार के भाव हम दूसरे व्यक्ति के प्रति अपने हृदय में लाते हैं, उसी प्रकार के भाव अपने-आपके प्रति भी अपने मन में उत्पन्न होते हैं। दूसरे को मारने की इच्छा ही आत्म-हत्या के भावों में परिणत हो जाती है, पर हत्या और आत्म-हत्या के भाव एक दूसरे के पूरक हैं। जो व्यक्ति दूसरों का सदा कल्याण चाहता है उसके मन में आत्म-कल्याण के भाव अपने-आप ही उत्पन्न

होते हैं। जीवन का दान दूसरों को देनेवाले व्यक्ति के मन में ही निर्भीकता आती है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि किसी प्रकार के भय से मुक्त होने के लिये मनुष्य अपने-आपको दूसरे के कल्याण करने में लगा दे। जो अपने-आपकी जितनी अधिक परवाह करता है वह अपने-आपको उतना ही अधिक दुःखी बनाता है। जो व्यक्ति अपने विषय में भूल जाता है और दूसरों को सुखी बनाने में अपना समय खर्च करता है वह अपने-आपको अभद्र विचारों से मुक्त करने में उतना ही समर्थ होता है। देखा जाता है कि सीधे-सादे लोगों की अपेक्षा पढ़े-लिखे और चालाक लोगों को ही मानसिक रोग अधिक होते हैं। बीमारी का भय एक प्रकार का मानसिक रोग है। इसका परिणाम शारीरिक रोग हो सकता है, पर इसके न होते हुए भी मनुष्य को मानसिक त्रास होता ही है। मनुष्य की बुद्धि और चालाकी उसे दूसरे लोगों को ठगने अथवा कुशलता से व्यवहार करने में काम देती है, पर अपने-आपको समझने में अथवा अपने भय को भुलाने में वह काम में नहीं आती। इसके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने पूर्व अभ्यास को छोड़ कर प्रति-अभ्यास करे। यदि वह अपने-आपको बड़ा विद्वान् समझता रहा है तो उसे चाहिये कि वह अपने-आपको एक अबोध बालक जैसा जान ले। यदि वह अपने अहंकार के कारण दूसरे लोगों को घृणा की दृष्टि से देखता रहा हो तो उसे चाहिये कि वह उनकी मनोयोग के साथ सेवा करे।

वह अपने-आपको जितना नीचा करने की चेष्टा करेगा उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ उतनी ही सुलझ जायँगी। इसी प्रकार जो व्यक्ति जीने और मरने की परवाह नहीं करता उसके समीप बीमारियों का भय नहीं आता। पर मरने का भय अपने-आप नहीं छूटता। इसके लिये भी मैत्री भावना के अभ्यास की आवश्यकता है। जिस व्यक्ति का मन दूसरे लोगों की सेवा में लगा हुआ है, वही अपनी बीमारी को भुला सकता है और वही मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त कर सकता है।

चिन्ता का उपचार

चिन्ता एक प्रकार का व्यापक मानसिक रोग है। यह रोग मनुष्य मात्र को होता है। जो व्यक्ति जितना प्रतिभाशाली होता है उसकी चिन्ता भी उतनी ही प्रबल होती है।

चिन्ता एक घातक मानसिक रोग

जब मनुष्य का मन किसी प्रकार की चिन्ता से आक्रान्त हो जाता है तो वह धीरे-धीरे अपनी मानसिक शक्ति को खो देता है। मानसिक शक्ति के ह्रास होने पर उसे अन्य प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। कई प्रकार के बाह्य रोग चिन्ता से दुर्बल हुए मन में घर कर लेते हैं। जिस मनुष्य का मन चिन्ता से निर्बल नहीं बन जाता वह दूसरे प्रकार के रोगों का भी सामना कर लेता है।

चिन्ता मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम है। चिन्ता का एक तुरन्त का कारण होता है, और एक स्थायी होता है। तुरन्त का कारण कोई भी घटना हो सकती है। मान लीजिए आपका

लड़का बाहर खेलने चला गया है और उसे घर वापस आने में कुछ देर हो गई, तो यदि आपका मन मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से निर्बल हो गया है, आप अनेक प्रकार के दुखदायी विचार मन में लाने लगते हैं।

चिन्ता का कारण

आपके मन में संदेह उत्पन्न होने लगता है कि कहीं कोई गुण्डा बालक को बहका न ले गया हो, कोई आकस्मिक घटना उसे न हो गई हो, कहीं बालक रास्ता न भूल गया हो। इस प्रकार के अनेक अशुभ विचार मन में आने लगते हैं। लेखक हाल ही में एक महिला से मिला। उसे मूर्छा रोग होने की बीमारी है। यह महिला विदुषी है और ज्ञान-चर्चा में कहीं साधारण लोगों से ऊँची है। उसने अपने मन की स्थिति बतलाते हुए कहा कि मैं जब कभी किसी बात को सुनती हूँ तो उसका बुरा पहलू ही मेरे मन में पहले-पहल आता है। यदि मेरा लड़का स्टेशन जाय और आने में देर लग जाय तो मैं यही सोचने लगती हूँ कि कोई न कोई दुर्घटना उसके साथ हो गई है। हजार अपने-आपको समझाने पर भी मन को शान्ति नहीं मिलती। जब तक लड़का वापस नहीं आता, बेचैनी बनी ही रहती है। इस बेचैनी से शारीरिक थकावट भी उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार की मानसिक स्थिति घटना विशेष के कारण नहीं होती, वरन् मानसिक दुर्बलता के कारण हो जाती है। जब मनुष्य का मन मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के कारण निर्बल हो जाता है तो कोई भी घटना दुखदायी भावना मन में ले आती है।

कभी कभी मनुष्य को स्थायी चिन्ता और भय होते हैं। वह इनसे जितना ही मुक्त होने का उपाय करता है, वे उसे और भी पकड़ते जाते हैं। एक स्थायी चिन्ता का यदि निवारण हो भी जाय तो दूसरी उसी प्रकार की चिन्ता मनुष्य को पकड़ लेती है। यहाँ भी चिन्ता का कारण मानसिक निर्बलता है। कितनी ही चिन्ताओं का बाहर परिस्थिति में कारण होता है, पर कितनी कोरी विकल्प मात्र होती हैं। मन के निर्बल अवस्था में मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनायें उठती हैं और ये कल्पनायें मन में स्थायी बनने की चेष्टा करती हैं। निर्बल मन के व्यक्ति को बाहर के लोगों के सन्निर्देश प्रभावित नहीं कर सकते, किन्तु दुर्निर्देश तुरन्त प्रभावित करते हैं।

मान लीजिए आपका मन अपनी परिस्थिति से सन्तुष्ट नहीं हैं। आपको भय है कि यह परिस्थिति कई दिनों तक चलेगी। आप किसी ज्योतिषी के पास जाते हैं, उससे आप अपने परिस्थिति के बारे में कुछ भी नहीं कहते। ज्योतिषी आपके बारे में दस भली बातें और दो दुखदायी बातें कह देता है। अब मन की निर्बल अवस्था में उन दस बातों की सम्भावना में आपको इतना विश्वास हो जायगा कि उसके कारण आपको नींद आना कठिन हो जायगा। साधारणतः जो लोग अपने भाग्य के विषय में जानने के लिए ज्योतिषी के पास जाते हैं, उनका मन निर्बल होता है। भाग्यवादी कर्तव्यवादी नहीं होता। ऐसे व्यक्ति का ज्योतिषी भाग्य-फल बता कर लाभ न कर नुकसान ही करता

है। अपने भाग्य के पलटने के विषय में अधिक चिन्ता करने-वाला मनुष्य अभागा होता है। मनुष्य अपने भविष्य के विषय में जैसे विचार करते रहता है उसका भविष्य वैसे ही हो जाता है। जब किसी प्रकार का विचार मनुष्य के अन्तर मन तक पहुँच जाता है तो वह बाह्य जगत की घटना में प्रकाशित होने लगता है। पर किसी सद्विचार को दृढ़ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य का मन बलवान हो। निर्बल मन को सदा बुरे विचार ही सूझते हैं। वह अपने अकल्याण के विचारों से प्रयत्न करने पर भी मुक्त नहीं हो पाता। जैसे जैसे वह ऐसे विचारों को भुलाने की चेष्टा करता है वे उसके मन में और भी गहरा स्थान पा लेते हैं। वे व्यक्ति की बाहरी चेतना से तो निकल जाते हैं, पर वे अब स्थायी मानसिक अथवा शारीरिक रोग में प्रकाशित होने लगते हैं।

चिन्ता से मुक्त होने का उपाय चिन्ता को दबाना नहीं, वरन् उसको सुलझाना है। दबाने से चिन्ता बीमारी का रूप धारण कर लेती है। कोई भी रोग दबाने से नष्ट नहीं होता। वह थोड़े समय में अन्तर्ध्यान हो जाता है और पीछे विकराल रूप में प्रकाशित होता है। यही नियम चिन्ता के विषय में लागू होते हैं। चिन्ता दुःखदायी विचार है। यह मानसिक कमजोरी का परिणाम है। अत दुःख भोगकर ही मन बल प्राप्त कर सकता है। यह एक प्रकार की बीमारी है। बीमारी से यदि

चिन्ता से मुक्त होने का उपाय

कोई मनुष्य बच जाय तो वह पहले से अधिक स्वस्थ हो जाता है।

चिन्ता से मुक्त होने के दो मौलिक उपाय हैं। पहला उपाय मन को निर्बल न होने देना और यदि मन निर्बल हो जाय तो उसे बलवान बनाने की चेष्टा करना दूसरा चिन्ता से घबड़ाना नहीं, चिन्ता के आने पर उसका सामना करना और उसका आना ही अपने लिए हितकर समझना। यहाँ इन दोनों विचारों पर कुछ अधिक विचार करना आवश्यक है।

मन की शक्ति का ह्रास अन्तर्द्वन्द्व के कारण होता है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के विषय में मनुष्य को सदा सचेत रहना चाहिये। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व किन्हीं दो प्रबल वासनाओं अथवा धारणाओं के कारण होता है। मनुष्य के आदर्श और उसकी भोगेच्छाओं में विषमता होने के कारण भी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व होता है। जो मनुष्य अपनी इच्छाओं और आदर्शों में जितनी ही समता ले आता है उसका मन उतना ही अधिक शान्त और बली रहता है। इसके लिए एक ओर हमें अपनी इच्छाओं में शोध करना पड़ता है, अर्थात् हमें अपनी मानसिक शक्तियों को किसी उच्च कार्यों के लिए काम में लाना आवश्यक है और दूसरी ओर हमें अपने आदर्शों को व्यवहार्य बनाना पड़ता है।

मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को हटाना

मान लीजिए कोई मनुष्य बड़ा आदर्शवादी है, ऐसे व्यक्ति की सामान्य भोगेच्छायें सदा उसके चेतन मन को धोखा देती

रहेंगी। वे छुपकर अपनी तृप्ति का मार्ग निकालेंगी। मनुष्य का एक अंग ऐसी स्थिति में दूसरे अंग का शत्रु बना रहेगा। इस प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व से मनुष्य के मन का बल नष्ट हो जाता है और उसे किसी प्रकार की चिन्ता सताने लगती है। कितने ही लोगों को अकारण भय होते हैं। ये भय वास्तव में अपने आपके प्रति ही हैं। कितने ही लोग अपने निर्णय पर ठहर ही नहीं सकते, उन्हें सदा सन्देह बना रहता है कि उन्होंने कोई भूल कर दी है। यह सन्देह की मनोवृत्ति प्रबल वासना के दमन का परिणाम मात्र होता है।

कभी-कभी मनुष्य अपने आदर्श के प्रतिकूल आचरण कर बैठता है। इस प्रकार के आचरण के पश्चात् उसके मन में आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य इस दुःख को विस्मरण करने की चेष्टा करता है। अनेक बार प्रयत्न करने पर उसकी दुःखदायी स्मृतियाँ अदृश्य हो जाती हैं। यही अन्तर्द्वन्द्व कभी-कभी चिन्ता का रूप धारण करके प्रकाशित हो जाता है।

मान लीजिए किसी सेठ ने अपने एक नौकर का रुपया जमा कर लिया है। वह नौकर कहीं बाहर चला जाता है और उसकी वहीं मृत्यु हो जाती है। अब उसका लड़का रुपया माँगने आता है। सेठ जानता है कि लड़के के पास कोई प्रमाण नहीं है, अतएव वह रुपया देने से इनकार कर देता है। उसका मन उसे कोसता अवश्य है, पर वह इसे भुलाने का प्रयत्न करता है और इन घटनाओं को भूल भी जाता है। पर अब उसका

मानसिक द्वन्द्व भीतरी मन में चलने लगता है। इसके परिणाम-स्वरूप उसका मन निर्बल हो जाता है। अब अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनायें उसके मन में उठने लगती हैं। वह किसी भी प्रकार का दूसरों से दुर्निर्देश पाते ही, उसी विचार से पीड़ित होने लगता है। अपने लाख प्रयत्न करने पर भी बुरे विचार उसे नहीं छोड़ते। उसे अनेक प्रकार की शारीरिक बीमारियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। उसे अब न अपना कृत्य स्मृत्य है और न मुक्त होने का कोई उपाय ही कर सकता है। यदि उसे किसी प्रकार का सन्निर्देश दिया जाय तो उसका उसमें विश्वास नहीं होता।

जो मनुष्य अपने मन का बल खोना नहीं चाहते उन्हें एक ओर यह आवश्यक है कि वे अपने आपको भली प्रकार से पहचानने की चेष्टा करें, और अपने आदर्शों को उतना ही ऊँचा बनावें, जितना कि प्राप्त कर सकें। अपने आपको धोखा देने की चेष्टा न करें, दूसरे उन्हें सदा इस प्रकार काम करना चाहिए कि मानो कोई अदृश्य द्रष्टा उनके सभी कार्यों को देख रहा है। प्रत्येक भले और बुरे काम का परिणाम होता है। इन परिणाम को देनेवाला हमारा आन्तरिक मन ही है। हम अपने बुरे कामों को संसार से छुपा सकते हैं, पर अपने आपसे नहीं छुपा सकते। इसी प्रकार भले काम चाहे संसार को ज्ञात न हों, पर हमें तो ज्ञात रहते ही हैं। प्रत्येक बुरे काम का परिणाम मन को दुर्बल बनाना होता है और प्रत्येक अच्छे काम का परिणाम मन को सबल बनाना होता है। जब मन निर्बल हो जाता है तो

हमारी कल्पनायें, इच्छायें हमारे हित के प्रतिकूल होती हैं और यही कल्पनायें बाह्य जगत में घटनाओं के रूप में प्रकाशित होने लगती हैं। इस प्रकार हम अपने आपको ही अपने दुष्कृत्यों के लिए दण्ड देते हैं। जब मनुष्य का मन सबल रहता है तो उसकी कल्पनायें उसके हित के अनुकूल होती हैं, वह अभद्र कल्पनाओं को या तो मन में लाता ही नहीं, और यदि अभद्र कल्पनायें मन में आ भी जायँ तो उन्हें वह तुरन्त निकालने में समर्थ होता है। उसके मन में शुभ कल्पनायें ही आती हैं और मनुष्य को उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ाती जाती हैं। इस प्रकार पुण्य अपने आप ही मनुष्य के कल्याण में फलित होता है।

जब अन्तर्द्वन्द्व के परिणामस्वरूप मनुष्य का मन निर्बल हो जाय तो यह आवश्यक है कि उसे किसी न किसी प्रकार बलवान बनाया जाय। मन को बलवान बनाने का एक उपाय आत्मनिर्देश है। आत्मनिर्देश से अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग नष्ट हो जाते हैं। इमील कूए महाशय ने लाखों रोगियों को आत्मनिर्देश के द्वारा स्वस्थ बनाया था। पर आत्मनिर्देश के सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि निर्देश देनेवाले के वाक्यों में श्रद्धा हो। यदि सन्देह की मनोवृत्ति होते हुए कोई व्यक्ति आत्मनिर्देश का अभ्यास करे तो परिणाम उलटा ही होता है। जैसे-जैसे वह अपने आपको स्वास्थ्य का सुझाव देता है, उसका रोग चाहे वह मानसिक हो अथवा शारीरिक, और भी

शुभ आत्मनिर्देश का अभ्यास

जटिल हो जाता है। कभी-कभी थोड़े समय के लिए आत्मनिर्देश के कारण रोग अदृश्य हो जाता है, पर पीछे फिर निकल पड़ता है आत्मनिर्देश की असफलता को देखकर फ्रायड महाशय ने मनोविश्लेषण विधि का आविष्कार किया था। जब तक मनुष्य के मन की गाँठ नहीं खुलती, उसे चिकित्सक पर श्रद्धा नहीं होती और श्रद्धा के अभाव में रोग से स्थायी रूप से मुक्त होना असंभव है।

जिस प्रकार अन्य रोगों से आत्मनिर्देश की सहायता से मुक्ति मिलती है, उसी प्रकार चिन्ता से भी आत्मनिर्देश के द्वारा मुक्ति मिल सकती है। पर यहाँ भी श्रद्धा का होना आवश्यक है, और इसके लिए मानसिक पवित्रता आवश्यक है अर्थात् मानसिक ग्रन्थियों से मुक्त होना आवश्यक है। मानसिक ग्रन्थियों से कैसे मुक्त हुआ जाय यह एक महत्त्व का प्रश्न है।

मानसिक ग्रन्थियों से मुक्त होने का एक मनोविश्लेषण उपाय मनोवैज्ञानिक लोग काम में लाते हैं। मनोविश्लेषण के द्वारा

मनोविश्लेषण

पुरानी स्मृतियाँ रोगी की चेतना की सतह पर लाई जाती हैं और जब रोगी उसकी आत्म-स्वीकृति कर लेता है तो उसका मानसिक रोग नष्ट हो जाता है। पर देखा गया है कि कितने दिनों के मनो-विश्लेषण के पश्चात् भी कभी-कभी मानसिक चिकित्सक को मानसिक ग्रन्थि का पता नहीं लगता और कितने ही रोगियों को अपने मानसिक ग्रन्थियों का ज्ञान रहते हुए भी वे उससे मुक्त

भोजन नहीं रहते और जिन्हें अनेक प्रकार के भोजन की सुविधा है तो उन्हें पेट के रोग रहते हैं अर्थात् वे उन्हें खा नहीं सकते। उन्हें भूख न लगने की बीमारी रहती है। कितने ही निर्धनों को सन्तान बहुत अधिक रहती है और धनवाले या तो निःसंतान होते हैं या उनकी संतान मर जाती है अथवा स्त्रियाँ व्यभिचारिणी होती हैं, जिसके संताप से धनी लोगों का हृदय तप्त रहा करता है। प्रत्येक प्रकार के लाभ के लिए त्याग करना पड़ता है और प्रत्येक त्याग का लाभ होता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक दूसरों के लिए अपने स्वार्थ का त्याग करता है वह अपना मन उतना ही बली बनाता है और सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होने का भागी होता है।

चिन्ता से मनुष्य को घबड़ाना कदापि न चाहिए, अपितु उसका सामना करना चाहिए। जब सभी लोगों को चिन्ता होती ही है तो हम क्यों उससे मुक्त होने की इच्छा करें? इस प्रकार धैर्य का अभ्यास की मनोवृत्ति चिन्ता की भयानकता को नष्ट कर देती है। मनुष्य जीवन ही चिन्तामय है। यदि मनुष्य को चिन्ता न हो तो उसका मानसिक विकास ही न हो। चिन्ता मनुष्य को सचेत बनाती है। जिस मनुष्य को जितनी प्रबल चिन्ता छोटी अवस्था में हो जाती है उसे अपनी बड़ी उमर में उतनी ही कम चिन्ता होती है। जिस प्रकार जटिल मानसिक या शारीरिक रोग जीवन की प्रारंभिक अवस्था में हो जाने से मनुष्य पीछे उसी रोग से बचने

में समर्थ होता है, इसी प्रकार यदि मनुष्य अपनी किशोरावस्था में चिन्तारूपी रोग से गुजर जाय तो उसे उसकी प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था में उसकी भयंकरता नहीं सताती। अतएव अपने हिस्से भर चिन्ता कर लेना ही भला है। कितने ही लोगों को अपने विद्यार्थी जीवन में अनेक प्रकार की चिन्तायें होती हैं। जो लोग इस अवस्था से निकल चुकते हैं उन्हें प्रौढ़ावस्था की चिन्तायें नहीं घबड़ातीं, इसी प्रकार जिन्हें प्रौढ़ावस्था में चिन्तायें हो चुकी रहती हैं वे वृद्धावस्था में शान्तमय रहते हैं। जिन्हें बाल्यावस्था में चिन्तायें नहीं होतीं उन्हें प्रौढ़ावस्था में होती हैं और जिन्हें प्रौढ़ावस्था में नहीं होतीं उन्हें वृद्धावस्था में होती हैं। अतएव चिन्तावस्था जब भी चाहे कर ली जाय अच्छा है।

नवाँ प्रकरण

मानसिक रोगों की चिकित्सा के प्रयोग

शारीरिक रोगों की चिकित्सा

हमें कितने ही मानसिक रोगी ऐसे मिलते हैं जिन्हें किसी-न-किसी प्रकार की शारीरिक बीमारी का सन्देह रहता है। वे कितना ही अपने शरीर का डाक्टरों द्वारा निरीक्षण क्यों न करावें उनका सन्देह जाता नहीं। इतना ही नहीं, कितने ही लोगों को अपने कल्पित रोग से वैसा ही त्रास होता है जैसा कि वास्तविक रोगी को होता है। पेट का रोग और हृदय का रोग इसी प्रकार के रोगों में से हैं।

सन्देहजनित रोग

हृदय का रोग

लेखक को एक नवयुवक के हृदय और पेट के रोग की चिकित्सा करने का कुछ दिन पहले अवसर मिला। इस युवक की उम्र कोई बाईस वर्ष की थी। वह पेट में वायु बढ़ने का अनुभव करता था और साथ ही साथ उसके हृदय की धड़कन भी बढ़ जाती थी। रोग इतना जटिल था कि उसके मारे रोगी को नींद तक

रोग का वर्णन

नहीं आती थी। वह दिन-रात दुःख के मारे चिल्लाता रहता था। डाक्टरों के द्वारा शरीर की परीक्षा करवाने पर उसके रोग का कोई भी पता नहीं चलता था। रोगी को डाक्टरों से बड़ी चिढ़ थी। उसने एक प्रसिद्ध यूरोपियन डाक्टर की डाक्टरी चिकित्सा-पर एक पुस्तक का भली प्रकार से अध्ययन किया था। इस पुस्तक में लिखा था कि डाक्टर लोग रोग की वृद्धि करते हैं और रोगी को मार डालते हैं। उसने अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया था कि किस प्रकार डाक्टरों के द्वारा मानव जाति का अनर्थ होता है। अतएव यह युवक जो एक बड़ा विद्वान व्यक्ति है किसी भी डाक्टर की दवाई नहीं खाता था। कुछ होमियोपैथिक डाक्टर इसे अपनी गोलियों को पानी में मिलाकर पिलाने लगे। इससे बचने के लिये उसके मन में सभी प्रकार के पेय पदार्थों के प्रति संदेह हो गया। वह दूध अपने सामने तपवा कर पीता था और पानी कुँए से ताजा भरवा कर पीता था।

वह बहुत ही परेशान था। गुस्से के मारे वह कभी-कभी घर के बर्तनों को तोड़-फोड़ देता था। एक बार एक व्यक्ति को जो उसकी चिकित्सा करने आया था, उसने एक तमाचा मार दिया। उसका विश्वास हो गया था कि उसकी चिकित्सा कोई मनुष्य नहीं कर सकता है, स्वयं प्रकृति ही उसकी चिकित्सा कर सकती है। अतएव वह पहाड़ पर जाने के लिये बड़ा ही उतावला हो रहा था। पर वह अपने बिस्तर से उठ भी नहीं सकता था। उसे आराम कुर्सी पर बैठाकर इधर-उधर हटाया जाता था।

लेखक का इस युवक से पहले से ही परिचय था। युवक उसे प्रेम और श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। उसके रोग को देखने से किसी की समझ में कुछ भी नहीं आता था। रोग का प्रारम्भ आधी रात के समय जब वह सो रहा था एकाएक डर जाने से हुआ था। अतएव भूत-प्रेत में विश्वास करनेवाले लोग इसे भूत-बाधा कहते थे। इसके लिये देवी देवताओं की आराधना भी की जाती थी और शास्त्री लोगों से पाठ कराया जाता था। पर स्वयं रोगी इसमें कोई श्रद्धा नहीं रखता था। वह एक तर्कप्रधान वैज्ञानिक विधि से सोचने वाला व्यक्ति है, अतएव वह उन्हें व्यर्थ समझता था।

इस रोगी का रोग तीन साल पहले प्रारम्भ हुआ था, पर बीच-बीच में वह अच्छा हो जाता था। इस बार उसने बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया था। अब उसके रोग के कारण घर भर के लोग परेशान हो गये थे। जिस समय लेखक रोगी को देखने गया उस समय घर के सभी लोग उसे घेरे थे और वह बेचैन था। वह सोचने लगा था कि उसका बचना कठिन है। लेखक को देखते ही उसके मन में कुछ शान्ति-सी हुई। धीरे-धीरे दूसरे लोग उसके पास से हट गए। जान पड़ता था कि उस रोगी के मन में अनेक बातें हैं, जो वह दूसरों से कहना चाहता है, पर संकोचवश नहीं कह सकता।

लेखक ने इस रोगी पर पहले-पहल निर्देश विधि का ही प्रयोग किया। जिस प्रकार निर्देश-विधि को काम में लानेवाले

उपचार

चिकित्सक रोगी के ऊपर "पास" करते हैं, उसी प्रकार उसके ऊपर पास के रूप में हाथ फेरा गया। इससे उसकी सान्त्वना और भी अधिक हुई और कुछ समय के बाद इस रोगी को नींद आ गई। इसके बाद घर के सभी लोगों का लेखक की क्रिया पर विश्वास हो गया। स्वयं रोगी की उसपर श्रद्धा बढ़ गई। अब वह लेखक के बिना रह नहीं सकता था।

धीरे-धीरे उसने अपने मन को खोलना आरंभ किया। लेखक ने उसे इस काम में प्रोत्साहन दिया। उसे संदेह हो गया था कि वह नपुंसक हो गया है और उसकी शारीरिक शक्ति बिलकुल नष्ट हो गई है। इस प्रकार की धारणा का कारण उसकी किशोरावस्था की अपना कृत्रिम रूप से वीर्यपात करने की आदत थी। वह बड़े धनी घर का बालक था। धनी घर के लोग कई प्रकार के तकिये काम में लाते हैं जो बालकों की काम-प्रवृत्ति को उत्तेजित करते हैं। इन्हीं तकियों से जननेन्द्रिय के संघर्ष हो जाने से वीर्यपात हो जाता है। यह वीर्यपात इस बालक को १४-१५ वर्ष की अवस्था में होता था। पीछे उसने एक प्रतिष्ठित व्यक्ति की पुस्तक में पढ़ा कि जो व्यक्ति अपना वीर्यपात कृत्रिम रूप से करता है उसकी स्मरण-शक्ति नष्ट हो जाती है, उसका शरीर निकम्मा हो जाता है और उसे अनेक प्रकार की बीमारियाँ घेर लेती हैं। इस प्रकार के विचारों से इस बालक को भारी धक्का लगा। उसे भय हो गया कि कहीं उसको भी उपर्युक्त बीमारियाँ

न हो जावें। इससे उसकी वीर्यपात करने की आदत तो जाती रही पर अब एक बड़ा ही घातक विचार उसके मन में बैठ गया। वह अपने सन्देह को किसी से कह नहीं सकता था। उसे विश्वास हो गया कि वह निकम्मा और नपुंसक हो गया है। धीरे-धीरे उसकी स्मरण-शक्ति कमजोर हो गई और उसे पढ़ना-लिखना छोड़ना पड़ा। पीछे उसे पेट का रोग और हृदय के रोग उत्पन्न हो गये।

यह रोगी एक बड़े सुशिक्षित परिवार का व्यक्ति था। उसे सभी प्रकार के शिष्टाचार की शिक्षा मिली थी। अतएव उसके मन में अपने कुकृत्य के लिये आत्मग्लानि भी भारी हुई। बड़े घर का बालक होने के कारण वह अपनी शंका को किसी से प्रकाशित भी नहीं कर पाता था। अतएव उसकी मानसिक जटिलता बढ़ती गई। कुछ दिन के बाद वह अपने मित्रों से अलग भी रहने लगा। जब उसका पढ़ना-लिखना छूट गया तो उसके साथ सहानुभूति दर्शानेवाला भी कोई न रहा। रोगी के मन में एक प्रकार की गाँठ बन गई। उसके हृदय और पेट के रोग इसी गाँठ के प्रतीक थे।

लेखक ने रोगी को कई प्रकार के उदाहरण देकर समझाया कि उक्त प्रकार से वीर्यपात होना भी एक प्राकृतिक बात है और इससे न कोई व्यक्ति निकम्मा होता है और न उसे नपुंसकता आती है, पर उसका रोग इतने ही आश्वासन से नहीं गया। लेखक को उसके साथ पहाड़ों पर भी जाना पड़ा। पर धीरे धीरे उसके

स्वास्थ्य में सुधार होने लगा। पीछे उसके पुराने मित्र उसके पास आने लगे। अब उसने कई व्यक्तियों से मित्रता और बढ़ाली। कुछ दिन के लिये उसे एक मानसिक-चिकित्सा-भवन में भेजा गया। यहाँ रहना उसे जेल के समान लगा। धीरे-धीरे उसने रचनात्मक कार्य करना प्रारंभ कर दिया। अब उसका हृदय का रोग और पेट का रोग दोनों ही जाता रहा। वह इस समय पूर्ण स्वस्थ है।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि जब तक रोगी की श्रद्ध चिकित्सक पर नहीं रहती उसे कोई लाभ नहीं होता। इसी तरह
चिकित्सक यदि रोगी से प्रेम करता है, तो
चिकित्सक के प्रति उसका रोग उसकी मैत्री भावना के कारण शीघ्र
श्रद्धा ही नष्ट हो जाता है। रोगी में आत्मविश्वास
का अभाव पाया जाता है। उसे चारों ओर
निराशा ही निराशा दिखाई देती है। वह अपने आपको सँभाल नहीं सकता। उसे शुभ निर्देश देकर उसके मन में आत्म-विश्वास उत्पन्न किया जाता है। रोगी भाग्यवादी हो जाता है। उसे अपनी भाग्यवादिता से मुक्त करके उसमें आत्म-निर्भरता की मनोवृत्ति उत्पन्न करना आवश्यक होता है। जब मनुष्य भाग्यवादी हो जाता है तो अपने रोग से मुक्त होने का प्रयत्न करना छोड़ देता है। जिस प्रकार भाग्यवादी व्यक्ति नियतिवाद के सिद्धान्त में विश्वास करता है, उसी प्रकार जड़वादी भी 'नेति नियत है' के सिद्धान्त में विश्वास करता है। वह अपने सभी

दुःखों का कारण परिस्थिति में खोजने की चेष्टा करता है। जब वह परिस्थिति में ही अपने रोग का कारण पा लेता है तो उसे विचित्र आत्मसंतोष होता है। रोगी अपने रोग का कारण सदा अपने आप से बाहर ढूँढ़ता रहता है। इस तरह वह अपने रोग के लिये अपने-आपको निर्दोष तो सिद्ध करने में समर्थ होता है, पर उसके रोग का विनाश नहीं होता। रोग तभी रोगी को छोड़ता है, जब रोगी अपने रोग से मुक्त होने की मन में ठान लेता है। इसके लिये उसे शुभ-निर्देश देना और उसमें आत्म-विश्वास उत्पन्न करना आवश्यक है।

हृदय के रोग से पीड़ित व्यक्ति प्रेम के भूखे रहते हैं। जब मनुष्य के प्रेम का किसी कारण से प्रसार नहीं होता और उसका अवरोध विकार का रूप धारण कर लेता है, मनोविकार के अनुसार तो हृदय का रोग उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार अपने पेट में किसी गुप्त बात को रखना, अपनी शंका को छिपाना, पेट का रोग उत्पन्न कर देता है। इन दोनों रोगों का मनुष्य की काम-वासना और प्रेम की भूख से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

रोगोत्पत्ति

प्लूरेसी का रोग

लेखक की एक छात्रा को प्लूरेसी का रोग हो गया था। इस छात्रा का पिता इसी रोग से मर गया था। छात्रा की अवस्था कोई २५ वर्ष की थी। उसने अभी तक वृद्ध पिता की सेवा करने के हितार्थ विवाह नहीं किया था। जब वह अपनी

बीमारी से पीड़ित थी, लेखक उसे देखने गया। यह छात्रा बड़ी भावुक थी, अतएव लेखक का विश्वास था कि इसके रोग का कारण किसी प्रकार के प्रबल भावों की अनुभूति होगा। जब लेखक उस छात्रा के पास गया तो उसने अपने मन की एक जटिल समस्या कही। उसने कहा कि मैं अपने पिता की स्मृति भुलाना चाहती हूँ, यह स्मृति बहुत ही दुःखद है पर मैं उसे भूलती नहीं हूँ। पिता की बीमारी और मृत्यु की स्मृति को भुलाने का क्या उपाय किया जाय?

लेखक ने उसकी मानसिक स्थिति समझ कर कहा कि उसे अपने पिता की स्मृति नहीं भुलाना चाहिये। यह पिता के प्रति एक प्रकार की कृतघ्नता होगी। उसे अपने पिता का स्मरण ही करना चाहिये और जो उससे पिता आशा करते थे उसी आशा की उसे पूर्ति करना चाहिये। वे देशभक्त थे और उन्होंने अपना सारा जीवन देश के कार्य में लगाया था। उसे भी पिता के समान देशसेवा में अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये। उसकी पिता को जीवित रखने की इच्छा व्यर्थ है। यह अपने अपने स्वार्थ के लिये ही मनुष्य चाहता है। पिता वृद्ध हो चुके थे अतएव टूटे-फूटे शरीर में उन्हें भटकाये रहने की इच्छा अच्छी नहीं है। उन्होंने पुण्य किया है अतएव वे कहीं सुन्दर कुल में अवश्य जन्म लेंगे।

लेखक के उक्त विचारों पर उस छात्रा ने ध्यान दिया। इसके परिणामस्वरूप वह पिता की स्मृति भी भूल गई। अब

सब समय उसे अपने पिता का ध्यान नहीं आता था। इस महिला की बीमारी का कारण भी पिता से अत्यधिक आत्मसात् होना था। जब मनुष्य किसी व्यक्ति से अत्यधिक आत्मसात् कर लेता है, तो उसके गुण और अवगुणों को अपने अनजाने ग्रहण तो कर ही लेता है, उसके आरोग्य और रोग का भी अभिनय करने लगता है। इस प्रकार का अभिनय कभी-कभी व्यक्ति अपनी अचेतन अवस्था में करता है और कभी-कभी चेतनावस्था में भी करने लगता है। ऐसी अवस्था में जिस व्यक्ति का वह ध्यान करता है, उसका रोग वास्तव में उसके शरीर में उत्पन्न हो जाता है। यह आत्मसात् अचेतन मन का व्यापार है, अतएव चेतन मन के समझाने-बुझाने से इस प्रकार का रोग नष्ट नहीं होता। इसके लिये किसी ऐसी विधि का उपयोग करना पड़ता है जिससे आत्मसात् की स्थिति का अन्त हो। इसके लिये प्रिय व्यक्ति के प्रति विकर्षण और वैराग्य का उत्पन्न करना आवश्यक होता है।

छात्रा को प्लूरेसी की बीमारी के समय बहुत दर्द था। इस दर्द का अन्त आनापान सति के अभ्यास से किया जा सका। यह छात्रा पीछे लखनऊ की अस्पताल में भेजी गई। आनापान सति के अभ्यास के कारण वह अपनी मानसिक प्रसन्नता बनाये रखने में समर्थ हुई। इस प्रयोग से यह प्रत्यक्ष होता है कि रोगी का रोग चाहे जड़ से न जाय, आत्म-निर्देश के द्वारा हलका अवश्य हो जाता है। छात्रा की मानसिक दशा उसके लखनऊ से लिखे

गये दो पत्रों के निम्नलिखित उद्धरणों में से स्पष्ट होती है—

पहला पत्र—

श्रद्धेय शुक्लाजी,

"आप के मंत्र का मैं नित्य ही अभ्यास करती हूँ। फलस्वरूप न तो किसी प्रकार का दर्द ही आज तक प्रतीत हुआ और न आत्म-दशा ही भारी हुई। खूब प्रसन्न रहती हूँ। वजन पहले हफ्ते में कुछ बढ़ गया था मगर इस हफ्ते में उतना ही रहा। कारण बुखार तेज आ रहा था। पाँच दिन हवा देने के बाद अब बुखार नीचे उतरा है। देखें भगवान क्या करते हैं। मुझे यहाँ बहुत अच्छा लगता है। एक अच्छा जीवन है, सब में अपना मजा है।"

दूसरा पत्र—

श्रीपूज्य शुक्लाजी, सादर वन्दे !

"मैं अब बिलकुल ठीक हूँ। ७ फरवरी से न बुखार है, न खाँसी और न पानी। वजन ४ पाउंड बढ़ा है। आज डाक्टर साहब ने चलने-फिरने को कह दिया है। आत्म-निर्देश के कारण ही कहीं दर्द महसूस नहीं हुआ, वरना इस बीमारी के मरीज़ इस प्रकार के दर्द की शिकायत किया करते हैं। मगर मुझे इसकी मदद से बहुत आराम मिलता है। मैं खुश भी खूब रहती हूँ। अपनी इस बीमारी में मुझे आपके आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक उपदेशों से कितना लाभ हुआ यह बताने के परे है।"

यह छात्रा पीछे भुआली भेजी गई थी। उससे पत्र व्यवहार आगे न रहने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त छात्रा

आत्मनिर्देश का महत्त्व

का आत्मनिर्देश का अभ्यास उसे रोग से मुक्त होने में कहाँ तक सहायक हुआ। पर उसके उक्त पत्रों से यह निश्चित है कि रोग की पीड़ा से मुक्त होने में आत्मनिर्देश ने उसको अवश्य सहायता की। इस छात्रा के रोग की एक विशेषता उसकी मानसिक परिस्थिति से उत्पत्ति थी। जब मनुष्य का अचेतन मन किसी कारणवश दूसरे व्यक्ति के साथ आत्मसात् कर लेता है तो दूसरे व्यक्ति के दोष और गुण उसमें चले आते हैं। इस पुस्तक के चौथे प्रकरण में आत्मसात् के कारण पैर के दर्द की उत्पन्न होने की चर्चा की गई है (पृष्ठ १०४ को देखिये)। आत्मसात् के रोग तुरंत अथवा बहुत दिन के बाद प्रकाशित होते हैं और इस प्रकार के रोग मानसिक अथवा शारीरिक रूप धारण कर लेते हैं। पृष्ठ १०४ में दिये गये दृष्टान्त में रोग का बल मानसिक था, पर ऊपर दिये गये रोग में शारीरिक व्याधि का रूप धारण कर लिया था। आत्मसात् करुणा, प्रेम, भय अथवा घृणा किसी भी प्रबल भाव के उत्तेजित होने पर हो जाता है*। जब तक आत्मसात् की ग्रन्थि नहीं खुलती, रोग का अन्त भी नहीं होता। यह कार्य धीरे-धीरे होता है। इसके लिये किसी भी मानसिक भाव का दमन न करके उसका रेचन करना आवश्यक है। यदि उक्त छात्रा के पिता के विषय में सावधानी के साथ चर्चा की जाती

* भय के आत्मसात् से गेस्ट्राइटीज की बीमारी का उदाहरण होमरलेन ने दिया है।

तो उसके आत्मसात् के भाव का रेचन हो जाता, और उसका रोग नष्ट हो जाता। क्योंकि उसमें फिर अपने पिता के रोग का अभिनय करने की प्रवृत्ति न रहती। दमन से कोई भी प्रवृत्ति प्रबल होती है, उसके प्रकाशन और उसपर विचार करने से उसका बल क्षीण हो जाता है।

चेहरे का लकवा

गत वर्ष लेखक के ट्रेनिंग कालेज के एक छात्र को गर्दन में विशेष प्रकार का दर्द हो गया था। वह इसके कारण कई दिनों तक पढ़-लिख नहीं सका। जब वह अपनी प्रेक्टिकल की परीक्षा के लिये जा रहा था उस समय लेखक को इसका ज्ञान हुआ। इस छात्र से पूछने पर पता चला कि वह होमियोपैथिक चिकित्सा करा रहा है। उसे इस प्रकार का रोग एक साल पहले भी हुआ था जब कि वह अपनी किसी परीक्षा की तैयारी कर रहा था। इस छात्र की अवस्था कोई २८ वर्ष की है। डाक्टरों ने कहा था कि यह चेहरे के लकवा की पूर्व अवस्था है।

लेखक ने इस छात्र को भी आनापान सति और मानसिक शान्ति का अभ्यास करने की सलाह दी। उसने यह अभ्यास किया। उससे दवाई छोड़ देने की सलाह नहीं दी गई पर उसने अपनी दवाई करना छोड़ दिया। इस अभ्यास के परिणाम-स्वरूप उसका गर्दन का रोग पूरी तरह से जाता रहा। वह खूब ठीक से पढ़ने लगा।

जिस समय यह छात्र घर को जानेवाला था, उसी समय उसने अपना एक और रोग बताया। उसने कहा कि उसे नींद कम आने की भी बीमारी है। इसे हटाने के लिये उससे सोते समय मैत्री भावना का अभ्यास करने का आदेश दिया गया। मैत्री भावना के अभ्यास से उसे कुछ ही दिन में गाढ़ी नींद आने लगी। जब कोई मनुष्य आनापान सति अथवा मैत्री-भावना का अभ्यास करते-करते सो जाता है तो सुख की नींद सोता है और जब सोकर उठता है तो वह प्रसन्नचित्त रहता है। उसे भयानक स्वप्न नहीं होते। उसका मन प्रसन्न रहता है।

रोगी की अनिद्रा की बीमारी को जानकर, यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि कितने ही शारीरिक रोगों के पीछे मानसिक ग्रन्थियाँ रहती हैं। मानसिक रोग का ज्ञान रोगी को रहता ही नहीं। उसका शारीरिक रोग उसे ढँके रहता है। जब रोगी का शारीरिक रोग हलका पड़ता है तब उसे अपने मानसिक रोग का भी ज्ञान होता है।

मानसिक चिकित्सा का एक शुभ परिणाम यह हुआ कि यह छात्र अच्छे दर्जे में अपनी ट्रेनिंग कालेज की परीक्षा पास कर सका और उसका दृष्टिकोण सदा के लिये परिवर्तित हो गया।

आँख के रोग का उपचार

आँख के रोगों के मानसिक कारण भी होते हैं और इनका उपचार मानसिक विधि से होना संभव है। मैत्री भावना के अभ्यास से तथा शैथिलीकरण के अभ्यास से इस रोग से मुक्ति

पाना कैसे संभव है यह लेखक के एक प्रयोग से स्पष्ट होता है। रोगी को आँख का रोग परीक्षा में बैठने के समय ही हो जाया करता था। वह इसके कारण एम० ए० की परीक्षा पास नहीं कर पाता था। उसके रोग का तथा उपचार का वर्णन उसने निम्नलिखित शब्दों में हाल ही में किया है—

"आज से कई वर्ष पहले मैं चक्षु रोग से पीड़ित था। वैसे तो बचपन से ही कुछ आँख की बीमारी से कभी कभी कष्ट पाता था। पर विशेषतः आँख आ जाने की यातना आकस्मिक न थी। लेकिन आँखों का स्वास्थ्य साधारणतः उत्तम ही था। किन्तु मानसिक गुत्थियाँ कुछ ऐसी हो गई थीं कि जब जब मैं परीक्षा की तैयारी करता था अथवा उस ओर अग्रसर होता था तो कोई न कोई कठिनाई अवश्य आ जाती थी। चश्मे का प्रयोग बताया गया। वह मेरे लिये लाभप्रद हुआ। एलोपैथी इत्यादि नाना प्रकार के उपचारों को अपनाया, परन्तु जब-जब परीक्षा समीप आती थी, आँख या मस्तिष्क में कोई न कोई कष्ट हो जाता था। किसी ने मेरे भाग्य के कारण, किसी ने नक्षत्रों की स्थिति और ग्रहदशा का कारण बताया। कोई कहता था कि पढ़ते-पढ़ते आँख खराब हो गई है। मैं हैरान था। ज्योंही परीक्षा का समय बीत जाता था, मैं पुनः चंगा हो जाता था, आँख की दशा सुधरने लगती थी।"

"अजब हाल था। चाँद के चार कोने दिखाई पड़ते थे। धीरे-धीरे दो चाँद, चार चाँद तथा दस-बारह चाँद एक के नीचे दूसरा और तीसरा, इसी भाँति क्रमशः दिखाई पड़ने लगा। बिजली के बल्ब के नीचे एक प्रकाश दण्ड करीब पाँच फीट लम्बा दिखाई पड़ने लगा। मैं जीवन से

निराश था। प्रतिदिन मैं कहता था कि मुझे कोई चक्षुरोग नहीं, फिर यह दृष्टिरोग कैसा। मैंने खैराबाद (सीतापुर), पटना तथा लखनऊ की यात्रा की। डाक्टरों से आश्वासन पाकर सांत्वना नहीं हुई। वे मेरी किञ्चिन्मात्र सहायता नहीं कर सके। बहुमूल्य चश्मे भी मैंने दो तीन लिये, पर लाभ न हुआ।"

"अन्त में मैंने आपके बताये शैथिलीकरण का अभ्यास किया तथा सोऽहं भावना का जप किया। प्रत्येक अवस्था में अपने आपको सुखमय समझना और किसी प्रकार भी उद्विग्न हुए बिना मन में शान्ति स्थापित रखना मेरे लिये अतीव सुखमय प्रतीत हुआ। शैथिलीकरण को मैं जितना ही अपनाता गया उतना ही मैं सुखी प्रतीत होने लगा। दूसरे लोगों के परीक्षा सम्बन्धी कटाक्ष अब बिलकुल ही तीव्र नहीं दिखाई देते थे। आर्थिक कठिनाइयाँ भी अब उतनी तीव्र नहीं मालूम पड़ती थीं। जीवन में अब आशा का संचार हो गया।"

"आँख की अवस्था अब तीव्र गति से सुधरने लगी। निर्भीकता बढ़ती गई। जो सहपाठी परीक्षाओं को देकर मुझसे योग्यता या सनदों में आगे बढ़ गए थे उनसे मिलने में भी अब झेंप नहीं मालूम पड़ती थी। अब समय बदल गया, दुःख के बादल हट गए।"

"शैथिलीकरण के अभ्यास से जिस परीक्षा से मैं डरा करता था और रोग के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगता था, वह भय और रोग के आक्रमण की प्रतीक्षा का भाव जाता रहा। अन्त में मेरा मस्तिष्क बली हो गया तथा रुधिर चांप भी कम हो गया। अन्त में मैं एम० ए० की परीक्षा में बैठा। इस बार मेरा मन शान्त था। मैं शैथिलीकरण के अभ्यास

को करता रहा और उक्त परीक्षा में, द्वितीय श्रेणी में मैं उत्तीर्ण हो गया। परीक्षा में मुझे उच्च कोटि के अंकों की उपलब्धि हुई।"

शिवनाथ ग्वाल

दुःखद विचार का निवारण

कुछ वर्ष पूर्व लेखक के पास एक ऐसा नवयुवक आया जिसे फाँसी होने की झक सवार हो गई थी। वह जितना ही इस विचार को अपने मन से निकालने की चेष्टा करता था उसका विचार और भी अधिक प्रबल हो जाता था। वह साधारणतः स्वस्थ था और गल्ले का रोजगार करता था। इसमें वह कुशल था। पर बीच-बीच में फांसी का विचार उसे सताया करता था। कभी-कभी यह विचार इतना प्रबल हो जाता था कि उसके कारण वह कोई काम नहीं कर सकता था। इस विचार से परेशान होकर कभी-कभी रोगी आत्म-हत्या करने की भी सोचता था। रोगी ने कई वकीलों से फांसी होने के अपराधों के बारे में पूछा पर सभी ने बताया कि उसे इसका भय होना निरर्थक है। उसकी झक थी कि मुझे भंगी झाडू मार देगा और फिर मुझे फांसी हो जावेगी।

रोग का लक्षण

उक्त झक के प्रारम्भ होने का इतिहास रोगी के अनुसार निम्नलिखित था—एक बार रोगी की अपने घनिष्ठ मित्र से लड़ाई हो गई; इस पर उक्त मित्र ने उसे कई तरह की गालियाँ दीं और उसे बेइमान बताया। उसने उक्त रोगी को जूतों से पिटवाने की धमकी भी दी। इस पर रोगी ने एक दिन बाजार में दूसरे लोगों से उस

रोग का कारण

मित्र को जूतों से पिटवाया। इस घटना के बाद रोगी को भारी आत्मग्लानि हुई और उसे मानसिक बेचैनी रहने लगी।

एक दिन एक व्यक्ति जिसने किसी दूसरे व्यक्ति की हत्या की थी रोगी के घर रात को ठहर गया। इसके कुछ दिन बाद इस बात का पता पुलिस को चला और रोगी के घर की तलाशी ली गई। रोगी को भय हो गया कि कहीं वह भी उक्त अपराधी के हत्या के जुर्म की साजिश में न पकड़ा जाय। पर ऐसा न हुआ। रोगी ने जब उसे अपने घर ठहराया था, उसके अपराध का उसे ज्ञान ही न था। कुछ दिन तक उसे यह भय परेशान करता रहा कि पुलिस उसी को अपराधी मानकर उसे दण्डित न करा दे। इस समय कई प्रकार की बुरी-बुरी कल्पनायें उसके मन में आती रहीं। पीछे यह विचार शान्त हो गया।

पर एक दिन एक मेहतर को उसने अपने घर के सामने झाड़ू लगाते देखा। उसके मन में कल्पना आई कि कहीं भंगी मुझे झाड़ू न मार दे नहीं तो मुझे फांसी लग जायगी। यह विचार सर्वथा युक्तिहीन था, पर उसे छोड़ता न था। अकारण ही यह विचार उत्पन्न हो गया था।

इस रोगी को अपने पुराने मित्र के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास करने को कहा गया। उससे न केवल मांफी माँगने को कहा गया वरन् उसे पैसा रुपया भी देकर तथा उसका सम्मान बढ़ा कर उसका संतोष करने के लिये आदेश दिया गया। साथ ही साथ प्रति-

रोग का उपचार

दिन दान करने का अभ्यास करने को कहा गया। रोगी ने इस आदेश को माना और इसके परिणामस्वरूप उसका अभद्र विचार नष्ट हो गया। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि वास्तविक भलाई के काम और भलाई करने की कल्पना दोनों से ही लाभ होता है।

क्षय रोग का भय

लेखक की एक छात्रा को क्षय रोग का भय हो गया। वह स्वयं जानती थी कि उसे यह रोग होना संभव नहीं, पर तिस पर भी उसका मन मानता नहीं था। उसने अपने शरीर की परीक्षा डाक्टरों से कराई पर उन्होंने रोग के कोई लक्षण न पाये, पर क्षय रोग का भय एक झक के रूप में उसे उपस्थित हो गया। क्षय रोग के विचार ने उसे ऐसा पकड़ा कि उसके कारण वह पढ़-लिख नहीं सकती थी। वह पढ़ने-लिखने में बड़ी तेज थी और खूब परिश्रम करती थी। पर क्षय रोग का विचार अब उसे परिश्रम नहीं करने देता था। वह अपने विचार से परेशान हो गई।

इस महिला ने लेखक के मनोविज्ञान के व्याख्यानों में मानसिक झंझटों का वृत्तांत सुना था। अतएव जब परीक्षा की तैयारी का समय आया और उसकी मानसिक झंझट जटिल हो गई जिसके कारण वह परीक्षा के लिये तैयारी नहीं कर पा रही थी, वह लेखक के पास आई। लेखक ने उसकी बीमारी का सारा

वृत्तांत सुना। उसका कथन था कि उसे विश्वास नहीं है कि उसे क्षय रोग है। वह खूब मोटी ताजी तो है ही और भोजन भी ठीक से करती है। एक डाक्टर को छोड़ किसी ने उसके शरीर में क्षय रोग नहीं बताया। पर तिस पर भी क्षय रोग का विचार उसे छोड़ता नहीं। जब शाम होती तो उसका ध्यान थरमामीटर पर चला जाता है और उसकी इच्छा न होते हुए भी उसे थरमामीटर उठाकर शरीर का ताप देखना पड़ता है। कभी-कभी एक आध डिगरी ताप अधिक दिखाई पड़ जाता है। जब तक वह थरमामीटर से ताप नहीं देख लेती तब तक उसे चैन भी नहीं मिलती। उसका कथन था कि इस प्रकार की मानसिक स्थिति से तो मर जाना ही अच्छा है।

इस महिला से कुल तीन बार बातचीत करने का अवसर मिला। दूसरी बातचीत में उसने अपनी अनेक त्रुटियों से मुक्त होने का उपाय पूछा। उसे आत्मग्लानि इस बात की थी कि वह कभी-कभी दूसरों का अकल्याण भी चाहती है। एक बार उसकी एक दूसरी महिला से लड़ाई हो गई। उसने इसे खूब खरी-खोटी सुनाई। उसका दोष नहीं था। इसके मन में भी क्रोध के भाव आते थे पर उन्हें दबा दिया जाता था। इस पर उसकी साथी महिलाओं ने उसे बुरा कहा। पीछे झगड़नेवाली महिला की लड़ाई दूसरी किसी महिला से हो गई। इस बार उसे अपने मुँह की खानी पड़ी। इससे भीतर ही भीतर उक्त छात्रा प्रसन्न होती थी। पीछे उसे यह आत्म-भर्त्सना होने लगी कि वह इतनी नीच

है कि दूसरे का पतन चाहती है। इस विचार के पश्चात् ही उसे क्षय रोग की झक सवार हुई।

इस महिला को आश्वासन दिया गया कि उसकी नैतिकता नीच कोटि की नहीं है। अपने शत्रु का पतन चाहना स्वाभाविक है और यदि ऐसा विचार आ जाय तो उसके लिये आत्म-ग्लानि का करना व्यर्थ है। यह कोरा अहंकार मात्र है कि मैं सबसे पवित्र व्यक्ति हो जाऊँ। मानसिक क्रियायें और प्रतिक्रियायें हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं करतीं। उनके नियम भौतिक जगत् की घटनाओं के नियमों के सदृश अचल हैं। अतएव अपने विचार और आचरण को सुधारना हमारा काम है न कि किसी बुरे विचार के लिये आत्मग्लानि की अनुभूति करना। इससे इच्छाशक्ति और भी कमजोर हो जाती है। इस महिला से उक्त महिला के प्रति, जिससे वह झगड़ी थी मैत्री भावना का अभ्यास करने को कहा गया। अभी रोग ताजा ही था, अतएव दो दिन के अभ्यास के पश्चात् ही क्षय रोग की झक नष्ट हो गयी। पीछे इस महिला ने इतना अध्ययन किया कि वह प्रथम श्रेणी में बी० टी० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुई। इस महिला को अव्यवहार्य आदर्शवादिता का रोग था।

मानसिक थकावट

लेखक को हाल ही में एक मानसिक थकावट और अशान्ति के रोगी का उपचार करने का अवसर प्राप्त हुआ। रोगी की अवस्था तीस वर्ष की है। उसके चार बच्चे हैं। पारिवारिक

जीवन सामान्य है। वह चिन्तनशील व्यक्ति है और आदर्शवादी है। उपवास, साधना और देवी-देवताओं की पूजा में विश्वास करता है। उसका नैतिक जीवन उच्च कोटि का है।

रोग के बाह्य लक्षणों में शारीरिक कमजोरी और थकावट विशेष है। रोगी को नींद खूब आती है, पर सो कर उठने पर वह थकावट का अनुभव करता है। उसकी इच्छा घर से बाहर निकलने की नहीं होती। वह कर्तव्यपरायण व्यक्ति है अतएव अपने आफिस में अपनी ड्यूटी करने जाता है, पर उसका मन किसी भी काम करने में नहीं लगता। सभी काम भार-रूप दिखाई देते हैं। किसी भी बात में उत्साह नहीं होता। किसी से बातचीत करने तक की इच्छा नहीं होती।

रोगी अपनी इस प्रकार की स्थिति के प्रारंभ का समय पहले नहीं बता सका। पर पीछे अधिक पूछताछ करने पर उसे ज्ञात हुआ कि कोई बीस दिन से उसकी अवस्था बुरी हुई है। अब रोगी से अनेक प्रकार के मानसिक रोगियों की चर्चा की गई और उनके रोग के निवारण में आत्म-स्वीकृति की महत्ता दर्शायी गई। उसे कई प्रकार से समझाया गया कि संत लोगों की पाशविक भावनायें दबी हुई रहती हैं, इसलिये अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जो व्यक्ति अपने-आपको समझना और स्वीकार नहीं करना चाहता वह मानसिक रोग से मुक्त नहीं हो सकता। उन्हें कामवासना के दमन के कारण मानसिक रोग की उत्पत्ति के अनेक उदाहरण सुनाये गये और

बताया गया कि भले ही लोगों में कामवासना प्रबल होती है। इस पर रोगी ने अपने रोग की वृद्धि से सम्बन्ध रखनेवाली निम्नलिखित घटना को कह सुनाया—

लेखक के घर पर एक युवती अविवाहित महिला आती रहती थी। इस महिला के प्रति उसका सदा सद्भाव रहा है। जैसा उच्च आदर्श के व्यक्ति का ऐसी महिला के प्रति आचरण होना चाहिये वैसा ही उसका उस महिला के प्रति आचरण था। वह महिला पढ़ी-लिखी है। एक दिन उसने रोगी को अपना एक सुन्दर रूमाल दिया। रोगी ने उसके रूमाल देने का कारण पूछा। उसने कहा कि रोगी के पास रूमाल नहीं है, इसलिये वह उसको रूमाल दे रही है। रोगी ने कहा कि मुझे रूमाल की आवश्यकता नहीं है, पर उक्त महिला ने कहा कि तब भी उसे वह रख ले। रोगी ने रूमाल को महिला का प्रेम-उपहार समझकर उसे न लेने की जिद की और उस महिला ने उसे देने की जिद की। रोगी ने अपने जेब से एक रूमाल उस महिला को दिखाया और कहा "मेरे पास रूमाल है, तुम्हारे रूमाल की मुझे आवश्यकता नहीं है।" ऐसा कहकर उसने उस रूमाल को उस महिला को बरबस वापस कर दिया।

इस घटना के पश्चात् उस महिला के जीवन में एक विचित्र-सा परिवर्तन हो गया। उसने रोगी के घर आना-जाना और उनकी किसी प्रकार की चर्चा करना छोड़ दिया। पर वह अब उन्मादग्रस्त हो गई। वह अनेक प्रकार की बातें बड़बड़ाने लगी।

कभी वह हँसती तो हँसती ही रहती थी और कभी अन्यमनस्क होकर एक कोने में बैठ जाती थी। इन सब बातों का पता रोगी को अपने घर के लोगों से चलता रहा। इसी समय रोगी का रोग भी प्रबल हो गया। चिन्ता और थकावट की प्रवृत्ति तो पहले से ही थी पर अब वह बढ़ गई।

महिला कुछ दिन तक विक्षिप्त-सी रहने के पश्चात् एक भारी शारीरिक रोग से ग्रसित हो गई। उसे विषम ज्वर (टाइफाइड) हो गया। जिस समय रोगी ने लेखक को यह कथा सुनाई उस समय वह १५ दिन से बीमार पड़ी हुई थी। रोगी कभी-कभी उसकी खबर पूछने उसके घर पर जाता और उसे देखता भी था, पर वह महिला उसके प्रति उदासीनता का व्यवहार करती।

रोगी से इसी बीच स्वप्न पूछे गये। उसने अपने अनेक स्वप्न सुनाये। वह अपने स्वप्नों में अपने-आपको किसी अंधकार-मय कन्दरा में घुसते हुए पाता था। कभी-कभी वह ऐसे मन्दिर का स्वप्न देखता जिसका ऊपरी भाग तो स्पष्टतः दिखाई देता है पर भीतरी भाग नहीं दिखाई देता। उसने एक स्वप्न में देखा कि कोई व्यक्ति उसे अन्धकार के रास्ते से एक मकान के भीतर ले जा रहा है। वह साथी कहता है कि जो कुछ तुमने मकान के बाहर देखा, वह उसकी तुलना में कुछ भी नहीं है, जो तुम भीतर देखोगे। वह मकान के आंतरिक भाग तक पहुँचने के पहले जाग जाता है।

रोगी को बताया गया कि उसके स्वप्न उसके आध्यात्मिक-विकास को लक्षित करते हैं और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग तथा उसकी

अड़चनों को दर्शाते हैं। वे आत्म-शिक्षा के रूप में ही आते हैं। स्वप्न का यह अर्थ रोगी को स्वीकार हुआ। रोगी को बताया गया कि उसे वे दर्शाते हैं कि जिस आदर्शवादिता से वह बँधा हुआ है और जिसे उसने जीवन का सार भाग समझ लिया है वह उसका बाह्य आडंबर मात्र है। सच्चा प्रकाश और सौन्दर्य भीतर है। उसने अपने एक स्वप्न में यह भी देखा था कि अन्धकारमय मार्ग के अंत में बहुत दूर पर शिवजी की मूर्ति रखी है। वास्तव में यह शिवजी की मूर्ति आन्तरिक शान्ति की प्रतीक थी।

रोग के उपचार के लिये रोगी को उक्त महिला के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करने को कहा गया। उसे शैथिलीकरण की प्रक्रिया बताई गई और आनापान सति का अभ्यास करने का भी आदेश दिया गया। उसे इसे तीन दिन तक करने को कहा गया। तीन दिन के बाद जब रोगी फिर आया तो उसका मानसिक रोग बहुत कुछ हल्का हो गया था। उसने कहा कि पहले दिन तो उसे ऐसा ज्ञात हुआ कि मानो वह पूर्ण स्वस्थ हो गया है, पर पीछे उसकी वैसी शान्ति की अवस्था न रही। वह फिर बेचैनी का अनुभव करने लगा।

इस बार रोगी से आत्म-रेचन का प्रयोग करने को कहा गया। अपने विचारों को स्वतंत्रतापूर्वक आने-जाने की छुट्टी देकर अपने-आपको साक्षी भाव में रखने का अभ्यास करने का आदेश दिया गया। रोगी को फिर उस महिला के प्रति अपना

दृष्टिकोण परिवर्तन करने को कहा गया। रोगी इस महिला को घृणा की दृष्टि से देखने लगा था जो कि अपने-आप में प्रेम के विकार के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। उसे वासवदत्ता के उपगुप्त के प्रति प्रेम की चर्चा सुनाई गई। उसे बताया गया कि रोगी व्यक्ति की सेवा करके हम अपने प्रेम को परिष्कृत कर सकते हैं और दूसरे व्यक्ति को भी ऊँचा उठा सकते हैं। हमसे प्रेम करनेवाले व्यक्ति के प्रति हमारा घृणा का भाव नहीं होना चाहिये, वरन् सेवा का भाव होना चाहिये। किसी भी व्यक्ति के प्रति घृणा का भाव होना अपने ही विचारों की मलिनता दर्शाता है। रोगी को आदेश दिया गया कि वह उस महिला को रोग से मुक्त होने के लिये कुछ प्रयत्न करे। उसके लिये डाक्टर-वैद्य आदि बुलाये और उस महिला को यह दर्शाये कि वह उसका कल्याण चाहता है। अन्त में उससे कह दिया गया कि जब वह महिला पूर्ण स्वस्थ हो जावेगी तो उसका मानसिक रोग भी नष्ट हो जावेगा। अतएव उसे रोगी को उस महिला के आरोग्य होने के लिये शुभकामना भेजनी चाहिये।

वास्तव में महिला के विचार ही उक्त रोगी को प्रभावित कर रहे थे। रोगी नहीं जानता था कि उसकी नैतिक बुद्धि उसे यह स्वीकार नहीं करने देती थी कि उसका हृदय उस महिला के प्रति आकर्षित हो गया है। उसके मस्तिष्क और हृदय में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण

उसकी सारी मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती थी और उसे थकावट का अनुभव होता था। यह अन्तर्द्वन्द्व कभी भी ज्ञात मन के स्तर पर नहीं आता था, अतएव रोगी उसे जानता भी नहीं था। अन्तर्द्वन्द्व का आरम्भ रूमाल की घटना के पहले से ही हो चुका था। रूमाल की घटना ने उसे एक विशेष रूप दे दिया और उसे भीषण बना दिया।

आत्म-स्वीकृति करने से इस प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व बहुत कुछ नष्ट हो जाते हैं। पर साथ ही साथ अपने दृष्टिकोण का परिवर्तन करना भी आवश्यक होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि अपने आचरण में भी परिवर्तन किया जाय। मानसिक भावों का रेचन, उनके प्रति अपने दृष्टिकोण के परिवर्तन और आत्म-स्वीकृति मात्र से हो जाता है। आचरण में अनैतिकता लाने से फिर नई मानसिक व्याधियाँ उपस्थित हो जाती है।

उक्त रोगी ने लेखक के आदेशानुसार अपना दृष्टिकोण बदला और आत्मरेचन की प्रक्रिया को करना आरम्भ कर दिया। इसके परिणामस्वरूप उसके स्वास्थ्य में चमत्कारिक परिवर्तन हो गया। उसकी थकावट और मनहूसियत जाती रहीं और उसके चेहरे पर प्रसन्नता आ गई।

यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि किसी भी मानसिक रोग का निवारण एकाएक नहीं होता। स्थायी लाभ धीरे-धीरे होता है।

समाप्त

परिशिष्ट

लेखक के दो एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के प्रयोग जो बड़े महत्व के हैं और जिनका फल पुस्तक के छपते छपते ज्ञात हुआ है, पाठकों के जानने योग्य हैं। पहला प्रयोग आत्मनिर्देश विधि की मानसिक चिकित्सा में महत्ता दर्शाता है। रोगी को अकारण भय, हृदय की धड़कन, चिन्ता और स्मृति-विभ्रम की बीमारी थी। रोगी एक प्रतिभावान १७ साल का किशोर बालक है। यह एक कालेज की एफ० एस सी० क्लास में पढ़ रहा है। उसके रोग का पूर्ण विवरण उसके नीचे दिये पत्रों से प्राप्त होता है।

पहला पत्र

श्रीमान्,

आप एक मनोवैज्ञानिक हैं। इसलिये मैं आपके पास यह पत्र लिख रहा हूँ, इस आशा में कि आप अवश्य ही मुझे अपनी सम्मति भेजेंगे और लिखेंगे कि मुझे क्या करना चाहिये।

इधर चार पाँच महिने से मैं मानसिक बीमारी से पीड़ित हूँ। मुझको चारों तरफ निराशा ही निराशा दिखाई देती है। अपना जीवन बहुत ज्यादा निराशामय दीखता है। मैं अपने से और अपने कार्यों से संतुष्ट नहीं रहता। लेकिन इधर दो तीन महीने से तो मेरी बहुत ही विचित्र हालत हो गई है। अकारण ही मुझे भय लगा रहता है। किसी वस्तु का

दरअसल भय भी लगता हो तो लिखूँ, लेकिन मुझे अज्ञात सा भय लगा रहता है। मैं जानता हूँ कि यह डर बेकार है, लेकिन फिर भी मैं कुछ काम नहीं कर पाता हूँ।

यह नहीं कि अज्ञात भय सा ही रहता हो लेकिन उसके साथ-साथ दिल भी धड़कता है, और कभी-कभी तो बड़े जोरों से। दिन में तो यह थोड़ा बहुत रहता ही है लेकिन रात के समय यह बढ़ जाता है। उस समय मेरी परेशानी बहुत बढ़ जाती है। कभी मुझे अपने पर दुःख होता है तो कभी मैं अपने को कोसने लगता हूँ। इससे कभी-कभी तो मैं अपने जीवन से निराश हो जाता हूँ और इच्छा होती है······ ।

जहाँ तक मैं इन सब बातों के कारण का पता लगाता हूँ, खोज करता हूँ, तो मुझे मन में एक मानसिक ग्रन्थि पड़ने का विश्वास होता है, जो कि मुझे नीचे लिखी घटना से सम्बन्धित मालूम पड़ती है:—

जून में मेरे बड़े भाई की शादी हुई थी। (हम सब रहनेवाले तो ·········के हैं लेकिन भाई·········में रहते हैं)। हमारे तीन तेल के कारखाने हैं—एक·········में है। एक कारखाने की देखरेख हमारे यहीं भाई साहब करते हैं। अकेले होने की वजह से भाई साहब का मन यहाँ नहीं लगता था, इसलिये भाई साहब ने मुझे हाईस्कूल पास करने के बाद अपने पास बुला लिया था और मैं यहाँ के कॉलेज में फर्स्ट इयर में पढ़ता हूँ।

हाँ, तो शादी के बाद अगस्त महीने के करीब भाई साहब ने एक दावत अपने दोस्तों को दी। गरमी के दिन थे, इसलिये ठंडाई भी घिस गई थी। कुछ दोस्त नहीं माने और उन्होंने थोड़ी सी भंग भी डाल दी।

हमारे घर में कोई भी किसी प्रकार का नशा नहीं करता और नशे को बहुत बुरा मानते हैं। सबों ने जबरदस्ती मुझको और भाई साहब को थोड़ी थोड़ी ठंडाई पिला दी। ठंडाई बहुत थोड़ी थी या और कुछ बात हो उस दिन तो कुछ भी नहीं हुआ।

हफ्ते भर बाद हमारे यहाँ ताशों की बाजी लगी और सबों ने ताश खेले। गरमी का समय था ही, सबों को प्यास बहुत लग रही थी। इसलिये सबों ने कहा कि अगर ठंडाई वगैरह हो तो बहुत अच्छा है। लेकिन हमारे यहाँ तो इसका कोई शौकीन न था जो ठंडाई का सामान होता। एक दोस्त ने अपने यहाँ खबर भिजवा कर, ठंडाई पिसवाकर मँगवा ली। सबों ने थोड़ी-थोड़ी पी ली। मुझको कहा तो मैंने कहा कि मैं पीऊँगा नहीं—इसमें भंग होगी, मैं नहीं पीऊँगा। सबों ने कहा भंग बहुत मामूली सी है, इससे कोई हर्ज न होगा। यदि अधिक होती तो हम तुमको पीने के लिये बाध्य न करते। मुझसे फिर मना न किया गया और इच्छा न रहते हुए भी मैं पी गया।

पीने के बाद मुझे अनुभव हुआ कि मैंने बहुत ठण्डाई पी ली, इतनी मुझे पीना नहीं चाहिये था, और जब यह ख्याल आया कि मैंने भंग की ठंडाई ज्यादा पी ली है तो मेरे मन में यह ख्याल हो गया कि इसका असर मेरे ऊपर और मेरे दिमाग के ऊपर ठीक नहीं पड़ेगा, क्योंकि मैं यह बचपन से ही सुनता और पढ़ता आ रहा था कि नशा करने से आदमी के दिमाग पर बहुत बुरा असर पड़ता है और कभी-कभी आदमी पागल भी हो जाता है।

उस समय शाम के करीब छः साढ़े छः बजे थे। उसके घंटे भर बाद

मैंने थोड़ा सा खाना खाया । इसके बाद मुझे नींद आने लगी, मैं सो गया । भाई साहब भी खाना खाने के बाद कोठी से मिल चले गये (कोठी और मिल एक ही कम्पाउन्ड में है लेकिन फासला करीब एक फर्लांग का है) । हमारा नौकर भी जो खाना वगैरह बनाता था खा पीकर चला गया । कोठी में मैं सिर्फ रह गया । हमारी कोठी ऐसी कोई खास बड़ी भी नहीं है । इसमें कोई चार पाँच कमरे हैं ।

जब मैं सो रहा था तो मेरी आँख में कुछ पड़ गया । मैं उसे लेटे-लेटे निकालने की कोशिश करने लगा । उसके बाद मैं नहीं कह सकता कि थोड़ी देर तक जो मैंने देखा और अनुभव किया वह स्वप्न था, तन्द्रा थी अथवा बिलकुल प्रत्यक्ष था । मैंने देखा, अनुभव किया कि मैं अपने आँख में गिरी चीज को निकालने की कोशिश कर रहा हूँ । लेकिन जब मैंने बहुत कोशिश कर ली और लेटे-लेटे वह नहीं निकला तो मैं खाट पर बैठ गया और बैठकर निकालने की कोशिश करने लगा । लेकिन जब बैठकर भी वह नहीं निकला तो मैं लेट गया और लेटकर निकालने लगा । लेकिन तब भी वह नहीं निकला तो मुझे झुंझलाहट हुई । जब मैं लेटता तो यह सोचता कि वह बैठकर निकल जायगा और जब बैठता तो सोचता कि वह लेटकर निकल जायगा । इस तरह कुछ देर उठने बैठने में मैं यह भूल गया कि मेरी आँख में कुछ जा पड़ा है । पता नहीं मुझे क्या झक सवार हुई कि मैं बिना सोचे समझे उठने बैठने लगा । कभी लेट जाता और कभी बैठ जाता । पता नहीं इसी तरह मैं कितनी देर तक उठता बैठता रहा । कुछ देर बाद मुझे कुछ ख्याल आया कि मैं क्या कर रहा हूँ, ऐसे तो पागल करते हैं । बस फिर मेरे मन में बहुत प्रबल भावना उठी

कि मैं कहीं पागल तो नहीं हो गया हूँ। मेरा दिमाग खराब हो गया है।

फिर मुझे ऐसा पता लगा कहीं कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ। फिर मैंने अपने चारों तरफ देखा, तो अन्धकार ही अन्धकार पाया। इससे मुझे अजीब सा डर लगने लगा। पता नहीं इतने में ही मुझे कहीं से हिम्मत आई या क्या सूझा, मैंने जोर से अपने आपको नोच खाया। तब मुझे कुछ तकलीफ सी महसूस हुई। मुझे यकीन हो गया कि मेरा इन्द्रिय ज्ञान ठीक है। लेकिन यह गड़बड़ किधर है। इतने में मुझे हिम्मत आई और मैं जल्दी से बिजली जलाने के लिये स्विच की ओर दौड़ा। अन्धेरा तो था ही और जल्दी करने से मुझे एक आध चीज की ठोकर लगी तो मैं घबड़ा गया। वैसे कुछ पहले से ही घबड़ाया हुआ था ही। मैं जल्दी से कोशिश करने लगा कि जैसे भी हो किसी तरह बत्ती जला लूँ। लेकिन जल्दी में बत्ती की स्विच पर मेरा हाथ नहीं पड़ा। एक दो स्विच मैंने दबाये लेकिन उनसे बत्ती नहीं जली क्योंकि एक ही लेम्प में बल्ब था, जिस पर मेरा हाथ नहीं पड़ता था। इतने में मेरा हाथ एक स्विच पर पड़ा और घरघर की आवाज आने लगी (जो बिजली के पंखे की आवाज थी)। इस आवाज से मैं एक दम बहुत जोर से डर गया क्योंकि उस समय घब-ड़ाहट में मुझे ख्याल न रहा कि यह पंखे की आवाज है। मैं दरवाजे की तरफ भागा। कमरे से निकलने के लिये चिक उठाकर मैं दरवाजे के बाहर गया तो वहाँ अँधेरा ही पाया, क्योंकि वहाँ का बल्ब खराब होने के कारण वहाँ भी अँधेरा था। अब तो मेरी समझ में न आया कि मैं क्या करूँ।

मैं बहुत ही जोर से दो तीन दफ़ा चीखा। चीखना था कि भाई साहब और नौकर चाकर दौड़ आये। मुझे खाट पर लिटाकर हवा की।

सिर पर बरफ का कपड़ा रखा। नीबू का अचार वगैरह खिलाया। लेकिन मेरे अन्दर इतनी ज्यादा घबड़ाहट हो गई थी कि मैं दो ढाई घंटे तक घबराता रहा। बार-बार मुझे जोर से प्यास लगती थी। मैं पानी पीता पर प्यास नहीं जाती थी। बार-बार मुझे पिशाव करने जाना पड़ा। दूसरे दिन सुबह जब मैं उठा तो मेरी तबियत काफी अच्छी थी, लेकिन रात को जो तरह-तरह के विचार मन में आये थे और जो उनके बाद अनुभव हुआ था उनके संस्कार मेरे दिमाग पर गहरे पड़े थे। मैं उनको अभी तक नहीं भूल सका। सारे विचार और घटनायें ज्यों के त्यों अब तक मन में विद्यमान हैं। यही मेरे जीवन को हद से ज्यादा दुःखी और निराशाजनक बनाये हुए हैं। यही नहीं, ये विचार और अनुभव अनुकूल वातावरण से और भी बढ़ गए हैं और अब तो और तरह के विचार मन को आकर परेशान करते हैं कि मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ—इत्यादि-इत्यादि—

मैं आपको इसलिये और इस आशा से पत्र लिख रहा हूँ कि आप मेरी ऐसी दर्दनाक अवस्था में मुझ पर दया करके अवश्य ही लिखेंगे कि मुझको क्या करना चाहिये, मैं इन सब विचारों से छुटकारा कैसे पा सकता हूँ; और हर समय जो मुझे एक तरह का डर लगा रहता है और जिसकी वजह से न दिन में चैन मिलता है और न रात में। मैं कोई भी काम नहीं कर पाता। मेरा दिमाग पहले से बहुत ही कमजोर होता जा रहा है और इधर एक दो महीने से मुझमें बुद्धि भी नहीं रही है। हर दम किसी अज्ञात भय से दिल धड़कता और दम घुटा-सा रहता है। अगर इसी तरह मेरा कुछ दिन और हाल रहा तो मेरा दिमाग खराब हो जावेगा। ये सब बातें इतनी अजीब-सी हैं कि इनको कह कर भाई साहब को

परेशान नहीं होने देना चाहता। यह सब बात तो है ही, लेकिन कोई अज्ञात-सी शक्ति उन लोगों से यह सब कहने से रोका करती है। इसलिये मैं यह सब उन लोगों से नहीं कह पाता, और अब तो मुझे आपका ही भरोसा है।

अब मैं आपको थोड़ी-सी और बातें अपने बारे में लिखता हूँ जो शायद आपको मदद देंगी, यह मालूम करने में कि मेरी मानसिक ग्रन्थि किस तरह सुलझ सकती है। मेरी उमर कोई १७ साल की है और मेरी तन्दुरुस्ती बचपन से ही कुछ कमजोर है। मैं कुछ कच्चे दिल का हूँ और कुछ वहमी भी हूँ। बचपन में मैं कुछ डरपोक था। यहाँ तक कि मैं ग्यारह बारह साल की उमर तक अकेला नहीं सोया हूँ। रात को किसी न किसी के पास बराबर सोया हूँ। पानी से भी मुझे डर लगता है। मैं मनोविज्ञान में कुछ रुचि रखता हूँ। और जब मैंने आपकी किताब सरल मनोविज्ञान पढ़ी तो मन में दृढ़ निश्चय हो गया कि आप जरूर कोई ऐसी तरकीब बता देंगे जिससे यह मानसिक ग्रन्थि सुलझ जायगी।

आखिर मैं धन्यवाद देकर यह पत्र समाप्त करता हूँ। मुझे आशा है कि आप पत्र का उत्तर देकर और इसका कोई उपाय बताकर मुझे आभारी करेंगे। मैं आपको आजन्म नहीं भूलूँगा।

आपका सच्चा आभारी।

× × ×

ऊपर उद्धृत किया गया पत्र लंबा है पर इससे रोगी की मानसिक स्थिति पूरी तरह से परिचित होती है। पत्र की निम्नलिखित विशेषतायें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) पत्र एक किशोर बालक का है।

(२) पत्र से पता चलता है कि यह बालक प्रतिभावान है। उसने अपने भावों को क्रम-बद्ध प्रगट किया है।

(३) बालक घर का छोटा लड़का है और लाड़ला है।

(४) इसका स्वास्थ्य पहले से ही अच्छा न था। उसे शारीरिक कमजोरी थी।

(५) इसमें डर की भावना पहले से ही थी।

(६) बालक आत्म-निरीक्षण की योग्यता रखता है और आत्म-सुधार चाहता है।

(७) बीमारी प्रारंभ होने की घटना नैतिक महत्व रखती है—अपनी नैतिक भावना के प्रतिकूल बालक ने भांग पी थी।

(८) बालक अपने मन की बात दूसरों से कहने में झिझकता है। वह विशेष कर अपने भाई से अपने विचार नहीं कह सकता। उसे अज्ञात शक्ति रोकती है।

(९) पत्र को भली प्रकार देखने से पता चलता है कि बालक कुछ बातें लेखक से भी स्पष्ट करने में हिचकता है। साधारणतः वह गुप्त बात को बताना नहीं चाहता। जिन स्थलों पर पत्र में भूल हो गई है उन्हें इस प्रकार काटा गया है जिससे भूल से लिखी गई बातों को कोई जान न ले।

(१०) बालक को पानी से भय रहता था।

(११) बालक शिष्ट और धनी घर का है।

(१२) उसे विश्वास है कि लेखक की चिकित्सा से वह अच्छा हो सकता है।

पत्र की उपर्युक्त बातों से लेखक बालक के रोग के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचा—

(१) बालक की बीमारी का मूल कारण काम-प्रवृत्ति-सम्बन्धी कोई कुचेष्टा है। इसे वह स्वीकार नहीं करना चाहता और इसे वह दूसरों से छुपाना चाहता है। यह कुचेष्टा मानसिक ग्रन्थि के रूप में बालक के मन में स्थित है। उसकी मानसिक शक्ति मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के कारण व्यर्थ खर्च हो गई है। इसके कारण वह एक विशेष घटना का सामना न कर सका।

(२) बालक का भाँग पीना अपनी नैतिक इच्छा के प्रतिकूल था। यह कोई विशेष पाप नहीं है। पर यह किसी दूसरे कृत्य का प्रतीक मात्र है। बालक को घर में आत्मसंयम की कठोर नैतिक शिक्षा मिली है। अतएव उसमें आत्म-भर्त्सना की प्रबल भावना है।

(३) पत्र लिखते समय बालक का आत्म-विश्वास बढ़ गया है और थोड़ा-सा प्रोत्साहन मिलने पर वह आरोग्य हो सकता है। उसकी मानसिक भावनाओं का पत्र के द्वारा कुछ रेचन भी हुआ है। पत्र के मिलने पर उसे कार्ड डालकर बुलाया फिर उसे दूसरे पत्र में निम्नलिखित आदेश भेजा गया—

(१) तुम्हारा इलाज शुरू हो गया है। अपनी फोटो भेजो।

(२) सूर्योदय के पहले उठना और सूर्य का दर्शन १५ मिनट तक करना।

(३) स्नान के बाद सूर्य का ध्यान १५ मि० तक करना।

(४) सवेरे घूमने जाना।

(५) बच्चों को थोड़ा सूर्य के ध्यान के बाद प्रसाद बाँटना।

(६) सोते समय मैत्री भावना का अभ्यास करना।

(७) अच्छे हो जाने पर अकेले आना और मिलना।

इसके इलाज के लिये आध्यात्मिक और निर्देशविधि का प्रयोग किया है। इस बालक के विषय में सबेरे उठकर ध्यान किया जाता था और उसकी शुभ कामना की जाती थी। लेखक को इस बालक से इतना आत्मसात् हो गया कि उसका अच्छा हो जाना अपने-आपका आरोग्य होना जैसा ज्ञात होने लगा। इसकी बीमारी के विषय में कई दिनों तक कई प्रकार से विचार किया गया और पूर्ण निश्चय किया गया कि वह अवश्य चंगा हो जावेगा। इस प्रकार के विचारों का असर उसपर अवश्य पड़ा। पहले तो पत्र लिखने से ही उसके रोग में कमी हो गई। दूसरे सद्भावना का प्रभाव उसके मन पर पड़ा। किसी प्रकार के निर्देश मिलने के पूर्व उसका निम्नलिखित दूसरा पत्र इस प्रकार आया—

"श्रीमान्,

आपका कृपा कार्ड मिला। इसके लिये हार्दिक धन्यवाद। इधर मेरे अन्दर थोड़ा-सा परिवर्तन हो गया है। पहले-सा हाल नहीं रहा लेकिन कभी-कभी वैसा ही हो जाता है।

मैं आपके पास तो न आ सकूँगा। क्योंकि इधर मेरी परीक्षा बहुत करीब आ गई है। इसलिये ऐसी हालत में मैं यह ठीक नहीं समझता कि कहीं बाहर जाना मेरे लिये ठीक होगा। क्योंकि पूरे साल की मेरी पढ़ाई

बहुत कम हो पाई है। इसलिये यह ज्यादा मुनासिब होगा कि कृपया आप कुछ ऐसी तरकीब अभी लिखें जिससे कि विचारशक्ति काबू में रहे। अगर हो सका तो मैं आपके पास आने की कोशिश गर्मी की छुट्टी में करूँगा।"

उपर्युक्त पत्र से स्पष्ट है कि बिना किसी प्रकार के अभ्यास के ही रोगी के स्वास्थ्य में पर्याप्त सुधार हो गया। रोगी ने फिर ऊपर कहा गया अभ्यास किया, उसका अन्तिम पत्र इस प्रकार है जो २-३-४७ को मिला।

श्रीमान्,

आपका कार्ड व पत्र मिला। इसके लिये बहुत धन्यवाद!

अब करीब-करीब मेरी मानसिक बीमारी बिलकुल ही अच्छी है। आपने जो अभ्यास अपने पोस्ट कार्ड में बताया है, जहाँ तक हो सकता है, उसे अमल में लाने की कोशिश करता हूँ। लेकिन यहाँ पर कोई बच्चा नहीं है और न हमारे घर के पास में ही है। सूर्य के ध्यान के बाद मैं मिठाई नहीं बाटने पाता हूँ। अगर इसके बदले कोई दूसरा काम आप बता सकें तो अच्छा हो।

दूसरा अभ्यास जो आपने अपने पत्र में लिखा है उसे भी मैं एक डेढ़ साल से पहले भी करता था। लेकिन इस ढब से नहीं। रात को सोते समय मैं सोचा करता था कि आज दिन मैंने क्या कोई ऐसा काम आवेश में आकर तो नहीं किया जिससे किसी को दुःख हो सकता है। यदि किया हो तो मैं उसके लिये प्रायश्चित्त किया करता था। लेकिन मुझको याद नहीं कि यह अभ्यास कब छूट गया। जब आपने लिखा तो मुझे याद आया कि मैं इसे तो पहले व्यवहार में ला चुका हूँ।

मनुष्यत्व की भलाई करने के लिये मैं हमेशा तत्पर रहता हूँ और रहना भी चाहता हूँ। मुझे दूसरों की भलाई करना अच्छा भी लगता है। आगे चलकर मानवता के नाते कुछ करना भी चाहता हूँ और जो कुछ करना चाहता हूँ वह मेरे मन में है। क्या मैंने आपको इसके विषय में कुछ लिखा है? मुझे तो ऐसा कुछ याद नहीं पड़ता। अगर कुछ लिखा भी हो तो उसके लिये मुझे पश्चात्ताप नहीं है। बल्कि एक तरह से प्रसन्नता ही है। परन्तु मैं उसे जानना चाहता हूँ, और अपने दिमाग में सुरक्षित रखना चाहता हूँ जिससे आगे चलकर इससे मुझे कुछ प्रेरणा मिले।

मैं अपने अन्दर एक कमजोरी पाता हूँ वह यह कि मैं अपने विचारों को ठीक तरह से कार्य रूप में परिणत नहीं कर पाता। इस प्रकार मेरे विचार एक तरह से हवाई किले हो जाते हैं। तो क्या आप इनके कार्यरूप में परिणत करने के कोई उपाय बता सकते हैं। जिससे मेरा कोई विचार खाली न जाय और मुझको एक तरह की आदत सी पड़ जाय कि जो मैं सोचूँ उसे कार्यरूप में परिणत करने का आदी हो जाऊँ और इस प्रकार कर्मण्य विचार ही मेरे अन्दर आयें।

आपने अपने कार्ड में मेरे फोटो के लिये लिखा था। सो मेरे पास और जहाँ तक मैं सोचता हूँ किसी के पास, मेरा किसी प्रकार का फ़ोटो नहीं है और न अपनी फोटो खिचवाने का मैं शौकीन हूँ। जहाँ तक होता है मैं इन सबसे बचने की कोशिश करता हूँ। अगर आपको जरूरत हो तो लिखें, किसी प्रकार खिंचवाकर भिजवा दूँ।

आपका आभारी

× × ×

इसके पत्रोत्तर में उस व्यक्ति से मैत्री भावना के अभ्यास की मौलिकता दिखाई। नकारात्मक विचारों को मन में लाने से रोका गया और गरीब लड़कों को पढ़ाने तथा दीन दुखियों की सहायता के लिये काम करने का आदेश दिया गया। इससे मानसिक शक्ति आती है और मानसिक ग्रन्थियाँ अपने आप ही नष्ट हो जाती है। वास्तव में उक्त रोगी के विचार रचनात्मक हो गये हैं और वह अवश्य ही न केवल सम्पूर्ण आरोग्य होगा, वरन् दूसरों को आरोग्य होने में तथा ऊँचा उठाने में सहायता देगा।

मानसिक रोगी के साथ पत्र व्यवहार करने से रोगी को स्वास्थ लाभ करने में बड़ी सहायता मिलती है। मानसिक रोगी मन ही मन कुढ़ता है। उसे जितना ही अधिक अपने आन्तरिक भावों को प्रकाशित करने का अवसर मिले उतना ही अच्छा है। इससे उसके दलित भावों का रेचन हो जाता है और उसे आत्म-विश्वास उत्पन्न हो जाता है। मानसिक रोगी का श्रद्धा के साथ मनोवैज्ञानिक को पत्र लिखना ही रोग की चिकित्सा है। अब मनोवैज्ञानिक यदि उन पत्रों का सहानुभूतिपूर्वक जबाब दे तो फिर और कितना भला हो।

रोगी के प्रति सच्ची सद्भावना भेजने से रोगी को आध्यात्मिक लाभ होता है। यह सद्भावना पत्र के द्वारा भेजी जा सकती है, पर इससे अधिक महत्व का कार्य प्रतिदिन रोगी के कल्याण के विषय में सोचना है। इस प्रकार की सद्भावना अज्ञात रूप से रोगी की सहायता करती है और बहुत से रोगियों के रोग बिना

किसी प्रकार की चिकित्सा के अच्छे हो जाते हैं। फोटो की सहायता से रोगी को और भी लाभ पहुँचाया जा सकता है।

रोग की चिकित्सा सद्भावना के अतिरिक्त आत्मनिर्देश से भी होती है। पर इससे रोगी की इच्छाशक्ति कमजोर हो जाती है। इसे बलवान बनाने के लिये कुछ बाह्य क्रियायें करवानी आवश्यक होती हैं। मैत्री भावना का अभ्यास, सोते समय के शुभ विचार तथा परोपकार के काम, मनुष्य की इच्छा शक्ति को बलवान बनाते हैं। जब इच्छा शक्ति बलवती हो जाती है तो असद्भावनायें मन में नहीं उठतीं, और उठती हैं तो उन्हें मन से बाहर निकालने में मनुष्य समर्थ होता है।

स्वयं रोगी से पत्र व्यवहार करना अच्छा है। जब दूसरे लोग रोगी के विषय में लिखते हैं तो रोगी को उतना अधिक लाभ नहीं होता। जैसे-जैसे रोगी को लाभ होता है उसका आत्मविश्वास बढ़ता जाता है और वह और भी खुलकर अपने विषय में चिकित्सक को बता सकता है। इस प्रकार उसके भावों का एक ओर रेचन होता है और दूसरी ओर उसका आत्मनिर्देश उसे स्वास्थ्य लाभ करने में सहायता देता है।

निर्देशविधि के द्वारा की गई चिकित्सा को दोनों ओर से गुप्त रखना अत्यन्त आवश्यक है। कितने ही बार मानसिक रोगी को निर्देशविधि से चमत्कारिक लाभ होते हैं। पर जब अपनी करामात को चिकित्सक जाहिर करने लगता है तो वह अपनी चिकित्सा कर सकने की शक्ति को

ही प्रायः खो देता है। निर्देशविधि में चिकित्सक को अपनी चिकित्सा कर सकने की योग्यता में सन्देह उत्पन्न हो जाना अत्यन्त हानिकारक होता है। इसी प्रकार रोगी के मन में किसी प्रकार चिकित्सक के विषय में सन्देह हो जाना रोगी के लिये हानिकारक होता है। इस कारण रोगी को अपने अति-समीप रखना भी उसके कल्याण की दृष्टि से उपयोगी नहीं है। उपर्युक्त बालक के स्वास्थ्य में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। उसके दो महिने पूर्व के पत्र में निम्नलिखित वृत्तांत था—

"मेरा मानसिक स्वास्थ्य पहले से बहुत अच्छा भी है और खराब भी—जब मैं आपको पत्र लिखने बैठता हूँ उस समय मेरे विचार बहुत शान्त रहते हैं। मैं उस समय अपने को अच्छा अनुभव करता हूँ। कभी तो मैं बहुत प्रसन्न, उत्साहित हो जाता हूँ और अपने अन्दर मानसिक बीमारी नहीं देखता और मुझे अपना भाग्य बहुत ही उज्वल और अच्छा दीखता है, और कभी-कभी मुझे बहुत ही दुःख होता है या क्रोध आता है और मैं भयभीत हो जाता हूँ। पागल होने का विचार भी मुझे जरूरत से ज्यादा तंग करता है। इससे मैं बहुत परेशान सा हूँ। कभी-कभी तो मैं जरा सी आवाज या खटके से चौंक जाता हूँ। रेल की सीटी से तो मैं अकसर बहुत ही ज्यादा चौंक जाता हूँ, क्योंकि यह एकाएक और बहुत जोर से बजती है। कभी-कभी गिरते-गिरते बचता हूँ। इन सब बातों के अलावा जो एक खास बात है वह यह है कि मुझमें आत्म-विश्वास नहीं। मेरा मन कुछ ऐसा हो गया है कि मैं किसी नई परिस्थिति में रहूँ या जाऊँ तो फिर तत्क्षण उलटे सीधे विचार आने लगते हैं। मैं

सोचने लगता हूँ कि कहाँ की बला में आकर फँसा। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि जहाँ पर भी जिस दशा में मैं हूँ, वहीं पर रहना चाहता हूँ, क्योंकि वातावरण के जरा से बदलने से मेरे विचारों में खलबली मच जाती है।

उपर लिखी हुई बातों का परिणाम यह है कि मुझे सफर करना अच्छा नहीं लगता। खासकर रेल में, न जाने क्यों। उस पर मुझे उल्टे सीधे विचार आते हैं और उसपर से नीचे गिरने के विचार भी आते हैं। इससे मुझे कभी तो डर लगता है कि मैं नीचे सचमुच ही न कूद पड़ूँ। इन सब बातों से मुझे अकेले सफर करना बहुत खराब लगता है। कभी कभी इन सब अपनी हालतों को देख कर खीझ उठता हूँ और चाहता हूँ कि किसी भी प्रकार जैसे हो इनका अन्त हो जाय।

आप सोचेंगे कि मैं अपनी मानसिक हालत से संतुष्ट नहीं हूँ। बेशक यह बात बिल्कुल ठीक है, अथवा हो सकती है कुछ हद तक। लेकिन एक तरह से मैं अपनी हालत से खुश भी हूँ। मैं सोचता हूँ और मेरा अनुभव है कि दुःख के बाद सुख आता है। जिसको दुःख जितना ही ज्यादा हो उसमें सुख भोगने की शक्ति भी उसी प्रकार ज्यादा रहेगी। आनन्द एक ऐसा दुर्गम स्थान है जहाँ पर पहुँचने के लिये दुःख-रूपी रास्ता तय करना पड़ता है।

जब मैं ये सब बातें सोचता हूँ तो खूब रोता हूँ।"

रोगी के पत्र से स्पष्ट है कि उसकी मानसिक ग्रन्थि उसे अभी भी तंग कर रही है।